४. माधव विनोद नाटक[1] (१७५२ ई०)
५. दशम स्कंध भाषा
६. ध्रुव विनोद
७. राम कलाधर
८. वाल्मीकि रामायण
९. अध्यात्म्य रामायण
१०. अयोध्या कांड
११. सुंदर कांड[2]

सोमनाथ ने गोपाल की तरह कोई भूमिका नहीं बाँधी है। ध्रुव के वंश-परिचय से कथा आरम्भ हुई है। विविध छंदों में कथा कही गयी है जो अध्यायों में विभाजित नहीं है। आदि में स्तुति और अंत में फलश्रुति है।

(६) ध्रुवलीला (सुंदरदास)—इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में उपलब्ध हुई है।[3] इसकी रचना १८४४ई० में हुई।[4] इन्होंने अपना परिचय स्वयं दिया है।[5] जीविका से ये वैद्य और जाति से विप्र थे। ये करहला ग्राम के निवासी थे जो मथुरा से सात कोस पर छातई परगना और सोहार थाना में अवस्थित था।

इनकी एक अन्य पुस्तक 'उषा लीला' है जिसका यथास्थान विवेचन किया गया है।

'ध्रुव लीला' में विविध छंदों में ध्रुव की प्रचलित कथा कही गयी है। कथा अध्यायों में विभाजित नहीं है किंतु बीच-बीच में वर्णन-संकेत दिये गये हैं। आदि में वंदना और अंत में फल-वर्णन है।

भरथरी-सम्बंधी खंडकाव्य

भरथरी चरित्र (गोपाल)—इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है जिसका लिपिकाल १८३७ ई० है, रचनाकाल इसमें नहीं दिया हुआ है।[6] राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान[7], जोधपुर में भी सत्रहवीं शती ईस्वी की एक

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, पृ० २८४
२. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ६४८
३. खोज विवरण, सभा, १९२९-३१, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ३१८ ए
४. संवत उनइस सै अरु एक। महीना भादौं कृष्ण विवेक॥
तिथि है तीज कहौं मैं गाई। सुंदर ध्रुवलीला रचि पाई॥
—खोज विवरण, सभा, १९२९-३१, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ३१८ ए
५. सुंदर वैद्य विप्र तन पाई। ग्राम करहला वास सुहाई॥
+ + +
मथुरा से सात कोस छातई। परगना थाना सोहार कहई॥
—वही
६. पुस्तक संख्या २६८२। १६११
७. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ सूची, भाग २, ग्रंथांक ४२०८ (४)

हस्तलिखित प्रति संग्रहीत है। रचनाकाल इसमें भी नहीं दिया हुआ है। गोपाल का रचना-काल १६०० ई० के आसपास है, यह पहले दिखाया जा चुका है।

सभा की प्रति में ११४ छंद हैं और राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान वाली प्रति में १०५ छंद। दोहा और चौपाई छंदों का प्रयोग किया गया है। कथा सर्गीकृत नहीं है। आदि में स्तुति और अंत में ईश-महिमा-वर्णन है। कथा इस तरह है: राजा ऋषभदेव का मन जब संसार से ऊब गया तो वे अपने पुत्र को राज्य देकर वन की ओर चल दिये। वन में चलते हुए उन्होंने एक सिंह—शिशु को प्यास से मरते देखा। सिंहनी पानी की खोज में तीन दिनों से भटकती रही और जब पानी नहीं मिला तो उसे पाने के प्रयास में मर गयी। राजा को सिंहशावक को बचाने की चिंता हो गयी। उन्होंने उसे उठा लिया और वहाँ ले गये जहाँ बकरियों का झुंड चर रहा था। दूध पान कराकर ऋषभदेव ने उसे बचाया। उस दिन से वह सिंह उनके साथ रहने लगा। खाते-पीते, सोते-जागते, दोनों साथ रहने लगे। एक दिन सिंह अचानक लुप्त हो गया। राजा उसे न पाकर विकल हो गये। किंतु शीघ्र ही उन्हें मालूम हो गया कि वह साधारण सिंह नहीं बल्कि जड़भरथ था जो अपनी पूर्व योनि में ब्राह्मण था। उन्हें उसके सिंह-योनि में आने का कारण भी ज्ञात हुआ और तब उनका मोह छूट गया।

नरसी मेहता-सम्बंधी खंडकाव्य

इस प्रसंग में मीरा के नाम पर प्रचलित 'नरसी मेहता माहेरो' उल्लेख्य है। पुस्तक में स्थान-स्थान पर 'मीरा दास' शब्द आया है जिसके आधार पर यह पुस्तक मीरा-कृत मानी जाती है।[1] इसके अतिरिक्त अन्य कोई भी ऐसा आधार नहीं मिलता जिससे यह पुस्तक मीरा-रचित मानी जाय। यही कारण है कि अनेक विद्वानों ने स्पष्टतः कहा है कि यह मीरा की रचना नहीं है।[2] साधारण से साधारण व्यक्ति की भी भाषा पर उसकी छाप लगी होती है। किसी भी दो व्यक्ति की भाषा की तुलना कर देखने पर उसमें एक सूक्ष्म किंतु प्रत्यक्ष अंतर विद्यमान मिलता है। और, सधे रचनाकारों की तो कोई बात ही नहीं है! मीरा के प्रामाणिक पदों की भाषा और 'नरसी मेहता माहेरो' की भाषा देखते ही मालूम हो जाता है कि दोनों में दूर का भी सम्बंध नहीं है। विद्वानों ने यह अनुमान भिड़ाया है कि मीरा के बालपन की रचना होने के कारण इसकी भाषा पदावली की भाषा के समान उत्कृष्ट नहीं है। किसी रचनाकार की रचनाओं में भाषा का जो विकास-क्रम होता है उसमें एक तारतम्य तो रहता ही है, भाषोत्कर्ष की दृष्टि से अंतर होने पर भी एक रचनाकार

---

१. बचन विप्र आनंद उरधर कै गावत मीरा दास रे ॥१५॥
—नरसी मेहता माहेरो, तृतीय विश्राम

२. मीरा बाई के रचे पाँच ग्रंथ और कुछ फुटकर पद बताये जाते हैं। ग्रंथों के नाम ये हैं—गीत गोविंद की टीका, नरसी जी रो माहेरो, सत्यभामा जी न रुसणूं, राग सोरठ और राग गोविंद। ये सभी ग्रंथ हमारे देखने में आये हैं। इनमें एक भी मीराबाई का बनाया हुआ प्रतीत नहीं होता।
—राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल, मेनारिया, पृ० ११८

की दो रचनाओं में भाषा के कुछ ऐसे अव्याख्येय लक्षण विद्यमान रहते हैं जिनसे उनके रचयिता की अभिन्नता अक्षुण्ण रहती है। अतएव यह भी कोई तर्क नहीं है कि 'नरसी मेहता माहेरो' मीरा के बालपन की रचना है। दोनों का भाषागत अंतर दोनों के कर्त्ता की भिन्नता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। इसके अतिरिक्त 'माहेरो' में 'मीरादास' शब्द आया है। यह छाप मीरा की बहुत कम कविताओं में है और उन कविताओं की प्रामाणिकता भी संदिग्ध ही बनी हुई है। कहीं-कहीं पर 'दास' के बदले 'दासि' कर दिया गया है! प्रतिलिपिकार ने यही सोचकर ऐसा किया होगा कि इससे मात्रा-भंग भी नहीं हुआ और शुद्ध भी हो गया, किंतु सत्य तो यह है कि 'माहेरो' मीराबाई की नहीं, किसी इतर कवि की कृति है। अस्तु!

इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी में[1] और हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग[2] में सुरक्षित है। सभा वाली प्रति का लिपिकाल १८४० ई० है। सम्मेलन की प्रति में लिपिकाल नहीं दिया हुआ है।

इसमें सोरठा, दोहा और चौपाई छंदों का प्रयोग किया गया है तथा आठ विश्रामों में कथा को विभक्त किया गया है। प्रथम और द्वितीय में क्रमशः २४ तथा ५१ छंद हैं। इन दो विश्रामों में गुरु, गणपति, गोविंद, शारदा, आदि की वंदना की गयी है और नरसी, श्रीरंग, आदि का वृत्तांत दिया गया है। तृतीय विश्राम में ६८ छंद हैं और विप्र-गृह-गमन वर्णित है। चतुर्थ में २७ छंद और भोजन विधि का वर्णन, पंचम में ११ छंद और शयन सम्वाद, षष्ठ में ३० छंद और प्रभु-आगमन, सप्तम में ३५ छंद और मंडपोत्सव तथा अष्टम में ४४ छंद और प्रभु—गमन वर्णित है। इस तरह २९० छंदों में सम्पूर्ण कथा कही गयी है। भक्ति-सम्बंधी रचना होने पर भी पुस्तकात में परंपरागत पुस्तक का महात्म्य वर्णित नहीं है।

इसी नाम से रतनो खाती[3] एवं वसत की रचनाएँ उपलब्ध हुई हैं किंतु उनकी वस्तु और आकार-प्रकार इससे भिन्न है।

(२) वीरता मूलक खंडकाव्य

(क) पौराणिक

(१) **महाभारत चक्रव्यूह (सबलसिंह)**—इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना में सुरक्षित है। ग्रंथ में रचनाकाल और लिपि-काल नहीं दिया हुआ है। लिपि कैथी है। परिषद् के खोज विवरण में इस पुस्तक को बृहत् ग्रथ का खंड कहा गया है[4] जो ठीक नही है। पुस्तक के अंत में इसका महात्म्य वर्णित है, जिससे इसकी पूर्णता सिद्ध होती है। शिवसिंह सेंगर[5] और

१. पुस्तक संख्या १६०३।६३४
२. वेष्टन संख्या १४५५
३. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, तृतीय भाग, पृ० १७६
४. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण, तीसरा खंड, वि० रा० भा० परिषद्, पटना, ग्रंथ संख्या १३४ की टिप्पणी
५. शिवसिंह सरोज, प० ४५६

उनके अनुकरण पर ग्रियर्सन[1] ने सबलसिंह का जन्म १६७० ई० माना है। यह मत एकदम भ्रांत है; क्योंकि इन्होंने महाभारत के विविध पर्वों के अनुवाद भिन्न-भिन्न समय में किये हैं और अधिकांश का लेखन-काल भी दिया है जिसमें भीष्म पर्व का लेखन-काल १६६१ ई० है।[2] अतएव इनका जन्म १६६१ ई० के बहुत पूर्व ही हुआ होगा। इन्होंने रचनाओं में औरंगजेब तथा उसके एक दरबारी मित्रसेन का बार-बार उल्लेख किया है। औरंगजेब का शासनकाल १६५६ ई०—१७०७ ई० है, अतः यही समय सबलसिंह का रचनाकाल है। श्री रामनरेश त्रिपाठी ने इनका जन्म १६४३ ई० के आसपास और मृत्यु १७३५ ई० के लगभग माना है जो सत्य के समीप है।[3]

ये इटावा के निकट किसी गाँव के चौहान क्षत्रिय थे। इन्होंने महाभारत के अनेक पर्वों के भाषांतर के साथ निम्नांकित पुस्तकों की रचना की—

१. रूप विलास पिंगल
२. षट् ऋतु बरवै
३. भाषा ऋतुपसंहार
४. भागवत दशम (१६७० ई०)[4]

दोहे और चौपाइयों में अभिमन्यु द्वारा चक्रव्यूह-भेदन की कथा कही गयी है। कथा को सर्गों में विभक्त नहीं किया गया है। आदि में स्तुति नहीं है, अंत में फल वर्णन है, कथा इस तरह है; अर्द्धरात्रि में चक्रव्यूह का निर्माण हुआ जिसका मर्म कोई न जान पाया। उसके सात द्वारों पर जयद्रथ, कर्ण, कृपाचार्य, अश्वत्थामा आदि वीर रक्षक रूप में नियुक्त हुए। व्यूह को इस तरह दृढ़ कर दुर्योधन ने एक दूत धर्मराज के पास भेजा। दूत ने धर्मराज को व्यूह-निर्माण की सूचना दी और कहा कि अगर लड़ना हो तो उसके लिये तैयार हो जाइये और नही तो हार कर घर बैठ जाइये। दूत को विदा कर धर्मराज ने अपन पक्ष के वीरों को बुलाया और व्यूह-भेदन के विषय में परामर्श करने लगे। सभी वीरों ने कहा कि चक्रव्यूह तो न कभी आँख से देखा और न उसके विषय में कभी कान से सुना। इस पर सहदेव ने कहा कि चक्रव्यूह का भेद तो सिर्फ द्रोण, कृपाचार्य और अर्जुन ही जानते हैं, इसके अतिरिक्त चौथा कोई नहीं जानता है। धर्मराज यह सुनकर बहुत उदास हुए।

इसी समय सभा में अभिमन्यु पहुँचा और उसने हाथ जोड़कर उदासी का कारण पूछा। धर्मराज ने कहा कि गुरु द्रोण ने व्यूह की रचना की है। कृष्ण और पार्थ तो हैं नहीं, उसको तोड़े कौन। यह सुनकर अभिमन्यु ने कहा कि सोच करने की बात नहीं है, मैं तो व्यूह को तोड़ना जानता हूँ, लेकिन केवल छह द्वारों का तो तोड़ना मुझे मालूम है, सातवें का नहीं। धर्मराज को यह जान कर आश्चर्य हुआ। उन्होंने पूछा कि तुमने व्यूह-भेदन करना कब और कैसे सीखा। अभिमन्यु ने बताया कि

१. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन), अनु० किशोरीलाल गुप्त, पृ० १८०
२. खोज विवरण, सभा, १९२३-२५, प्रथम परिशिष्ट, संख्या ३६३
३. कविता कौमुदी, प्रथम भाग, रामनरेश त्रिपाठी, प० ४३३
४. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ४५१

प्रसव के समय पिता ने माता को प्रसव-कष्ट से बचाने के लिए यह कथा सुनायी थी और तभी मैंने इसे सीख लिया। अभिमन्यु ने अपने को व्यूह-भेदन में सर्वथा ही समर्थ बताया। भीम ने कहा कि छह द्वार तो अभिमन्यु तोड़ लेगा और सातवें का भार मैं लेता हूँ उसने कहा कि सातवाँ द्वार तो मैं एक पलमें तोड़ दूँगा और रुंड-मुंडसे युक्त भूमि पाट दूँगा। अन्य क्षत्रियों ने व्यूह-भेदन में अपनी असमर्थता दिखायी। इस पर अभिमन्यु ने कहा कि मैं आगे-आगे चलता हूँ, तुम लोग मेरे पीछे-पीछे आओ। ऐसा कहकर वह रथ पर चढ़ गया। सारथी उससे कहने लगा कि आप तो बालक हैं। आप किस तरह ऐसे भयंकर युद्ध में जायेंगे। अभिमन्यु ने उत्तर दिया कि तुम मुझे बालक मत जानो और उसने रथ हाँक दिया। भीम आदि योद्धा उसके पीछे-पीछे चल पड़े।

अभिमन्यु के द्वार पर पहुंचने पर जयद्रथ ने उसे रोका किंतु लड़कर वह अभिमन्यु को न रोक सका। वह भीतर चला गया। वह तो चला गया किंतु उसके बाद सेना रूपी समुद्र को जयद्रथ ने बाँध की तरह रोक लिया। भीम ने घुसने का प्रयत्न किया लेकिन जयद्रथ ने तीक्ष्ण बाणों से भीम के साथ-साथ सारी सेना को विकल कर दिया। जब धर्मराज मूर्च्छा से जागे तब सहदेव ने जयद्रथ के इस पराक्रम का रहस्य बताया। उसने कहा कि हम लोगों के वनवास-काल में जयद्रथ एक बार अर्जुन से हार गया था। तब उसने घोर तपस्या करके शंकर से यह वरदान पाया है कि पार्थ को छोड़कर अन्य चारों भाइयों को वह जीत लेगा।

उधर अभिमन्यु दूसरे द्वार पर पहुँचा। वहाँ उसे गुरु द्रोण का सामना करना पड़ा, पर अभिमन्यु वहाँ भी न रुका और वह तीसरे द्वार पर पहुँचा जहाँ कर्ण द्वार रोके खड़ा था। अभिमन्यु वहाँ भी रोका न जा सका। वह कर्ण को पराम्त कर चौथे द्वार पर कृपाचार्य से आकर भिड़ा। अभिमन्यु ने कृपाचार्य के रथ, घोड़े और सारथी का भी संहार कर दिया। कृपाचार्य उसके प्रबल वेग को न रोक सके। पंचम द्वार पर अश्वत्थामा था। उसके साथ अभिमन्यु का भयंकर युद्ध हुआ किंतु भला वह कब रुकने वाला था। वह सातवें द्वार तक पहुँच गया और कोई उसका भेद न समझ सका। वहाँ तीस सहस्र छत्र धारण करने वाला दुर्योधन भारी सेना के साथ तैयार था। वह मारो-मारो कह कर दौड़ा। अभिमन्यु के रथ पर इस तरह बाणों की वर्षा होने लगी जिस तरह पर्वत पर जल की वर्षा होने लगती है। उसका महारथ बादल के समान था और उस पर छूटने वाले बाण बूंद की तरह थे। धनुष का टंकार मेघ गर्जन के समान मालूम पड़ता था और धनुष बिजली की छटा दिखा रहा था। इस तरह युद्ध करते हुए अभिमन्यु का रथ टूट गया, तब वह पैदल ही युद्ध करने लगा। इस पर भी उसने अनेक भूपों को मार गिराया। कृपाचार्य और द्रोणाचार्य ने जब यह शोर सुना तब वे कर्ण एवं अन्य अनेक वीरों के साथ वहाँ आये। वे सब एक साथ अभिमन्यु पर बाण चलाने लगे। कुछ देर में द्रोण को अभिमन्यु की वीरता का पता चल गया। उन्होंने कहा कि अभिमन्यु तीर चलाने में अपने पिता के समान है, जब तक इसका धनुष नहीं कटेगा तब तक इससे पार पाना कठिन है। ऐसा सुनकर सभी क्षत्रिय अभिमन्यु पर भिड़ गये। कर्ण ने अग्निबाण चलाया जिसका अभिमन्यु ने

[illegible] से प्रतिकार किया। अभिमन्यु ने इतना भयंकर युद्ध किया कि उसने सात लाख चतुरंगिनी सेना को मार गिराया। दुर्योधन ने बड़ा क्रोधित होकर कहा कि इसे शीघ्र मार डालो। कर्ण उसकी ललकार सुनकर आगे बढ़ा और परशुराम से पाये हुए उसने तीन बाण अभिमन्यु पर चलाये। इससे अभिमन्यु का धनुष कट गया।

शस्त्रास्त्रों से रहित कर शत्रु जब उसे मारने लगे तो अभिमन्यु ने गुरु द्रोण से कहा कि आपसे यह असम लड़ाई कैसे देखी जाती है। एक बालक के इस अद्भुत पराक्रम को देखकर द्रोण धन्य-धन्य कह उठे। दुर्योधन यह सुनकर जल उठा। उसने द्रोण और कर्ण से कहा कि एक बालक सारी सेना को मार रहा है और आप लोग देख रहे हैं। ऐसा सुनने पर सबने जोर लगाया अभिमन्यु का खड्ग काट दिया। तब वह रथ का पहिया लेकर लड़ने लगा। इस हालत में भी उसने अनेक वीरों को मार डाला। लेकिन रथ के पहिये से वह बाणों का सामना कब तक करता ! दुःशासन के पुत्र ने उसके सिर पर गदा मारी। अभिमन्यु युद्ध भूमि में गिर पड़ा। सबने धन्य धन्य कहा। गुरु द्रोण का मुख मलीन हो गया। यह खबर जब पाण्डव पक्ष को मालूम हुई तो वे लोग हतप्रभ हो गये। वे लोग अत्यंत उदास होकर अपने शिविर में लौटे। उत्तरा यह सुनकर सिर पीटकर रोने लगी। सभी रानियाँ रो पड़ी।

उधर संग्राम भूमि से लौटते हुए अर्जुन को अपशकुन होने लगे। शिविर में पहुँच कर जब उन्होंने अभिमन्यु को न देखा तो उन्हें आशका हुई। पूछने पर धर्मराज ने वस्तुस्थिति बतायी। अर्जुन शोक भार से दब गये। उन्होंने कृष्ण से कहा कि हे कृष्ण, अंतःपुर में जाने की मेरी हिम्मत नही है, आप ही वहाँ जाइये। कृष्ण वहाँ गये और सबको सान्त्वना दी। इधर पुत्र शोक से उदास होकर अर्जुन वन में चले आये। अंतःपुर से बाहर आकर कृष्ण ने जब अर्जुन को न देखा तो वे शंकित होकर खोजते हुए चल पड़े। वन में आकर वे अर्जुन से मिले और चरण पकड़ कर कहने लगे कि हे अर्जुन, अब शोक छोड़ दीजिए। इस तरह समझाते हुए कृष्ण अर्जुन को सुरपुर ले गये और वहाँ अभिमन्यु को बाँह पकड़ कर अर्जुन के सामने ला दिया। अपने पुत्र को देखकर उन्हें अपार हर्ष हुआ। मिलने के लिए आतुर होकर दौड़े और कहने लगे कि हे पुत्र ! हमें किस कारण से छोड़कर चले आये, अब पुनः अपने घर चलो। यह सुनकर अभिमन्यु कहने लगा कि हे पार्थ, तुम किसको अपना पुत्र कहते हो, मैं तो तुम्हारा पुत्र नहीं हूँ, तुम किसके लिये रो रहे हो। अभिमन्यु के मुख से ऐसी बात सुनकर अर्जुन लजा गये। वे सोचने लगे कि सचमुच ही कोई किसी का नहीं होता। उन्होंने कृष्ण से कहा कि अभिमन्यु कहता है कि मै तुम्हारा पुत्र ही नहीं हूँ। इस पर कृष्ण ने असली कथा सुनाई। उन्होंने कहा कि जब मैं देवकी के गर्भ में था तभी सब देवता संसार में आ गये। उन लोगों ने क्षत्रियों के रूप में मेरी लीला सम्पन्न करने के लिए जन्म लिया। यहाँ कुरुपति कौन है और युधिष्ठिर कौन ? इस प्रकार समझाते हुए कृष्ण अर्जुन को लौटा लाये। अर्जुन का शोक मिट गया और उसका स्थान क्रोध ने लिया। वे कहने लगे कि कल युद्ध में जयद्रथ का वध करूँगा या स्वयं अग्नि में जलकर मर जाऊँगा। कृष्ण ने कहा कि जयद्रथ को तो शंकर का वरदान प्राप्त है, तुम्हारा पुरुषार्थ उस पर कैसे चलेगा ? उसकी सिद्धि के

लिये हम तुम भी शिव के पास चलें। कृष्ण और अर्जुन भगवान् शंकर के पास गये। शिव अंगों में विभूति लगाये हुए, मृगछाला धारण किए हुए थे। उनके ललाट पर चन्द्रमा और गले में शेषनाग की माला थी। सिर पर जटा में गंगा शोभ रही थी और उनके तीनों नेत्र मनोहर लग रहे थे। उमा तो भगवान् शंकर का जप कर ही रही थी, हरि भी बैठे जप कर रहे थे। अर्जुन उनसे दिव्यास्त्र प्राप्त कर लौट आये।

(३) चक्राव्यूह अथवा चक्रव्यूह (प्राणनाथ)—प्राणनाथ कृत 'चक्रव्यूह' की हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में मिली है जिसके आधार पर मिश्रबधुओं ने इसका उल्लेख किया है।[1] सरोज में उद्धृत इनकी कविता से यह ज्ञात होता है १७९३ ई० (कार्तिक शुक्ल ९, मंगलवार, सं० १८५०) में इन्होंने 'चक्रव्यूह' की रचना की।[2] शिवसिंह सेंगर ने इन्हें १७९४ ई० (सं० १८५१) में उपस्थित माना है, कदाचित् निम्नोद्धृत दोहे में व्योम का अर्थ एक लेने के कारण, किंतु व्योम के शून्य ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। ये बैसवारे के ब्राह्मण थे और कविता में अपने नाम के साथ 'जन' और 'कवि' शब्द का प्रयोग करते थे। इस कारण भ्रम से कुछ लोगों ने इनका नाम जनप्राणनाथ मान लिया है।

(३) बभ्रुवाहन (प्राणनाथ)—'चक्रव्यूह' के रचयिता प्राणनाथ की ही यह रचना है। प्राणनाथ नामधारी अनेक कवि हो गये हैं जिनमें से एक प्राणनाथ का उल्लेख सुदामा से सम्बधित खंडकाव्यों के प्रसंग में हो चुका है। मिश्रबंधुओं ने 'बभ्रुवाहन' को सुदामा चरित्रकार की ही रचना माना है।[3] यह सत्य नहीं है। 'चक्रव्यूह' और 'बभ्रुवाहन' की भाषा की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि दोनों के रचयिता अभिन्न हैं। शिवसिंह सेंगर ने प्राणनाथ की जो कविताएँ उद्धृत की हैं उनमें से एक मोदक छंद में संस्कृत मिश्रित कविता है।[4] 'बभ्रुवाहन' में भी इस शैली की कविता है।[5] दोनों मे अंतर इतना ही है कि सरोज में उद्धृत कविता संस्कृत में है जबकि 'बभ्रुवाहन' की भाषा संस्कृत नहीं है। प्रवृत्ति निस्संदिग्ध दोनों की समान है। फिर, 'सुदामा चरित्र' के लेखक की अपेक्षा 'चक्रव्यूह' के रचयिता से ही 'बभ्रुवाहन' लिखने की आशा की जाती है।

---

१. मिश्रबधु विनोद, पृ० ८३३

२. संवत व्योम नराचे वसु मही महिज उर्जमास।
सिते पक्ष तिथि नवै लखि चक्राव्यूह इतिहास ॥१॥
—शिवसिंह सरोज, पृ० १६४

३. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ८७७-७८

४. ॥ मोदक छद ॥ नमामि श्याम सुंदरं। गुमान कन्धि मन्दिरं॥
कराल काल कालके। विरञ्चि लोकपालके॥
अभाग नाग केसरी। अपूत पूतना तरी॥
—शिवसिंह सरोज, पृ० १६४

५. अब करउ घायल समर महि बल रोष पारथ नंदम
अरुढ़ आतुर बजि पर हरि सरिस ग्रजं अघंडनम
—बभ्रुवाहन, प्राणनाथ

इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है।[1] रचनाकाल नहीं दिया हुआ है। लिपिकाल १८११ ई॰ है। इसमें कुल ३८ पत्र हैं। पांडुलिपि तो पूर्ण है लेकिन लिखावट भ्रष्ट और अवाच्य है। मनोयोगपूर्वक पढ़ने पर कथा का कुछ संकेत मिलता है। सम्पूर्ण पोथी में अर्जुन और उसके पुत्र बभ्रुवाहन के युद्ध का वर्णन है। युद्ध में लड़ते हुए दोनों एक साथ एक दूसरे के हाथ मारे गये। तब कृष्ण ने उन्हें अमृत पिलाकर जिलाया। आरम्भ में शम्भु, भवानी, गणेश, सूर्य, आदि की वंदना है और अंत में पुस्तक-महात्म्य कथित है।

(ख) ऐतिहासिक खंडकाव्य

(१) चरित्रपरक

(१) गोरा बादल की कथा (जटमल)—इस प्रसंग में सर्वप्रथम जटमल-रचित 'गोरा-बादल की कथा' उल्लेखनीय है। यह एक प्रसिद्ध और प्रकाशित पुस्तक है। बहुत दिनों तक यह भ्रम फैला रहा कि इस पुस्तक में गद्य और पद्य दोनों हैं। किंतु अब इसका निराकरण हो चुका है। कवि ने जो रचनाकाल दिया है वह अस्पष्ट-सा है।[2] कवि ने इस सम्बन्ध में जो दोहा लिखा है उससे सवत् १६५० और १६८५ दोनों अर्थ लिये जा सकते हैं। अयोध्याप्रसाद शर्मा ने स्व-सम्पादित गोरा बादल की कथा में सं० १६५० अर्थ ही ग्रहण किया गया है। तदनुसार इसका रचनाकाल १५९३ ई० होता है। दिन का नामोल्लेख नहीं होने के कारण इन दोनों संकेतों में कौन मान्य है, यह नहीं कहा जा सकता है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज में इस पुस्तक की जो हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई है उसमें निर्माण-काल सं० १६८०-१६२३ दिया हुआ है।[3] वस्तुतः पूर्वोक्त दोहे का संवत् १६८५ अर्थ लेना ही संगत प्रतीत होता है, क्योंकि इनकी एक अन्य पुस्तक 'प्रेमविलास चौपाई' का रचनाकाल १६३७ ई० (भाद्र शुक्ल पंचमी रविवार संवत् १६९४ वि०) है।[4] अगर 'गोरा बादल की कथा' का रचनाकाल सं० १६५० मानते हैं तो उसके तथा 'प्रेम विलास चौपाई' के रचनाकाल में ४४ वर्षों का अंतर हो जाता है। एक कवि की दो रचनाओं में समय का इतना बड़ा व्यवधान स्वाभाविक नहीं जँचता। निष्कर्षतः १६२३ ई० या १६२८ ई० ही 'गोरा-बादल की कथा' का रचनाकाल होगा।

इनके पिता का नाम धर्मसी था और ये मोरछड़ो के शासक पठान सरदार नासिरनंद अली खाँ न्यायी खाँ के समकालीन थे। 'गोरा-बादल की कथा' का प्रणयन इन्होंने सिबुला ग्राम में किया था।[5] अपनी दूसरी पुस्तक 'प्रेम विलास चौपाई' की

---

१. पुस्तक संख्या ३०८२।१६३६

२. संवत सोल पचासियै, पूनम फागुन मास।
गोरा बादल वर्ण्या, कहि जटमल सुप्रगास ॥
—गोरा बादल की कथा, सं० अयोध्याप्रसाद शर्मा

३. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग, सभा, पृ० ३९-४०

४. हिन्दी साहित्य, सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४८४

५. हिन्दी साहित्य, सं० डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० १६४

रचना इन्होंने जमालपुर में की थी।[1] इनका पूरा नाम नाहर खाँ जटमल था। इस नाम से कई अनुमान लगाये जाते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि नाहर खाँ उनकी उपाधि थी और वे जाति के जाट थे। अन्य लोग यह भी अनुमान करते हैं कि इस्लाम धर्म ग्रहण कर लेने के कारण ही जटमल, नाहर खाँ हो गये। म० म० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा का मत है कि ओसवाल महाजनों की जाति में नाहर एक गोत्र है।[2]

'गोरा बादल की कथा' के अन्य नाम 'गोरा-बदल री कथा' और 'गोरा-बादल की बात' भी मिलते हैं। इसके अतिरिक्त जटमल की अन्य रचनाएँ निम्नोक्त हैं:—

पुस्तक का नाम	रचनाकाल	लिपिकाल
१ प्रेम विलास चौपाई	१६३७ ई०	+
२. बावनी		
३. लाहौर गजल		
४. भिगोर गजल[3]		
५ सुन्दरी गजल		

एक सौ पचास विविध छंदों में पद्मिनी के लिए राजा रतनसेन और अलाउद्दीन में हुए युद्ध का वर्णन किया गया है। कथा का सर्गों में विभाजन नहीं हुआ है, लेकिन यथास्थान वर्णन-संकेत दिये गये हैं। आदि में स्तुति है, अंत में फलश्रुति नहीं है। कथा इस तरह है: राजा रतनसेन चित्तौड़ के राजा थे और प्रभावती उनकी रानी थी। एक दिन सिंहलदेश से एक भाट उनके दरबार में आया और वहाँ की पद्मिनी नारियों का वर्णन सुनाया। राजा पद्मिनी को पाने के लिए विकल हो उठे। एक दिन एक योगी उनके द्वार पर आया। उन्होंने उसे भक्ति भाव से सन्तुष्ट किया और पद्मिनी नारी पाने के लिए अपनी इच्छा बतायी। वह योगी उनको सिंहल देश ले गया। वहाँ योगी के कथनानुसार योगी का वेष धारण कर वे भिक्षा माँगने के लिए राज द्वार पर गये। वहाँ वे पद्मिनी को देखकर मुग्ध हो गये और पद्मावती भी आकृष्ट हो गयी। पद्मावती ने हार तोड़ कर उसे भिक्षा में दे दिया जिसको लेकर रतनसेन अपने गुरु के पास आये। योगी रतनसेन को लेकर राज दरबार में गया और राजा से कहा कि तुम्हारी पुत्री के लिए वर लाया हूँ। रतनसेन के साथ पद्मावती का विवाह हो गया। सिंहल के राजा ने राघव को साथ में कर पद्मावती को विदा किया।

रतनसेन पद्मावती को लेकर चित्तौड़ आये। सुन्दरी रानी के रूप में वे बहुत आसक्त हो गये। एक दिन राघव ने रानी का चित्र बनाया और जाँघ पर एक तिल बना दिया। उस चित्र को लेकर रतनसेन के मन में शंका हो गयी और उसने राघव को अपने दरबार से निकाल दिया। राघव ने शिकार खेलते हुए अलाउद्दीन को प्रसन्न किया और उसके आग्रह पर दिल्ली-दरबार में रहने लगा। एक दिन

१. हिन्दी साहित्य सं० डा० धीरेन्द्र वर्मा, पृ० ४८४
२. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १३, पृ० ४०२
३. हिन्दी साहित्य, सं० डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० ४८४

राघव ने बादशाह को पद्मिनी नारी का रूप-वर्णन सुनाया। वर्णन सुनकर बादशाह पद्मिनी नारी को देखने के लिए व्यग्र हो गया। राघव उसे चित्तौड़ ले आया। वह बारह वर्ष तक चित्तौड़ पर घेरा डाले रहा किंतु जब उसकी दाल न गली तो उसने कहा कि पद्मिनी को मैं अपनी बहन मानता हूँ, और तुमको अपना भाई, तुम मुझे पद्मावती को दिखा दो। पद्मावती के बदले उसकी दासी अलाउद्दीन को दिखा दी गयी। राघव ने कहा कि यह नारी पद्मिनी नहीं हो सकती। अलाउद्दीन दिल्ली लौट गया और रतनसेन को आमंत्रित कर ले गया। वहाँ जाकर रतनसेन को बंदी कर लिया और अनेक तरह के कष्ट देकर कहने लगा कि तुम पद्मिनी को दे दो। रतनसेन ने यह खबर चित्तौड़ भेजी। रानी पद्मावती पान का बीड़ा लेकर बादल के पास गयी और उससे अपनी बात कही। बादल ने पान का बीड़ा लिया और उसकी रक्षा करने का निश्चय किया। इसके बाद वह पुनः गोरा के पास गयी और उससे भी रक्षा का वचन लिया।

गोरा-बादल ने मंत्रणा कर अलाउद्दीन को कहला भेजा कि रानी पाँच सौ सहेलियों के साथ आ रही है। पाँच सौ डोलियों में दो-दो सिपाही बैठ गये और उसे चार-चार सिपाहियों ने कहार बन कर उठा लिया। दिल्ली पहुँच कर गोरा-बादल दरबार में गया और उसे रानी के आने की सूचना दी। रतनसेन को रानी से मिलने की आज्ञा हुई। रतनसेन घोड़े पर सवार होकर निकल भागे और राजपूतों तथा मुसलमानों में युद्ध मच गया। इस संग्राम में गोरा की मृत्यु हो गयी। बादल संग्राम जीतकर चित्तौड़ लौट गया।

(२) **हिम्मत-बहादुर विरदावली (पद्माकर)**—आचार्य विश्वनाथ मिश्र द्वारा सम्पादित एवं नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित पद्माकर ग्रंथावली में यह पुस्तक संकलित है। इसके पूर्व स्वतन्त्र रूप से भी यह पुस्तक सम्पादित और प्रकाशित हो चुकी थी। इसमें नोने अर्जुनसिंह और हिम्मतबहादुर के युद्ध का वर्णन है जो १७९२ ई० में हुआ था। १७९८ ई० तक पद्माकर हिम्मतबहादुर के यहाँ रहे, अतः इन्हीं छह वर्षों के मध्य 'हिम्मत-बहादुर-विरुदावली' की रचना हुई होगी।

पद्माकर के पिता मोहनलाल भट्ट सागर में रहते थे। वहीं पद्माकर का जन्म १७५३ ई० में हुआ। इनके पूर्वज बाँदा में भी रहते थे, इसलिए ये बाँदा वाले भी कहाते हैं। ये तैलंग ब्राह्मण थे और इनके पूर्वपुरुषों का मूल निवास गोदावरी के तट पर मुंगी पट्टन अथवा मधुपुरी में था जहाँ से वे लोग महारानी दुर्गावती के शासन काल में १५५८ ई० में उत्तर की ओर आये और इधर ही बस गये। इनका मूल नाम प्यारेलाल भट्ट था किंतु सागर में जन्म होने के कारण इन्होंने उसके पर्याय 'पद्माकर' को अपना उपनाम बनाया। तत्कालीन अनेक शासकों से इनका एक-एक कर सम्पर्क हुआ और सर्वत्र इन्हें प्रभूत सम्पत्ति एवं सम्मान मिला। ये क्रमशः सागर-नरेश रघुनाथ राव अप्पा साहब, नोने अर्जुन सिंह, दतिया के महाराज पारिक्षत, रजधान के गोसाईं अनूपगिरि उपनाम हिम्मतबहादुर, महाराज रघुनाथ राव (राघोवा), जयपुर के सवाई महाराज प्रतापसिंह, उदयपुर के महाराजा भीमसिंह, और ग्वालियर-नरेश दौलतराव सिंधिया के दरबार की शोभा बढ़ायी। १८३३

ई० में कानपुर में इनकी मृत्यु हुई।

ये संस्कृत के अच्छे ज्ञाता थे। बाल्मीकिय रामायण एवं अन्य संस्कृत ग्रंथों के अनुवाद इसके प्रमाण हैं। इनके रचे मौलिक तथा अनूदित ग्रंथ निम्नांकित हैं:—

१. हिम्मत-बहादुर-विरुदावली।
२. ईश्वर पचीसी।
३. गंगा लहरी।
४. जगविनोद।
५. जमुना लहरी।
६. पद्माभरण।
७. प्रबोध पंचाशिका।
८. राजनीति।
९. राम रसायन।
१०. निनहारी लीला।[1]
११. विरुदावली।

'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' में २११ भिन्न-भिन्न छंदों का प्रयोग किया गया है। कथा सर्गबद्ध नहीं है। आदि में स्तुति नहीं है। इसमें अनूपगिरि हिम्मत-बहादुर और अर्जुन सिंह के बीच सन् १७९२ ई० में हुए युद्ध का वर्णन है। इस युद्ध में अर्जुन हिम्मतबहादुर के हाथ मारा गया और विजयमाला हिम्मतबहादुर के गले में पड़ी। आरम्भ में हिम्मतबहादुर की प्रशस्ति की गई है जिसके कारण इसका चरितात्मक खंडकाव्यों के साथ विवेचन किया गया है, अन्यथा इसमें युद्ध का आद्यंत वर्णन है और इस तरह इसमें घटनात्मकता ही अधिक है।

इसी तरह पद्माकर का एक अन्य काव्य 'प्रतापसिंह विरुदावली' है। आकार-प्रकार सभी दृष्टियों से यह 'हिम्मतबहादुर-विरुदावली' के समकक्ष है किंतु इसका आधार कोई युद्ध विशेष नही है। युद्ध-वर्णन के लिए ही एक कल्पित युद्ध का वर्णन किया गया है। उसमें पात्रों का अभाव उसे प्रबंध कोटि से निकाल कर मुक्तक की श्रेणी में ले जाता है।

हम्मीर मध्य युद्ध के अत्यन्त लोकप्रिय चरित्र हैं। इनका हठ लोकोक्ति की वस्तु हो गया है जिसको विषय बनाकर अनेक कवियों ने पुस्तकों की रचना की। इनमें ग्वाल और चन्द्रशेखर वाजपेयी का 'हम्मीर हठ' तथा जोधराज और महेश का 'हम्मीर रासो' उल्लेख योग्य है। प्रस्तुत संदर्भ में ग्वाल और चन्द्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीर हठ' विवेच्य हैं।

(१) हम्मीर-हठ (ग्वाल)—इस पुस्तक की ग्वाल के हाथ की लिखी हुई प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में मिली है।[2] इसका रचनाकाल १८२४ ई० है। कवि किंकर ने ग्वाल की कुछ रचनाओं का सम्पादन ग्वाल रत्नावली नाम से

१. पद्माकर ग्रंथावली, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, प्रस्तावना, पृ० ४७
२. खोज विवरण, सभा, १९०५, संख्या ९०

किया है जो आलोक पुस्तक माला, भारतवासी प्रेस, दारागंज, प्रयाग से प्रकाशित हुआ है। किंतु अनेक महत्वपूर्ण कृतियों के साथ 'हम्मीर-हठ' अद्यापि अमुद्रित है।

ग्वाल ने 'कवि दर्पण' में अपने को मथुरा निवासी वंदी ब्राह्मण कहा है।[१] इनके पिता का नाम सेवाराम था। १८२२ ई० से १८६२ ई० तक की इनकी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं, अतः यही इनका कविता-काल है। श्री किशोरीलाल गुप्त के अनुसार इनका जन्म १७९१ ई० में और देहांत १८७१ ई० में हुआ था।[२] खोज विवरणों एवं इतिहास-ग्रंथों में इनकी दो दर्जन से भी अधिक रचनाएँ बतायी गयी हैं जिनमें से कुछ इनकी छोटी-छोटी पुस्तकों का तथा कुछ फुटकर रचनाओं का विषयानुसार संकलन हैं। इनकी रचनाएँ निम्नोक्त हैं :—

१. अलंकार भ्रमभंजन
२. भक्त भावना (१८६२ ई०)
३. कवि दर्पण या दूषण दर्पण (१८३४ ई०)
४. बंशी बीसा
५ यमुना लहरी (१८२२ ई०)
६ श्रीकृष्णजू को नखशिख
७. गोपी पचीसी
८. रसरंग (१८२२ ई०)
९. हम्मीर हठ (१८२४ ई०)[३]
१०. कवि हृदय विनोद[४]
११. रसिकानंद (१८२२ ई०)[५]
१२. ग्रीष्मादि ऋतुओं के कवित्त
१३. ग्वाल कवि के कवित्त
१४. कवित्तों का संग्रह
१५ फुटकर कवित्तों का संग्रह
१६. शांत रस के कवियों का संग्रह[६]
१७. प्रस्तार प्रकाश
१८. कवित्त वसंत
१९. होरी आदि के छंद

---

१. वंदी विप्र सुग्वाल कवि श्री मथुरा सुषधाम।
प्रगट कियो या ग्रंथ को कवि दरपन यह नाम ॥३॥
—राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रन्थों की खोज, भाग ३, पृ० ११२

२. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन) अनु० किशोरीलाल गुप्त में अनुवादक की 'टिप्पणी' पृ० २३४

३. खोज विवरण, सभा, १९१७-१९, प्रथम परिशिष्ट, संख्या ६५

४. वही-१९२०, २२, प्रथम परिशिष्ट, संख्या ५८

५. खोज विवरण सभा, १९२६-२८, प्रथम परिशिष्ट, संख्या १६१

६. वही, १९३५-३७, प्रथम परिशिष्ट, संख्या ३३

२०. प्रास्ताविक[1]
२१. रसरूप (१८२२ ई०)
२२. षट् ऋतु वर्णन[2]
२३. राधा माधव मिलन
२४. राधा अष्टक[3]
२५. साहित्य दूषण
२६. साहित्य दर्पण
२७. शृंगार दोहा
२८ शृंगार कवित्त[4]

इनमें से ५, ६ और ७ संख्यक पुस्तकें 'भक्त भावन' में संकलित हैं। 'कवि हृदय विनोद' को मिश्रबंधुओं ने स्वतन्त्र रचना न मानकर संकलन माना है। और २२-२६ संख्यक ग्रंथ तो स्पष्टतः संकलन है।

(४) हम्मीर-हठ (चंद्रशेखर वाजपेयी)—यह पुस्तक एक बार आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र और श्री जगन्नाथदास रत्नाकर द्वारा सम्पादित होकर लहरी बुक डिपो, बनारस से और दूसरी बार केवल रत्नाकर जी द्वारा सम्पादित होकर नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हो चुकी है। इसकी रचना वाजपेयी जी ने १८४५ ई० में की थी। वाजपेयी जी का जन्म १७९८ ई० (पौष शुक्ल १०, सं० १८५५) में फतहपुर जिलांतर्गत असनी के निकट मौजबाबाद में हुआ था।[5] इनके पिता का नाम मनीराम वाजपेयी था और वे भी एक अच्छे कवि थे। विद्याध्ययन समाप्त कर बाईस वर्ष की अवस्था में ये घर से निकल पड़े। सर्वप्रथम ये दरभंगा आये और प्राय सात वर्षों तक राजदरबार में रहे। फिर, ये जोधपुर गये और महाराजा मानसिंह के आश्रय में रहे उनकी मृत्यु के उपरांत ये लाहौर में महाराज रणजीतसिंह के पास चले गये। फिर, ये पटियाला-नरेश महाराज कर्मसिंह के दरबार में पहुँचे जहाँ इनको सर्वाधिक सम्मान प्राप्त हुआ। वहीं इनका देहांत १८७५ ई० में हुआ।

'हम्मीर-हठ' के अतिरिक्त इन्होंने निम्नांकित पुस्तकें लिखीं—

१ नखशिख
२. रसिक विनोद
३. वृंदावन शतक
४. गुरु पंचाशिका

---

१ वही, १९३८-४०, प्रथम परिशिष्ट संख्या ५५
२ राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग २, पृ० १४२, १४८
३. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ३१३
४. शिवसिंह सरोज, पृ० ३७२
५. कर नभ रस अरु आत्मा, संवत फागुन मास।
कृष्ण पक्ष तिथि चौथ रवि, जोहि दिन ग्रंथ प्रकास ॥४००॥
—हम्मीर हठ, सं० जगन्नाथ रत्नाकर, पृ० ६८
६. हम्मीर हठ, सं जगन्नाथदास रत्नाकर, उपक्रम, पृ० ७

५. ज्योतिष का ताजक
६. माधवी वसंत
७. हरिभक्त विलास
८. राजनीति बृहत ग्रंथ

चार सौ तीन भिन्न-भिन्न छन्दों में बिना सर्ग-विभाजन के कथा कही गयी है। प्रारम्भ में कृष्ण और शिव की वंदना के उपरांत कवि ने हम्मीर और अलाउद्दीन का परिचय दिया है। अंत में रचना का आधार और काल तथा आश्रयदाता की प्रशस्ति है। कथा इस तरह है : एक दिन अलाउद्दीन अपने जनाने खास में गया तो बेगमों ने अनुनय किया कि एक दिन हमारे साथ शिकार खेलिए राजा दरबार में आया और जंगल के चारों ओर कनात खड़ी करने और शिकार का सारा सामान तैयार करने का आदेश दिया। सुलतान सजा, बेगमें सजीं। सब घोड़े पर सवार होकर जंगल में प्रविष्ट हो गये। मृगनयनियाँ मृगों को मारने लगीं। इसी समय सुलतान बेगम ने मीर मुहम्मद मंगोल के सौंदर्य पर मुग्ध होकर उससे समागम की इच्छा प्रगट की। मीर डरा किंतु बेगम ने कहा कि बिना मेरे हृदय लगे तुम्हारे जीवन की आशा नहीं है। मीर ने निःशंक होकर बेगम की इच्छा-पूर्ति की। जिस समय दोनों रति-क्रीड़ा में लीन थे उसी समय एक शेर वहाँ आ गया। जिसको मीर ने एक ही तीर में मार डाला। बेगम ने उठकर साड़ी और देह को झाड़ पोंछ कर रति चिह्न को मिटाया और घोड़े पर पुनः सवार हो गयी। सुल्तान के साथ सभी बेगमें महल में लौट गयीं और सबने सुलतान को तरह-तरह से खुश किया।

एक रात सुलतान की बेगम साथ सोई हुई थी कि चूहा बिछावन पर कूद गया। सुलतान ने उसे मार डाला। मरहट्ठी बेगम हँस पड़ी, यह सोचकर की ऐसे ही अवसर पर मीर ने शेर को मारा था और सुलतान ने चूहे को मारा। सुलतान हँसने का कारण पूछने लगा। बेगम ने दूसरे दिन बताने का वादा किया। भोर में ही उसने मीर को एक पत्र लिखकर भेज दिया। मीर मंगोल घोड़े पर सवार होकर रात में ही भाग खड़ा हुआ और रणथम्भौर के राजा हम्मीर को शरणागत-वत्सल समझ कर उन्हीं की शरण में गया। वीर हम्मीर ने उसे आश्रय दिया और प्रतिज्ञा की कि किसी भी हालत में इसे अलाउद्दीन को नहीं सौपूँगा। दरबारियों ने उसे मना किया लेकिन उसने एक न सुनी।

इधर दूसरे दिन अलाउद्दीन ने उस मरहट्ठी बेगम को बुलाकर हँसने का कारण पूछा। बेगम ने सच्ची बात कह दी। अलाउद्दीन क्रोध से काँपता हुआ दरबार में आया और मीर मंगोल को खोज लाने की आज्ञा दी। उसकी जानकारी रखने वाले एक व्यक्ति ने बता दिया कि वह तो रणथम्भौर के चौहान राजा की शरण में जाकर निर्भय हो गया है। अलाउद्दीन ने तत्क्षण एक दूत रणथम्भौर भेजा और हम्मीर से मीर को दे देने को कहलाया। किंतु हम्मीर शरणागत की रक्षा कैसे नहीं करते! उन्होंने अस्वीकार कर दिया। दूत ने दिल्ली लौटकर अलाउद्दीन को यह खबर सुनायी। लड़ाई की तैयारी शुरू हो गई। एक बड़ी सेना लेकर अलाउद्दीन ने

रणथम्भौर को घेर लिया। हम्मीर ने भी सेना सजायी। घोर युद्ध हुआ। अलाउद्दीन को हारकर दिल्ली लौट आना पड़ा।

हम्मीर की विजय से उसके भाई को ईर्ष्या हुई। उसने अपने पुत्र रणमल्ल को सुलतान के पास भेजा। रणमल्ल ने सुलतान को जाकर कहा कि आप लौटिये, मैं सारा भेद बता दूँगा तब आप की जीत निश्चित है। अलाउद्दीन लौट गया। रणमल्ल के निर्देशानुसार अलाउद्दीन ने सुरंग बनवा कर गढ़ में रखी हुई शराब के भण्डार में आग लगवा दी जिससे गढ़ ध्वस्त हो गया। हम्मीर सोच में पड़ गया। एक आदमी ने उसे रणमल्ल के कपट की बात कही। हम्मीर ने कहा सब लोग गढ़ के बाहर आ जाओ; क्यों कि सुलतान के द्वारा ऐसा षड्यन्त्र पुनः किया जा सकता है। हम्मीर की लड़की ने पिता के पास जाकर कहा कि आप मुझ को देकर सुलतान से संधि कर लीजिये। हम्मीर ने उसे डाँट दिया। हम्मीर के पुत्र ने भी उसे समझाया किन्तु उसने नहीं माना। हम्मीर ने अंतिम बात कही कि चाहे सब मेरा साथ छोड़दें पर मैं अपनी आन नहीं छोड़ सकता। अंत में हम्मीर अपनी माता से बिदा लेने गया इधर उसके सरदार सजकर युद्ध के लिये तैयार हो गये। भयंकर युद्ध हुआ। हम्मीर की विजय हुई किंतु पराजय के भ्रम में स्त्रियों ने जौहर व्रत ले लिया। इससे हम्मीर को निराशा हुई। अपने पुत्र को राज्य सौंपकर उन्होंने स्वर्ग यात्रा की।

२. घटनापरक

(१) रणमल्ल छंद (श्रीधर व्यास)—'रणमल्ल छंद' प्रस्तुत शोध का प्राचीनतम खंडकाव्य है। 'प्राचीन गुर्जर काव्य' में रायबहादुर केशवलाल हर्षदराय ध्रुव बी० ए० द्वारा सम्पादित होकर १९२७ ई० में गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ था। डा० दशरथ ओझा द्वारा सम्पादित 'रास और रासान्वयी काव्य' में भी 'रणमल्ल छंद' संकलित है। इसकी रचना १४०० ई० में हुई थी। श्रीधर ईडर के राठौर राजा रणमल्ल के आश्रित थे। 'रणमल्ल छंद' में इसी का गुजरात के शासक मलिक मुफर्रह के साथ हुए युद्ध का वर्णन है। मलिक मुफर्रह का शासन काल सन १३७७-१३९१ ई० तक है, अतः उक्त युद्ध इसी बीच हुआ होगा।

शंकर एवं गुरु की वंदना के साथ पुस्तक का प्रारंभ होता है। इसके बाद ही युद्ध वर्णन का आरंभ हो जाता है। युद्ध समाप्त के साथ कथा का भी अंत हो जाता है। यह ७० भिन्न भिन्न छंदों का एक लघु खंडकाव्य है। 'रणमल्ल छंद' के अतिरिक्त श्रीधर ने 'भागवत दशमस्कंध' और 'सप्तसती' की भी रचना की थी।[1]

(२) जंगनामा (श्रीधर 'मुरलीधर')—यह पुस्तक बहुत पहले राधाकृष्ण दास और किशोरीलाल गोस्वामी द्वारा सम्पादित होकर नागरी प्रचारिणी सभा से प्रकाशित हुई थी। इसके रचयिता के नाम को देखकर ग्रियर्सन[2] और मिश्रबंधुओं[3]

---

१. प्राचीन गुर्जर काव्य, रा० ब० केशवलाल हर्षदास ध्रुव, प्रस्तावना, पृ० ६
२. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन) अनु० किशोरीलाल गुप्त, पृ १६२
३. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ५१३

को ऐसा भ्रम हुआ कि श्रीधर और मुरलीधर नाम के दो कवि सम-नाम से कविता करते थे। किंतु वस्तुतः इनका मूल नाम श्रीधर और उपनाम मुरलीधर था। कवि ने 'जंगनामा' में इस तथ्य को स्पष्ट कर दिया है।[1] ये प्रयागवासी ब्राह्मण थे। इन्होंने १७१२ ई० में 'जंगनामा' की रचना की थी। 'जंगनामा' के अतिरिक्त इनकी रचनाओं में राग रागनियों का ग्रंथ, नायिका-भेद, जैन मुनियों का वर्णन, श्रीकृष्ण चरित्र की स्फुट कविताएँ उपलब्ध होती हैं। सरोजकार ने इनके रचे 'कवि विनोद' का भी उल्लेख किया है। नागरी प्रचारिणी सभा में इनके द्वारा रचित 'दूत परीक्षा' और 'भाषा भूषण' की हस्तलिखित प्रतियां सुरक्षित हैं।

'जंगनामा' में फर्रुखसियर और जहाँदार शाह के युद्ध का वर्णन है। फर्रुखसियर ने जहाँदार शाह को हराकर दिल्ली का सिंहासन प्राप्त किया था। इसमें विविध छंदों का प्रयोग किया गया है और कथा सर्गीकृत नहीं है।

(४) **रासा भगिवंत सिंह (सदानंद)**—इसकी एक हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है।[2] पुस्तक में रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल १८३९ ई० है। सभा को खोज मे भी इसकी हस्तलिखित प्रति उपलब्ध हुई है जिस में रचनाकाल, लिपिकाल कुछ नहीं दिया हुआ है।[3] इसमें जिस युद्ध का वर्णन है वह १७४० ई० में असोथर के शासक भगवंतराय खीची और अवध के सूबेदार शाहादत खाँ में हुआ था।[4] खोज विवरण में गणना करके यह दिखाया गया है कि यह युद्ध वस्तुतः मंगलवार, २० अक्तूबर सन १७३९ ई० को हुआ था।[5] कवि ने इस युद्ध का आँखों देखा वर्णन किया है अतः इसी के आसपास इसकी रचना हुई होगी। शिवसिंह सेंगर[6] ने इनका १६२३ ई० में उपस्थित होना और ग्रियर्सन[7] ने जन्म होना लिखा है। मिश्रबंधु १६२८ ई० इनका समय मानते हैं।[8] मिश्रबंधुओं द्वारा दिया हुआ समय ही सबसे परवर्ती है और अगर इस वर्ष को सदानंद का जन्म-वर्ष मानें तब भी पुस्तक में वर्णित युद्ध को उन्हें ११२ वर्ष की अवस्था में देखना चाहिये। यह उम्र सर्वथा असम्भव नहीं है किंतु ऐसा संभव नहीं प्रतीत होता है कि इस अवस्था में वे इस योग्य थे कि युद्ध में गये। ऐसा अनुमित होता है कि भगवंतराय खीची के आश्रित रहे हों इसलिये ये उनके युद्ध को देखने या उसमें भाग लेने गये।

---

१. श्रीधर मुरलीधर उरुफ, द्विजवर बसत प्रयाग ॥
—जंगनामा

२. पुस्तक संख्या ३२६।२२६

३. खोज विवरण, सभा, १९२३-२५, प्रथम परिशिष्ट, सं० ३६४

४. संवत सत्रह सतानवे कातिक मंगलवार ॥
सित नौमी संग्राम सो विदित सकल संसार ॥१०४॥
—रासा भगिवंतसिंह, सदानंद

५. खोज विवरण, सभा, १९२३-२५, प्रथम परिशिष्ट, संख्या ३६४

६. शिवसिंह सरोज, पृ० ४५७

७. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन) अनु० किशोरीलाल गुप्त, पृ० १८३

८. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ४०३

इस तरह ११२ वर्ष की वय में ये इस लायक कहाँ रहे होंगे कि अपने आश्रयदाता के साथ युद्ध में गये होंगे। निस्संदेह इनका समय १७४० ई० के आसपास होगा।

इसमें १०४ भिन्न-भिन्न छंदों में युद्ध-वर्णन हुआ है। कथा का अध्यायों में विभाजन नहीं है। इसके आदि और अंत में वंदना, आदि कुछ नहीं है। राजा भगवंत सिंह के युद्धाभियान के साथ कथा शुरू होती है और युद्ध में वीर गति प्राप्त होने के साथ उसकी समाप्ति हो जाती है। भगवंतसिंह ने एक दिन कोड़ा जहानाबाद के लिए ससैन्य प्रस्थान किया। उस समय मुहम्मदशाह के अधीन अवध का नवाब शहादत खाँ था। उसने नूर मुहम्मद को कड़ा में इजारा लेने के लिए भेजा। जब नूर मुहम्मद वहाँ गया तो भगवंतसिंह ने उसे लूट लिया। दूत ने शहादत खाँ को जाकर यह खबर दी तो वह अपमान से जल उठा। उसकी भूख भाग गयी, नींद हराम हो गयी। उसने शीघ्र ही भगवंतसिंह से बदला लेने के लिए प्रस्थान किया। गंगा पार कर उसने डेरा डाला और दूत को भगवंतसिंह के पास भेजा। भगवंत सिंह विचार करने के लिए जब महल में गये तब उनकी रानी कहने लगी कि शहादत खाँ से वैर करना उचित नहीं, वह बहुत बड़ा अमीर है। जब दिल्ली लौट जायगा तो हम लोग फिर स्वतंत्र हो जायेंगे। किंतु भगवंतसिंह को यह कायरतापूर्ण आचरण अच्छा न लगा। उन्होंने उत्तर दिया कि 'तुरुकहीन अवनी करों कहा सहादत षान'। दूत ने शहादत खाँ को आकर यह उत्तर सुनाया। उसने भगवंतसिंह पर आक्रमण कर दिया। भगवंत सिंह पहले ही से तैयार थे। भयंकर युद्ध हुआ। भगवंत सिंह लड़ते-लड़ते मारे गये। इसके बाद युद्ध समाप्त हुआ और साथ-साथ कथा भी समाप्त होती है।

इस तरह घटनापरक खंडकाव्य खोज में अधिकाधिक मिल रहे हैं। ऊपर विवेचित खंडकाव्यों के आगे-पीछे अनेक ऐसे खंडकाव्यों का प्रणयन हुआ। सूजा जी का 'राव जैतसी रो छंद' (१५३४ ई० से १५४१ ई० के बीच)[1] जिसमें बाबर के द्वितीय पुत्र कामरान और बीकानेर नरेश राव जैतसी के युद्ध का वर्णन है; श्रीकृष्ण भट्ट 'काव्य कलानिधि' का 'सांभर युद्ध' (१७३४ ई० के लगभग) जिसमें महाराज सवाई जयसिंह और दिल्ली के सैयद बंधुओं के युद्ध का वर्णन है, इसी कवि का 'जाजव युद्ध';[2] गुलाब कवि का 'करहिया कौ राय सौ' (१७६७ ई०) जिसमें कवि के आश्रयदाता प्रमारों और भरतपुर-नरेश जवाहरसिंह के बीच हुए युद्ध का वर्णन है;[3] लाल झा की 'कंदर्पीघाट की लड़ाई' (१७५० ई०) जिसमें मुर्शिदाबाद के नवाब अलीवर्दी खाँ और दरभंगा-नरेश नरेंद्रसिंह के युद्ध का वर्णन है; दुर्गा प्रसाद का 'नायक रासो' (१७९६ ई०) जिसमें रीवाँ-नरेश महाराजा अजीतसिंह के सरदारों और पेशवा के सरदार जसवंतसिंह के युद्ध का वर्णन है;[4] शिवनाथ का 'रासा भैया बहादुर सिंह का' (१७९६ ई०) जिसमें बलराम पुर, गोंडा के बहादुर

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया, पृ० १०८
२. हिन्दी साहित्य, डा० धीरेंद्र वर्मा, पृ० १६७
३. वही, पृ० १७४
४. वही, पृ० १७६

सिंह के युद्ध का वर्णन'[1] है और 'रायसा'[2] जिसमें धार के महाराज जसवंतसिंह तथा रीवाँ के महाराज अजीतसिंह का युद्ध वर्णित है; आदि इस प्रसंग में उल्लेख्य हैं ।

(३) प्रेममूलक खंडकाव्य

(क) गार्हस्थ्य प्रेममूलक

इस संदर्भ में दो ऐसे खंडकाव्य हैं जो लोक मनीषा की देन हैं । दोनों में गार्हस्थ्य अथवा स्वकीया के प्रेम का चरम रूप देखने को मिलता है । इनमें गार्हस्थ्य प्रेम की जो एकनिष्ठता और तल्लीनता है वह अन्य प्रकार के हिन्दी प्रेम काव्य में दुर्लभ है । ऐसे काव्य में एक 'मैनासत' है । इसकी सूचना सर्वप्रथम नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विवरण में प्रकाशित हुई थी, जिसमें इसके रचयिता को अज्ञात कहा गया था ।[3] इसका विवरण राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग २ में भी छपा था । किंतु विद्वानों का ध्यान इस कृति की ओर तब गया जब प्रो० अस्करी को मनेर (बिहार) में इस पुस्तक की एक प्रति मिली और इसका विवरण उन्होंने जर्नल आव बिहार रिसर्च सोसाइटी में प्रकाशित किया ।[4] इसके बाद डा० माता प्रसाद गुप्त ने 'अवंतिका' में एक लेख लिखकर इसके रचयिता, इसकी भाषा तथा इसके विविध पाठों पर गम्भीरतापूर्वक विचार किया ।[5] फिर, हिन्दी विद्यापीठ ग्रंथ वीथिका में श्री अगरचन्द नाहटा द्वारा सम्पादित होकर इसके दो भिन्न पाठ, पाठांतरों के साथ छपे ।[6] अब यह श्री हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा सम्पादित होकर पुस्तकाकार प्रकाशित हो गया है । 'मैनासत' का रचयिता साधन कहा गया है । यह विचारणीय है । श्री हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा सम्पादित 'मैनासत' में कुल सत्ताईस बार 'साधन' शब्द आया है जिनमें से केवल छह बार ही वह कवि के नाम की छाप कहा जा सकता है ।[7] शेष बीस में से बारह बार मैना ने अपने लिए इस शब्द

---

१. खोज विवरण, सभा, १६२०-२२, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या १८३
२. हिन्दी साहित्य, सं० धीरेंद्र वर्मा, पृ० १३५
३. खोज विवरण सभा, १६०२, संख्या ३७
४. जर्नल आव बिहार रिसर्च सोसाइटी, मार्च-जून, १६५३
५. अवंतिका, जुलाई, १६५४, पृ० ७८-८१
६. हिन्दी विद्यापीठ ग्रंथवीथिका, पृ० १०७-१२६
७. प्रथमहिं गाउं सिरजन हारू । अलख अगोचर माया भंडारू ।। १
आस तोर मुहि बहुत गुसाईं । तोरे डर कंपो करिर की नाईं ।।
सत्रु मित्र सब काहु संभारै । भुगुति देइ काहू न बिसारै ।।
अपने रंग आपु रंगराता । बूझै कौन तुम्हारी बाता ।।
खिलै इह रही जगत फुलबारी । जो राता सो चल्या संभारी ।।

दोहा

बंधन आँखि हमारिया, एकौ चरित न सूझि ।
सोवत सपनौ देखियौ, कौऊ करै कछु बूझि ।।

का प्रयोग किया है[1] और नौ बार रतना मालिन ने इसका प्रयोग मैना के लिए किया है।[2] इस शब्द का प्रयोग जहाँ मालिन अथवा मैना ने किया है, वहाँ उसे किसी तरह भी कवि के नाम की छाप नहीं माना जा सकता। वहाँ वह या तो मैना के नाम का सम्बोधन है, या मैना ने अन्य पुरुष में अपनी बात कही है। अगर रचयिता का नाम साधन होता तो वह इस शब्द का ऐसा प्रयोग कदापि नहीं करता। फिर, वह

सोरठा

जिन कलि बिलसीएह, असदल गजदल दलमले।
साधन भये ते खेह, पृथमी चीन्हा नां रहा॥
—साधन कृत मैनासत, सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० १७१

चौपाई

१. दूति बचन जो मालिन कहई। मैना धाय केर मुख चहई॥
तीखे नैन सरूखे बैना। बोले सत्त महासति मैना ॥१३७॥
लाज कानि तोहि कहत न आई। ऐसे बोलन कत पतियाई ॥१३८॥
फाटै तासु नारि कौ हीयौ। एक छडि जिहिं दूज्यौ कीयौ॥
एक-एक रटत जि देहूँ। जग दूसर को नाम न लेहुं॥१४०॥
ऐसी मोहि कूं कहा सुनावै। एह मेरे मन नैक न भावै॥

दोहा

मोर भंवर जस मालिनी, रूप कि पूजै कोई।
जोरे स्याम गुबरीरा, भंवर कि सरमर होइ॥

दोहा

नार अकेली सेज सावन तौ बरसै घनौ।
काती होय करेज साधन चमकै बीजुरी॥
सावन चमकै बीज सखिहर खेलै हिंडोलना।
सब कोउ खेले तीज साधन सूती पिउ बिना॥१४७॥
—वही, पृ० १८०-८१

सोरठा

२. समद कि पारै जाहि पवन कि बाँधा बाँधिए।
साधन कौन खटाइ माघ अकेली गोरडी॥
सूनी सेज सनेह दोइ जन बिन कैसे रहै।
प्रीत पुरानी तेह माघ न देखे नैन सूं॥

चौपाई

साधन माह तुरंगम बाजै। सुरनर देव मुनीजन राजै॥
महा तुषार महाअहंकारी। तेरो कंथ न देखूं बारी॥
भाजै पाँच इन्द्री कै जना। कंत असोप भंवर भये मना॥
एह रित आली जान न दीजै। सरस सुघड़ तन मैला कीजै॥
—साधन कृत मैनासत, सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० १९३-९४

भी उल्लेखनीय है कि 'बीसलदेव रास'[1] में राजमती के लिए और 'ढोला मारूरा दूहा'[2] में मारवणी के लिए 'साधन' शब्द का प्रयोग हुआ है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि 'नायिका' के लिए इस शब्द के प्रयोग का चलन प्राचीन साहित्य में था। 'साधन' में 'सा' संस्कृत अन्य पुरुष सर्वनाम का स्त्रीलिंग रूप है और 'धन'[3] स्त्री-बोधक है। अतएव नायिका के अर्थ में इसका प्रयुक्त होना स्वाभाविक ही है। यही 'साधन' यत्र-तत्र 'साइधन', 'सायधन' आदि हो गया है।

अब इस बात का उत्तर अपेक्षित है कि 'मैनासत' के प्रारम्भ और अंत में, जहाँ 'साधन' शब्द मैना के लिए किसी भी तरह प्रयुक्त नहीं है, यह शब्द क्योंकर आया। प्रारम्भ मे वंदना वाला अंश स्पष्टतः प्रक्षिप्त मालूम पड़ता है।[4] वंदना के बाद जगत की नश्वरता का वर्णन करते-करते एकाएक कथा शुरू हो जाती है। कवि एक पंक्ति क्या, एक शब्द में भी कथा का सकेत नही देता। नाहटा जी द्वारा प्रस्तुत हिन्दी ग्रंथवीथिका के पाठ में तो कथा का प्रारम्भ और भी अस्वाभाविक है कथा स्तुति वाले अंश के प्रक्षेप की सम्भावना को पुष्ट करता है। इससे स्पष्ट है कि पुस्तक के मूल भाग में 'साधन' शब्द के अनेक बार प्रयोग देखकर इसको स्वतंत्र रूप देने का प्रयत्न करने वाले लिपिकार ने अपनी प्रति में 'साधन' की छाप लगा दी। अंत में कवि जब अपनी टिप्पणी दे रहा है तो उसमें भी दो बार 'साधन' शब्द आया

---

१. (क) साधण बोलइ सुणि राव का पूत।
ऊलग जाए कउ धरउ कुपुत ॥—४८

(ख) साधण ऊभी छइ टेकि कमाडि।
कडिहि पटोलि चूनड़ी सार। —५८

—बीसलदेव रास, सं० डॉ० माताप्रसाद गुप्त

२. रूप अनुपम मारुवी, सुगुणी नयण सुयंग।
साधण इण परि राखिजइ जिमि सिवमस्तक गंग ॥४५३॥

\+ \+ \+

ढोला साधण मांणने, भीणी पाँसलियाँह।
कइ लामे हर पूजियाँ, हेमाले गलियाँह ॥४६७॥

\+ \+ \+

मारू देस उपन्नियाँ, नड़ जिम नीसरियाँह।
साइधण, ढोला, एहवी, सरिजिम पद्धरियाँह ॥४८३॥

—ढोला मारुरा दूहा, ना० प्र० सभा

३. प्रामाणिक हिन्दी कोश, रामचंद्र वर्मा, पृ० ५७१

४ —यह प्रकट है कि 'मैनासत' की कल्पना मूलतः स्वतंत्र रचना के रूप में नहीं, प्रत्युत लोर कहा की कथा के एक नवीन विस्तार के रूप में की गयी थी और पीछे उसको प्रारम्भ में स्तुति तथा जगत् की नश्वरता सम्बंधी कुछ छंद देकर एक स्वतंत्र रूप दे दिया गया। —डा० माताप्रसाद गुप्त, 'प्राचीन हिन्दी काव्यों में पूरक कृतित्व', हिन्दुस्तानी, भाग २०, अंक १

है, किंतु एक स्थान पर उस शब्द को कवि की छाप नहीं भी माना जा सकता है।[1] तत्रोक्त एक दोहे के द्वितीय चरण में यह शब्द आया है, जिसका अर्थ होगा 'जैसा साधन होगा वैसा ही आगे साध्य भी मिलेगा' अथवा 'जैसा उपाय किया जायेगा, आगे फल भी वैसा ही मिलेगा'। अंतिम दोहा भरत वाक्य की तरह है जिसमें 'साधन' शब्द अवश्य ही कवि की मणिता के रूप में है।[2] परंतु यह दोहा सभी प्रतियों में नहीं है। श्री अगरचंद नाहटा ने हिन्दी ग्रंथवीथिका में जो दो पाठ प्रस्तुत किये हैं, उनमें से एक में ही यह दोहा आया है। अतएव इस दोहे की प्रामाणिकता विचारणीय है। इस तरह साधन नामधेय कवि का अस्तित्व असंदिग्ध नहीं कहा जा सकता।

श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ने यह अनुमान भिड़ाया है कि 'मैनासत', 'साधन' छद्म नामधारिणी कवयित्री की निजी कथा है। उनका यह अनुमान अंतःसाक्ष्य से निराधार सिद्ध होता है और बहिस्साक्ष्य है नही। श्री अगरचंद नाहटा ने, उपलब्ध एक प्रति की पुष्पिका में ग्रंथकार का नाम मियाँ साधन लिखा है देखने के कारण, 'मैनासत' का रचयिता साधन नामक मुसलमान को माना है।[3] किंतु नाहटा जी ने जिसको प्रमाण माना है वह प्रतिलिपिकार के प्रमाद का उदाहरण मात्र है। सन् १६२० ई० के आसपास दौलतकाजी ने बंगाल में 'सती मयना औ लोरचंद्राणी' की रचना की थी, जिसमें 'मैनासत' की मूल-कथा मिलती है। दौलतकाजी ने यह स्वीकार किया है कि 'मैनासत' का कथाकार साधन है, यह असंभव नहीं कि जो भ्रम आज हो रहा है वही दौलतकाजी को भी हुआ होगा। 'मैनासत' का रचनाकाल द्विवेदी जी ने १४८०-१५०० ई० के बीच अनुमित किया है।[4] यह इसके स्वतंत्र एवं लिखित रूप मिलने का काल हो सकता है। इसी ईस्वी के आसपास लिखी गयी चतुर्भुजदास निगम की 'मधुमालती' तथा मुल्ला दाऊद की 'लोरकहा' या 'चंदायन' में 'मैनासत' की कथा आयी है। सबमें प्रारम्भ प्रायः समान है, जो इस सम्भावना को पुष्ट करता है कि मूलतः यह कथा लोककंठ की है, जहाँ से लेकर 'मधुमालती' और 'चंदायन' में दृष्टांत-स्वरूप प्रस्तुत किया गया है।

'मैनासत' की प्राप्त सभी प्रतियों के विस्तार में पर्याप्त अंतर है। नागरी प्रचारिणी सभा के खोज विवरण में विवृत प्रति का विस्तार १८० श्लोक है। श्री हरिहरनिवास द्विवेदी द्वारा सम्पादित पाठ में ४९८ पद्य-संख्या दी गयी है। हिन्दी ग्रंथवीथिका में मुद्रित दोनों पाठों में पाँच-पाँच चौपाइयों पर एक दोहा और एक

---

१. पाप पुन्य दोउ बीज जो बोय सो उपजै।
साधन जसा कीजिए तैसा आगू पावजै॥
—मैनासत, सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० २०५

२. सत मैना को साधन थिर राखो करतार।
कुटनी देस निकारी किनी गंगा कै पार॥
—साधन कृत मैनासत, स० हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० २०६

३. हिन्दी ग्रंथवीथिका, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा विश्वविद्यालय

४. साधन-कृत मैनासत, सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० ८८

सोरठा दिया हुआ है। दोनों में दोहे और सोरठे के क्रम में एकरूपता नहीं है। कहीं पर एकाधिक दोहे और एकाधिक सोरठे मिलते हैं। इस तरह प्रथम में १७ दोहे तथा २० सोरठे एवं द्वितीय में १६ दोहे और १७ सोरठे आये हैं।

'मैनासत' के आदि में स्तुति है, अंत में फलश्रुति, आदि नहीं है। कथा सर्गबद्ध नहीं है। कथा इस प्रकार है: बरनापुरी में लालनशाह नामक एक महाजन रहता था। उसकी पत्नी मैना अत्यंत रूपवती थी। अन्य महाजनों के साथ एक बार लालन परदीप चला गया। मैना विरह में तड़पने लगी। उस नगर के राजा के पाँच पुत्र थे जिनमें से एक बड़ा दुष्ट था। उसके मन में मैना बसी हुई थी। उसने अपने मित्र सातन से अपने मन की बात कही। उसने रतना मालिन को इसके लिए नियुक्त किया। रतना मैना के पास गयी और कहा कि जब तुम बच्ची थी तो मैं तुम्हारी परिचायिका थी। मैना ने मुक्त हृदय से उसका स्वागत किया। रतना मैना के साथ रहने लगी और जाल फेंकने लगी। मैना समझ गयी कि यह दाई नहीं दूती है। रतना के अनीतिपूर्ण वचन व्यर्थ सिद्ध हुए। इसी समय एक दूत यह पत्र लेकर आया कि लालन आ रहा है। मैना उल्लसित हो उठी। उसने उल्लास भरे हृदय से प्रियतम का स्वागत किया। रतना का केश मुड़ा कर और उसके माथे पर टीका लगाकर गधी पर चढ़ा कर विदा कर दिया।

ढोलामारुरा दूहा—'मैनासत' की ही तरह यह भी अज्ञातनामा कवि की लोक-कंठस्थित कृति है और अनेक कवियों के द्वारा इसने लिखित रूप पाया है। अनुमान किया गया है कि इसके मूल रूप का उद्‌भव १४४३ ई० के आसपास हुआ होगा जिसको कुशल लाभ ने १५६१ ई० में पुस्तकीकृत किया।[1] यह पुस्तक सर्वश्री रामसिंह सूर्यकरण पारीक तथा नरोत्तमदास स्वामी द्वारा सम्पादित होकर ना० प्र० सभा से प्रकाशित हो चुकी है।

भिन्न-भिन्न ६७४ छंदों में ढोलामारु की कथा इसमें कही गयी है। आदि एवं अंत में स्तुति, आदि कुछ नहीं है। कथा भी अविभाजित चली है जो इस प्रकार है: एक समय पूगल में पिंगल और नरवर में नल नामक राजा राज्य करते थे। पिंगल को एक लड़की थी मारवणी और नल को एक लड़का था ढोला। एक बार पूगल में भीषण अकाल पड़ा जिसमें पिंगल ने नल के पास जाकर आश्रय लिया पिंगल की रानी ढोला के सौंदर्य पर मुग्ध होकर अपनी पुत्री मारवणी का विवाह उससे कर दिया। उस समय ढोला तीन वर्ष का और मारवणी डेढ़ वर्ष की थी। दुर्भिक्ष समाप्त होने पर पिंगल अपने परिवार के साथ पूगल लौट आया। छोटी होने के कारण मारवणी ससुराल में न रहकर अपने माता-पिता के साथ चली आई। उधर ढोला के वयस्क होने पर नल ने उसका विवाह मालवा की राजकुमारी मालवणी से कर दिया और मारवणी से उसके परिणय की बात छिपा रखी।

मारवणी जब युवती हुई तो उसके पिता ने ढोला के पास कई दूत भेजे किंतु मालवणी ने रास्ते में ऐसा प्रबंध कर रखा था कि सभी दूत मार डाले जाते थे। अंत

१. ढोला-मारुरा दूहा, ना० प्र० सभा, में म० म० गौरीशंकर हीराचंद ओझा का प्रवचन, पृ० ७

में कुछ गायिकाओं को संदेश देकर नरवर भेजा गया जो अपने गान की मोहकता के कारण मालवणी के दूत के पंजे से भी निकलकर ढोला को मारवणी का संदेश सुना पाने में समर्थ हो सकी। मालवणी ने बाधा डालने का प्रयत्न किया लेकिन ढोला पूगल पहुँच गया और मारवणी को लेकर नरवर लौट आया।

इस प्रेम-कहानी पर कल्लोल ने १४७३ ई० में 'ढोलामारुरा दूहा'[1], हरराज ने १५५० ई० में 'ढोला मारवणी चउपई'[2], और कुशल लाभ ने १६१६ ई० में 'ढोलामारु चौपाई'[3] की रचना की।

विद्वानों ने इन काव्यों को प्रेमाख्यानकों में परिगणित किया है। 'मैनासत' में तो सांगरूपक का दर्शन कर उसे सूफी प्रेमाख्यानकों की श्रेणी में प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया गया है।[4] किंतु ऐसे प्रयत्नों से इन काव्यों की महत्व-वृद्धि के बदले महत्व-हानि ही होगी। 'मैनासत' में सांग अथवा निरंग रूपक का कोई आभास नहीं मिलता है, और 'ढोलामारुरा दूहा' भी प्रेमाख्यानकों से सर्वथा भिन्न है। इन दोनों खंडकाव्यों का प्रेमाख्यानकों से मात्र इतना ही सम्बंध है कि इनका भी विषय प्रेम है। अगर इनके प्रेम को ही देखा जाय तो सूफी एवं सूफीतर प्रेमाख्यानकों से इनमें स्पष्ट अंतर लक्षित होता है। इन दोनों का प्रेम स्वकीया का प्रेम है जबकि विशुद्ध प्रेमाख्यानकों में वर्णित प्रेम परकीया का प्रेम होता है। 'मैनासत' में मैना और लालन का तथा 'ढोला मारुरा दूहा' में ढोला और मारवणी का मिलन बिछुड़े हुए दम्पति का मिलन है जो सामाजिक रीति से परिणय-सूत्र में संयुक्त हुए थे। इनमें प्रेम की तीव्रता निष्ठा-जनित है, प्रेमाख्यानकों में वह तीव्रता स्वच्छंदता जनित होती है।

यद्यपि 'ढोलामारुरा दूहा' में मारवणी स्वप्न में ढोला को देखकर विरह में तड़पने लगती है तथापि उसका प्रेम स्वछंद नहीं कहा जा सकता। स्वप्न यहाँ पूर्णतया आकस्मिक नहीं है और ऐसा नहीं कहा जा सकता कि स्वप्न देखने के दिन से ही ढोला के प्रति उसके मन में प्रेम उत्पन्न हुआ। वह ढोला की विवाहिता पत्नी थी। परिजन-पुरजन से अबोध शैशव में अपने ग्रंथि-बंधन की कथा सुन-सुन कर ढोला के प्रति उसका अनुराग दृढ हो गया होगा। अतएव जब उसके अंग-अंग में यौवन कसमसाने लगा तो स्वभावतः ही ढोला उसके सपने में आया। ये बातें वर्णित नहीं पर इस रूप में ध्वनित है कि पाठकों को कोई शंका नहीं होती। इस तरह ढोला-मारवणी के प्रेम को स्वप्न-दर्शन जनित प्रेम कभी नहीं कहा जा सकता। मारवणी का स्वकीयात्व उसी के शब्दों में स्पष्ट है। वह अपनी सखियों से कहती है कि यद्यपि प्रियतम अनदेखा है तथापि मैं उसे भूल नहीं सकती, वह मेरे हृदय में विराजमान है।[5]

---

१. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया, पृ० १०१

२. काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, डा० शकुंतला दूबे, पृ० १०६-१०

३. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ सूची, भाग १, क्रमांक ७०६

४. साधन कृत मैनासत, सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, प्रस्तावना, पृ० ९९-१००

५. सखिय सज्जण वल्लहा जइ अणदिट्ठा तोइ।
खिण खिण अंतर संभरइ, नहीं विसारइ सोइ ॥२३॥

—ढोला मारुरा दूहा, ना० प्र० सभा

इसी तरह ढोला कर्तव्य के आग्रह से मारवणी से मिलने के लिए प्रयत्नशील होता है। इसके विपरीत प्रेमाख्यानकों के नायक-नायिका मिलन के पूर्व सर्वथा अपरिचित और असम्बंधित होते हैं तथा वे एक-दूसरे से मिलने के लिए इस कारण व्यग्र होते हैं कि दूत द्वारा कथित सौंदर्य उनको उन्मत्त बना देता है। इस स्वछंद भावना का 'ढोला-मारुरा दूहा' और 'मैनासत' में अभाव है।

फिर, इन दोनों के कथा-विन्यास में भी प्रेमाख्यानकों से स्पष्ट अंतर है। प्रेमाख्यानकों में समाविष्ट अवांतर कथाएँ उन्हें कथा-काव्य के निकट ले जाती हैं, जो उनकी आख्यानक संज्ञा से भी स्पष्ट है। 'ढोला-मारुरा दूहा' और 'मैनासत' की कथा योजना ऐसी नहीं है। यहाँ संवेदन को तीव्रतर और प्रभाव को गहनतर बनाने के लिए कथा में मोड़ लाये गये हैं। इन काव्यों को खंडकाव्य मानने का यही आधार है।

(ख) स्वछंद प्रेममूलक

उषा-अनिरुद्ध-सम्बन्धी

(१) **उषा चरित्र (परशुराम)**—इसकी हस्तलिखित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में सुरक्षित है।[1] उसमें रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल, १७७६ ई० है। नागरी प्रचारिणी सभा को भी खोज में इसकी हस्तलिखित प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं।[2] रचनाकाल इनमें से किसी में भी नहीं दिया हुआ है। प्राचीनतर लिपिकाल १७६८ ई० है जो प्रति १९२३-२५ की खोज में प्राप्त हुई है। परशुराम का परिचय पीछे दिया जा चुका है।

विविध छंदों में कथा कही गयी है जो अध्यायों में विभक्त नहीं है। इसमें कुल ५८ पत्र हैं। प्रारम्भ में स्तुति नहीं की गयी है, एक साथ कथा ही शुरू हो जाती है। अन्त में ग्रंथ-महात्म्य कथित है। कथा इस तरह है : एक दिन बाणासुर की पुत्री ने अपनी माता से शिव की पूजा करने की अनुमति प्राप्त की। उसने शिव को प्रसन्न कर एक ध्वजा प्राप्त की। राजकुमारी ने वह ध्वजा अपने पिता को दे दी। मंत्री यह देखकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसने कहा कि इस ध्वजा को महल पर फहरा दिया जाय, इसके द्वारा शंकर नगर की रक्षा करेंगे।

द्वापर की कथा है। उस समय द्वारामती नगरी में कृष्ण का राज्य था। उनका पौत्र अनिरुद्ध बड़ा ही रूपवान् था। कालक्रमानुसार बाणासुर की कन्या युवती हुई। वह अत्यन्त रूपवती थी। एक रात अनिरुद्ध ने स्वप्न में उषा को देखा। उसी रात उषा ने भी अनिरुद्ध का स्वप्न देखा। दोनों एक दूसरे के लिए व्याकुल हो उठे। उषा विरह में तड़पने लगी। उसकी सखी चित्ररेखा ने इस बात को लक्ष्य किया और उसने उषा से पूछकर सारी बातें जान लीं। चित्ररेखा ने उस समय सभी सुन्दर पुरुषों का चित्र बनाकर कहा कि अपने मनभावने को पहचान लो। उषा ने अनिरुद्ध को पहचान लिया। चित्ररेखा उषा को अनिरुद्ध से मिलाने के लिए द्वारामती चल

१. पुस्तक संख्या १३४६।२११५

२. खोज विवरण, सभा, १९२३-२५, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ३११, १९२६-२८, द्वि० परि० संख्या ३४४, और १९२९-३१, द्वि० परि० संख्या २६४ ए

पड़ी। वहाँ चक्र सुदर्शन नगरी की रक्षा कर रहा था, अतः चित्ररेखा आगे बढ़ने में असमर्थ हो गयी। उसी समय नारद वहाँ पहुँचे। चित्ररेखा ने सारी बातें बताकर उनसे सहायता की याचना की। नारद ने उसे महल में प्रवेश करा दिया।

चित्ररेखा महल में बैठकर अनिरुद्ध से मिली और उषा का उसने परिचय दिया तथा उषा के स्वप्न की बात कही। अनिरुद्ध की भी तो यही दशा थी। अतः उसने सहर्ष चित्ररेखा के साथ उषा से मिलने के लिए जाना स्वीकार कर लिया। उषा-अनिरुद्ध परस्पर गंधर्व विवाह कर आमोद-प्रमोद करने लगे।

बहुत दिनों तक उषा की माता उषा को देख भी न सकी। तब उसने दासी को आदेश दिया कि पता लगाओ, उषा कहाँ रहती है और क्या करती है। दासी ने उषा के महल में जाकर सेज पर सोये हुए अनिरुद्ध को देखा। उसने आकर रानी से यह बात कह दी और रानी ने राजा को यह बात कही। राजा बड़ा क्रुद्ध हुआ। उसने सेना सजाने का आदेश दिया और शीघ्र ही एक बड़ी सेना ने उषा के महल को घेर लिया। अनिरुद्ध अकेले उनसे युद्ध करने लगा। भीषण युद्ध के बाद नाग बाण चला कर बाणासुर ने अनिरुद्ध को बाँध लिया।

नारद घूमते-घामते एक दिन वहाँ पहुँचे। उन्होने समझाया कि अनिरुद्ध को छोड़ दो किंतु बाणासुर ने उनकी बात नही मानी। तब वे द्वारामती आये। वहाँ अनिरुद्ध का पता न पाकर सब लोग पहले ही से चिंतित थे। कृष्ण ने नारद से पूछा कि आप तो सर्वत्र भ्रमण करते हैं। अनिरुद्ध का पता बताइये। उन्होंने अनिरुद्ध की सारी कथा कृष्ण को सुना दी। कृष्ण ने छप्पन कोटि यादवों को आमंत्रित किया और बाणासुर की नगरी विदर्भ पर चढ़ जाने का आदेश दिया। घोर संग्राम हुआ। बाणासुर की ओर से शिव भी रण में आ गये। नारद की मध्यस्थता से लड़ाई रुकी। उषा अनिरुद्ध का विधिवत् विवाह हुआ और यादवगण द्वारामती लौट गये।

(२) **उषाहरण (देवीदास)** — इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में उपलब्ध हुई है।[1] इसमें रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल १७६० ई० है। इतिहास-ग्रंथों में अनेक देवीदास का उल्लेख है, किंतु समय को देखते हुए देवीदास बुंदेलखंडी को ही 'उषा-हरण' का रचयिता मानना पड़ता है। शिवसिंह सेंगर ने इन्हें १६८५ ई० में उपस्थित माना है। उक्त ईस्वी में ये करौली-नरेश भैया रतनपाल सिंह के यहाँ गये और अन्त समय तक वहीं रहे।[2] मिश्रबंधु[3] और ग्रियर्सन[4] ने सरोजकार के मत का समर्थन किया है। इनका एक ग्रंथ 'प्रेम-रत्नाकर' कहा जाता है। विविध रागों में इन्होंने उषा-अनिरुद्ध की परम्परागत कथा कही है। आदि में स्तुति और अंत में फलश्रुति है।

---

१. खोज विवरण, सभा, १९३८-४० द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ३९
२. शिवसिंह सरोज, पृ० ३३६
३. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ५१४
४. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन) अनु० किशोरीलाल गुप्त, पृ० १८०-८१

(३) **उषा-अनिरुद्ध-विवाह** (गोपाल)—इसकी एक हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में उपलब्ध हुई है।[1] इसमें रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल १७४५ ई० है। ये सोलहवीं शती ईस्वी के अन्त में विद्यमान थे। इनका परिचय धर्ममूलक खंडकाव्यों के प्रसंग में दिया जा चुका है। सभा को उपलब्ध प्रति अपूर्ण है। प्रथम चौदह पत्र लुप्त हैं। इस तरह पूरा प्रथम अध्याय और द्वितीय अध्याय का कुछ अंश खंडित है। सम्पूर्ण पुस्तक दो अध्यायों में विभक्त है जिनमें २१२ भिन्न-भिन्न छंद हैं। शेषांश देखने पर कथा परशुराम के 'उषाचरित्र' की कथा से मिलती-जुलती प्रतीत होती है।

(४) **उषा-अनिरुद्ध की कथा** (भारपशाह)—इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में उपलब्ध हुई है।[2] इसकी रचना १७४० ई० में हुई है।

(५) **उषा चरित्र** (रामदास)—इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति हिन्दी विद्यापीठ, आगरा में सुरक्षित है। इसमें रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल १८३२ ई० है। इनका विद्यमान-काल १७५० ई० के पूर्व है। इनका परिचय पीछे दिया जा चुका है।

प्रस्तुत प्रतिलिपि खंडित है। आरम्भ के ३६ पृष्ठ और ६ अध्याय खंडित हैं। केवल ७६ पत्रों की कथा को १७ अध्यायों में विभक्त किया गया है। दोहा और चौपाई छंदों का प्रयोग किया गया है। अध्याय के बीच में भी वर्णन-संकेत दिये गये हैं।

शेषांश की कथा बाणासुर के बाग-वर्णन से आरम्भ होती है। बाणासुर की पुत्री उषा अत्यन्त रूपवती थी। एक दिन वह अपनी सखियों के साथ वहाँ गयी जहाँ शिव पार्वती विराजमान थे। उषा ने पार्वती की आराधना कर उन्हें प्रसन्न किया। पार्वती ने यह आशीष दिया कि स्वप्न में तुम अपने प्रियतम से मिलोगी। यथासमय उषा स्वप्न में अनिरुद्ध से मिली। नींद टूटने पर वह बहुत व्याकुल हुई। उसकी सखी चित्ररेखा ने उसकी उदासी को लक्ष्य किया और कारण पूछा। उषा ने भी सारी बातें बता दीं और उससे सहायता की याचना की। चित्ररेखा सभी लोकों के सुन्दर पुरुषों के चित्र बनाकर दिखाने लगी। जब द्वारका के पुरुषों के चित्र बने तो उषा ने अनिरुद्ध को पहचाना। चित्ररेखा शीघ्र द्वारका को विदा हुई और वह अनिरुद्ध को हर कर उषा के पास ले आयी। अनिरुद्ध नींद टूटने पर घबराया पर चित्ररेखा ने उसे सारी बातें समझा दीं। तब वह बिना आपत्ति किये हुए उषा के महल में रहने लगा।

अनिरुद्ध के शोणितपुर में आ जाने पर बाणासुर के महल की ध्वजा टूट कर गिर पड़ी। शिव के निर्देशानुसार वह समझ गया कि मेरा शत्रु मेरे नगर में पहुँच गया है। उसने पता लगाने के लिए कुछ कुटिनियों को नियुक्त किया। बाणासुर अनिरुद्ध का पता पा गया। उसने योद्धाओं को उषा का महल घेरकर अनिरुद्ध को

१. खोज विवरण, सभा, १९३८-४०, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ३२
२. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग, सभा, पृ० १७

मार डालने का आदेश दिया। अनिरुद्ध ने अकेले ही सब को परास्त कर दिया। तब बाणासुर स्वयं रण में उपस्थित हुआ। उसने ब्रह्मपाश में अनिरुद्ध को बाँध लिया। इस युद्ध में उषा ने अनिरुद्ध की पूरी सहायता की किंतु उसे ब्रह्मपाश से मुक्त न करा सकी। नारद ने वहाँ उपस्थित होकर लंका में हनुमान के ब्रह्मपाश में बँध जाने की कथा सुनायी और उसे धैर्य दिया।

नारद कृष्ण को यह खबर देने के लिए द्वारका चल पड़े। लेकिन उषा को यहाँ चैन नहीं थी। उसने अपनी माता को जाकर अनिरुद्ध का महत्व समझाया। उसकी माता ने अनिरुद्ध को छोड़ देने के लिए बाणासुर से अनुरोध किया पर उसने उसकी एक न सुनी। तब तक कृष्ण दल-बल के साथ शोणितपुर पर चढ़ गये। भीषण संघर्ष हुआ। जब बाणासुर के पैर उखड़ने लगे तो शिव भी उसके सहायतार्थ आ गये। पुनः भयंकर युद्ध होने लगा। नारद ने आकर बीच-बिचाव किया। बाणासुर ने क्षमा प्रार्थना की। उषा अनिरुद्ध का विधिवत् विवाह हुआ और सब लोग हर्ष मनाते हुए द्वारका लौट गये।

(६) **उषा चरित्र (कुंजमणि अथवा कुंजदास)**—इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित हैं।[1] ग्रंथ की पुष्पिका में 'इति श्री कुंजमणि कृत उषा' 'चरित्र सम्पूर्णम्' लिखा हुआ है जिससे रचयिता का नाम कुंजमणि ज्ञात होता है किंतु कविता में 'दासकुंज' और 'कुंजदास' की छाप मिलती है।[2] इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कवि का नाम कुंजमणि रहा हो जिसको वे कविता में संक्षेप के लिए कुंजदास प्रयोग करते हों या यह भी सम्भव है कि कुंजदास नाम ही कुंजमणि की जगह व्यवहार प्रचलित रहा हो। 'उषा चरित्र' की रचना १७७४ ई० (कार्तिक सुदी १२, संवत् १८३१) में हुई।[3] ६१४।६४० संख्यक प्रति का रचयिता सभा वालों द्वारा जनकुंज बताया गया है किंतु वस्तुतः दोनों पुस्तकें एक ही हैं और दोनों के रचनाकार एक ही हैं कुंजदास या कुंजमणि। कुंजदास नाम तो दोनों प्रतियो मे स्वयं कवि द्वारा प्रयुक्त है और जनकुंज' में 'जन' दास-बोधक है। इस पुस्तक की हस्तलिखित प्रतियाँ नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में मिली हैं।[4] मिश्रबंधुओं ने इनका नाम कुंजकुँवर भी लिखा है और इन्हें ओरछा का बताया है।[5] शिवसिंह सेंगर[6] और ग्रियर्सन[7] ने इन्हें जयपुर का गौड़ ब्राह्मण

१. पुस्तक संख्या ६११, ६३८, और ६१४, ६४०
२. (क) दास कुंज पावन भये कृष्ण चरित यह गाय।—६११, ६३८ संख्यक प्रति
(ख) कुंजदास पावन भये कृष्ण चरित यह गाय।- ६१४, ६४० संख्यक प्रति
३. एक सहस पर आठ सें संवत शुभ इक्तीस।
कातिक सुदी जु द्वादशी कृपा करी जगदीश।—६११, ६३८, संख्यक प्रति
४. खोज विवरण, सभा, १९२०-२२ द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ९१ और १९२६-२८, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या २५२ बी
५. मिश्रबंधु विनोद, पृ० ८१०
६. शिवसिंह सरोज, पृ० ३९१
७ हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (ग्रियर्सन), अनु० किशोरीलाल गुप्त, पृ० ८०३

माना है और इनका नाम कुंजगोपी लिखा है । इस तरह इनके नाम में विविधता पायी जाती है परन्तु इनका वास्तविक नाम कुंजदास ही प्रतीत होता है ।

इनकी दूसरी पुस्तक 'पत्तल' है, जिसका प्रणयन १७७६ ई० (बैशाख सुदी द्वितीया, सं० १८३३ ई०) में हुआ।[1] इसमें राम-लक्ष्मण का विवाह वर्णित है।

इस खंडकाव्य की रचना दोहे और चौपाइयों में हुई है और कथा का सर्गीकरण नहीं हुआ है। १२० छंदों में रचना समाप्त हुई है। आदि में स्तुति और अंत में फलश्रुति है। कथा इस प्रकार है: विदुम देश में संतपुर नामक एक गाँव में बाणासुर राज्य करता था जिसकी पुत्री उषा अत्यन्त रूपवती थी। जब वह युवती हुई और उसका अंग-अंग निखर उठा तो एक दिन स्वप्न में उसने अनिरुद्ध को देखा। उसके रूप पर वह आसक्त हो गयी और उसके विरह में तड़पने लगी, पर न तो वह उसका नाम जानती थी और न पता। अतः वह उसे पाने का भी उद्योग कैसे करती। विरह में दिन-प्रतिदिन वह घुलने लगी। कहे भी तो किससे! उसकी एक सखी ने इस बात को ताड़ लिया और वह पूछ बैठी। उषा ने सारी बातें बतायीं। उस सखी ने कहा कि मैं तीनों लोकों के सुन्दर एवं गण्यमान पुरुषों का चित्र बनाती हूँ, तुम पहचानो। सखी ने जब द्वारकापुरी के पुरुषों के चित्र बनाये तो उसमें अनिरुद्ध का चित्र भी बना जिसे देखकर उषा ने तुरन्त पहचान लिया।

अब वह सखी उषा के विरह को अनिरुद्ध तक पहुँचाने का भी यत्न करने लगी। वह द्वारकापुरी पहुँची। वहाँ नारद मिले जिन्होंने कहा कि अनिरुद्ध को उषा का विरह बताओ। अनिरुद्ध भी विरह में तड़फने लगा। परिजनों ने उसे रुग्ण समझकर वैद्यों द्वारा उसकी चिकित्सा करानी शुरू की। वह सखी वैद्य बनकर पहुँची। उसने कहा कि रात में मैं अनिरुद्ध को स्वस्थ कर दूँगी। अन्य वैद्य चले गये किंतु वह छद्म वैद्य रह गयी। रात में अनिरुद्ध को उषा के महल में ले आयी। उषा और अनिरुद्ध के दिन हास-विलास में कटने लगे।

कुछ दिनों के बाद उषा की माता इस रहस्य को जान गयी। उसने कहा कि तुम कंचन होकर कौड़ी के मोल बिक रही हो। उषा ने उसे आश्वासन दिया कि मैं मनोनुकूल वर पा गयी हूँ। तब भी उसकी माता ने यह बात पिता से कह दी। बाणासुर यह सुनकर क्रोध से जलने लगा। उसने कई योद्धाओं को आदेश दिया कि दोनों को शीघ्र मार डालो लेकिन प्रद्युम्न ने अकेले ही उन योद्धाओं को परास्त कर दिया। तब बाणासुर ने स्वयं अनिरुद्ध से मल्ल युद्ध किया और उसे नागफाँस में बाँध लिया।

उषा पुनः व्याकुल हो उठी। अब उसे चिंता हुई कि वह अनिरुद्ध को कैसे मुक्त करावे। इसी बीच नारद आये और उन्होंने बाणासुर से कह कर अनिरुद्ध का नागफाँस कटवाया। नारद द्वारकापुरी आये और कृष्ण से सारी बातें कहीं। उन्होंने छप्पन कोटि यदुवंशियों को युद्ध करने के लिए भेजा। यदुवंशी और बाणासुर की सेना में घोर संग्राम होने लगा। शिव भी बाणासुर के सहायतार्थ आ गये; क्योंकि वह उनका भक्त था। बाणासुर की ओर से रोग-शर छोड़े गये और यदुवंशी रोग-

१. खोज विवरण, सभा, १६२६-२८, प्रथम परिशिष्ट, संख्या २५२

पीड़ित होकर रण से विरक्त होने लगे। तब श्रीकृष्ण स्वयं रणभूमि में आ गये। उन्होंने ओषधि-बाण से अपनी सेना को रोग-मुक्त कर भयंकर युद्ध प्रारम्भ कर दिया। कृष्ण और शिव में भी युद्ध हुआ। जब युद्ध की भीषणता बहुत बढ़ गयी तो बाणासुर की माता युद्धभूमि में आ गयी। वह नग्न होकर वहाँ दौड़ने लगी। युद्ध अचानक बंद हो गया। बाणासुर की माता ने श्रीकृष्ण से प्रार्थना की कि हे प्रभु, बाणासुर तुम्हारी श .ण में है! बाणासुर भी आत्म-समर्पण कर स्तुति करने लगा। युद्ध का अंत हुआ और मंगलोत्सव का श्रीगणेश। धूमधाम से उषा-अनिरुद्ध का परिणय सम्मन्न हुआ।

(८) **उषा अनिरुद्ध का ब्याह (रामचरण)**—इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में उपलब्ध हुई है।[1] इसका रचना काल १८०२ ई० है।[2] ये लखनऊ जिलांतर्गत मांडा के निवासी थे।

इन्होंने आद्योपांत आल्हा छंद में अनिरुद्ध का विवाह वर्णित किया है। ग्रंथ के आदि में स्तुति है और अन्त में विनय-प्रदर्शन। कथा को सर्गों में बाँटा नहीं गया है।

राजा परीक्षित को शुकदेव जी यह कथा सुना रहे हैं। बाणासुर का वंश परिचय यह दिया गया है कि ब्रह्मा के वंश में कश्यप जी, उनके हिरण्यकशिपु, उनके प्रह्लाद, उनके वैरोचन, उनके बलि और बलि के बाणासुर। बाणासुर ने घोर तपस्या कर शिव-पार्वती को प्रसन्न किया और तब उनके दर्शन हुए। शिव से वरदान पाकर बाणासुर ने दिग्पालों पर विजय प्राप्त की तथा इंद्र और विधाता को जीतकर अग्नि और पवन का किला बनाया। बाणासुर को अपने बल का गर्व हो गया। भगवान् शंकर ने उसे श्रीकृष्ण के अवतार का रहस्य बताया।

समय चक्र से बाणासुर को एक पुत्री हुई। उसका नाम उषा रखा गया। उसने शिव-पार्वती से विद्या पढ़ी। जब वह युवती हुई तो उसके मन में पति की कामना जगी। एक दिन स्वप्न में उसने अनिरुद्ध को देखा। उषा ने चित्ररेखा से स्वप्न की बात कही। चित्ररेखा ने तीनों लोकों का नक्शा खींचकर उषा को दिखाया। उषा ने उसमें अनिरुद्ध को पहचान लिया। अब चित्ररेखा उषा को अनिरुद्ध से मिलाने का यत्न करने लगी। वह वैष्णव का वेष धारण कर अनिरुद्ध के पास गयी और उसे उषा के पास ले आयी। उषा और अनिरुद्ध का मिलन हुआ। दोनों ने परस्पर गंधर्व विवाह कर लिया। उषा की माता ने जब अनिरुद्ध को देखा तो उसके मन में उससे उषा के विवाह कर देने की इच्छा हुई। इसी समय शिव ध्वजा टूटकर गिर पड़ी। बाणासुर चिंतित होकर अपने दरबारियों से इसका कारण पूछने लगा। एक दिन बाणासुर ने अनिरुद्ध को सोते हुए देख लिया। अनिरुद्ध के जगने पर एक बड़ी सेना लेकर उषा के महल को घेरकर पकड़ लिया। चित्ररेखा ने रुक्मिणी की कथा कह कर उषा को धैर्य दिया। उषा बंदी-गृह में जाकर अनिरुद्ध से मिली।

---

१. खोज विवरण, सभा, १९२०-२२, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या १४४

२. श्रावण संवत विक्रमी नवसर वसु शशि लीन।
रामचरण भौंदास्थ ने ग्रंथ समापत कीन।।—वही

चार मास पश्चात् नारद द्वारका गये और कृष्ण से अनिरुद्ध का सारा हाल कहा। कृष्ण एक बड़ी सेना लेकर चल पड़े और आकर शोणितपुर को घेर लिया। बाणासुर को खबर मिली और तब दोनों ओर की सेना भिड़ गयीं। बाणासुर ने शंकर का स्मरण किया। शिव सेना लेकर भक्त-रक्षा के हेतु आये। शंकर और कृष्ण में युद्ध हुआ। बाणासुर से भी कृष्ण का युद्ध हुआ और हार कर वह भाग गया। बाणासुर की माता नंगी होकर कृष्ण के सामने आ गयी। उन्होंने आँखें बंद कर लीं। शंकर-ज्वर और कृष्ण-ज्वर में युद्ध हुआ। बाणासुर ने पुनः कृष्ण से युद्ध किया लेकिन हारकर शंकर-सहित श्रीकृष्ण की स्तुति करने लगा। श्रीकृष्ण ने उसे क्षमा कर दिया और उषा अनिरुद्ध का विवाह कर वे द्वारका लौट गये।

(८) **उषा हरण (जीवनलाल नागर)**—इसकी एक हस्तलिखित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में संगृहीत है।[१] इसका रचनाकाल १८२९ ई० (सं० १८८६ वि०) है। पुस्तक में लिपिकाल नहीं दिया हुआ है। हस्तलिखित ग्रंथाध्यक्ष महोदय ने बताया कि यह प्रति जीवनलाल नागर के पौत्र के हाथ की लिखी है। प्रतिलिपि के अंत में लिखा भी है—

> मो वय षोडस १६ वर्ष को तब यह ग्रंथ बनाय ॥
> शुद्धाशुद्ध सुधारि तुम दोष छिमहु कविराय ॥

मिश्रबंधु विनोद में जो विवरण दिया है उसके अनुसार यह दोहा प्रतिलिपिकार का न होकर स्वयं कवि का है; क्योंकि उन्होंने कवि का जन्म १८१३ ई० में लिखा है।[२] इससे 'उषा हरण' की रचना १६ वर्ष की अवस्था में हुई सिद्ध होती है जो बुद्धि संगत नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि प्रतिलिपिकार के दोहे को कवि की उक्ति समझ कर ही उन्होंने जीवनलाल का जन्म १८१३ ई० में लिख दिया। इनका जन्म १८०९ ई० के पूर्व ही हुआ होगा, पश्चात् नहीं; क्योंकि प्रायः बीस वर्ष की अवस्था के उपरांत ही उन्होने यह पुस्तक लिखी होगी। मिश्रबंधुओं ने इनका मृत्यु काल १८६९ ई० लिखा है।[३] १८४१ ई० में ये बूंदी-नरेश के प्रधान नियुक्त हुए। १८५७ ई० के आंदोलन में इन्होंने अपने आश्रयदाता की बड़ी सहायता की और प्रभूत पुरस्कार पाया। १८६२ ई० में आगरा दरबार में इन्हें जी० सी० एस० आई० की उपाधि प्रदान की गयी। ये संस्कृत, फारसी और हिन्दी के अच्छे ज्ञाता और दस्तकारी में निपुण थे।

'उषा हरण' के अतिरिक्त इनकी निम्नांकित रचनाओं का विनोद में उल्लेख किया गया है।[४]

१. दुर्गा चरित्र
२. भागवतभाषा
३. रामायण

---

१. पुस्तक संख्या १६४५।३२५७
२. मिश्रबंधु विनोद, पृ० १०२४
३. मिश्रबंधु विनोद, पृ० १०२४
४. वही

४. गंगा शतक
५. अवतार माला
६. संहिता भाष्य

इनकी एक गुजराती पुस्तक की हस्तलिखित प्रति भी सम्मेलन में सुरक्षित है।[1]

'उषा हरण' में १७ प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं और ११ तरंगों में सारी कथा कही गयी है। हर तरंग के अंत में अगले तरंग की कथा की सूचना दी गयी है। प्रत्येक तरंग का प्रारम्भ कविरुवाच' से हुआ है और बीच-बीच में भी यह संकेत दिया गया है। कथा के मध्य भी यथास्थान वर्णन-संकेत दिये गये हैं—

—'अथ सुरतांत वर्णनम्', 'इति उषा अनिरुद्ध संभोगः', 'अथ द्वारामती बर्ननम्', 'चित्ररेखा मनसि चिंतितम्', आदि।

ईश-वंदना से कथारम्भ होता है और सम्पूर्ण प्रथम तरंग में स्तुति चलती है। यह तरंग १८ छंदों का है। द्वितीय तरंग में बाणासुर की वंशावली वर्णित है। इसमें १६ छंद हैं। तृतीय तरंग में बाणासुर की लोक-विजय की कथा कही गयी है। अठारह पृष्ठों में यह तरंग समाप्त हुआ है। चतुर्थ तरंग में गणेश और उषा की उत्पत्ति-कथा १२ छंदों में कही गयी है। पंचम तरंग में यह वर्णन है कि किस तरह शम्भु-सुता ही बाण की पुत्री हुई। पंचम तरंग में उषा के जन्म-वर्णन के पश्चात् षष्ठ तरंग में एकाएक वह विरहिणी के रूपमें सामने आती है। दो पंक्तियों में उसके शैशव की सूचना देकर उषा के यौवनागम से इस तरंग की कथा शुरू होती है।

षष्ठ तरंग से ही कथा का वास्तविक आरम्भ होता है। विरहोन्मादिनी उषा पार्वती के पास जाती है और उनकी सेवा कर संतुष्ट करती है। वे उसे आशीष देती हैं कि तुम अपने स्वामी को स्वप्न में देखोगी। ऐसा ही होता है। स्वप्न में अनिरुद्ध को देखने पर उषा का विरह और भी उद्दीप्त हो जाता है। यह बहुत उदास रहने लगती है। उसकी उदासी को उसकी अंतरंग सखी चित्ररेखा लक्षित करती है और कारण पूछती है। उषा अपने स्वप्न के विषय में उसे बताती है। इस पर चित्ररेखा संसार के सुंदर पुरुषों का चित्र बनाकर उषा को पहचानने के लिए कहती है। उषा पहचान लेती है और इस तरह चित्ररेखा भी अनिरुद्ध को पहचान जाती है।

सूक्ष्म रूप धारण कर चित्ररेखा अनिरुद्ध को लाने के लिए प्रस्थान करती है। जब वह द्वार पर पहुँचती है तो सुदर्शन चक्र उसे रोकता है। इस समय नारद उपस्थित होकर उसकी सहायता करते हैं और वह महल में प्रवेश कर जाती है। वह सोये हुए अनिरुद्ध को उठा कर उषा के पास ले जाती है। उषा बड़ी कोमलता से अनिरुद्ध को जगाती है। अनिरुद्ध अपने को नये स्थान में पाकर आश्चर्यित होता है किंतु उषा सारी बातें समझा देती है। इस समय पुनः नारद प्रकट होकर दोनों में गंधर्व विवाह कराते हैं। दोनों सुखपूर्वक हास-विलास करने लगते हैं और अनिरुद्ध अपने माता पिता को भूलकर वहीं रह जाता है। कुछ दिन बीतने पर बाणासुर को यह बात मालूम होती है। वह अनिरुद्ध को मारने के लिए एक बड़ी सेना तैयार करता है। भयंकर युद्ध होता है। अनिरुद्ध को संकट में देखकर उषा नारद का

१. वेष्टन संख्या १५४३

ध्यान करती है। नारद प्रकट होते हैं और कृष्ण से जाकर सारी बातें कह देते हैं। कृष्ण एक बड़ी सेना लेकर आते हैं। घोर संग्राम होता है। बाणासुर की ओर से भगवान् शिव लड़ने आते हैं, तब भी वह ठहर नहीं पाता है। कृष्ण कृपाकर सभी को क्षमा कर देते हैं। दोनों में संधि हो जाती है और उषा के साथ अनिरुद्ध का विधिपूर्वक विवाह हो जाता है।

(९) **उषा-कथा (लालदास)**—इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में प्राप्त हुई है।[1] इसमें रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल १८३६ ई० है। इनकी दूसरी पुस्तक 'वामनचरित्र' है।[2]

(१०) **उषा-लीला (सुंदरलाल)**—इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में मिली है।[3] इसमें रचना-काल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल १८८७ ई० है। इसकी एक अन्य पुस्तक 'ध्रुव लीला' का रचनाकाल १८४४ ई० है, अतः इसी के आसपास 'उषा-लीला' की भी रचना हुई होगी। इनका परिचय धर्ममूलक खंडकाव्यों के प्रसंग में दिया जा चुका है। 'उषा लीला' में उषा-अनिरुद्ध की प्रचलित कथा विविध छंदों में कही गयी है। आदि में स्तुति और अंत में विनय-प्रदर्शन है। कथा सर्गबद्ध नहीं है।

(११) **उषाहरण (प्रेमानंद)**—इसकी एक हस्तलिखित प्रति राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर में सुरक्षित है।[4] इसमें रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल १८४६ ई० है। इसमें कुल ७४ पत्र हैं।

(१२) **उषा चरित्र (पहार कवि)**—इसकी एक हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा को खोज में उपलब्ध हुई है।[5] इसमें रचनाकाल नहीं दिया हुआ है, लिपिकाल १८६१ ई० है। अतः इसकी रचना अवश्य ही १८५० ई० के पूर्व हुई होगी। खोज विवरण के लेखकों ने इसके रचयिता का नाम रामदास लिखा है किंतु वस्तुतः इसके कर्ता पहार कवि हैं जिन्होंने रामदास के अनुसार इसका प्रणयन किया है।[6] कवि ने यह स्पष्ट कर दिया है कि रामदास ने उषा-अनिरुद्ध की कथा को

---

१. हस्तलिखित हिन्दी-पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग, सभा, पृ० १७
२. मिश्रबंधु विनोद, पृ० १०७१
३. खोज विवरण, १९२९-३१, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ३१८ सी
४ राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ सूची, भाग १, ग्रंथांक ९०५
५. खोज विवरण, सभा, १९२९-३१, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या २५६
६. रामदास कवि कथा बनाई। केवल रची चौपई गाई।।
पढ़त न फीकी कहै सुजाना। तिहि विश्राम छंद बिनु नाना।।
काइथ कुल कवि नाम पहारा। सुलतापुरी चंदेरी बारा।।
देषि कथा यह बुधि विचारी। सुंदर छंद करौं निरधारी।।
+ + +
तिनके चरनन् रेनु धरि। कवि पहार सिर माँहि।।
—खोज विवरण, सभा, १९२९-३१, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या २५६

चौपाई में गाया था जिसे पहार कवि विविध छंदों में प्रस्तुत कर रहे हैं। कवि ने ग्रंत में प्रयुक्त छंदों की सूची दी है जिसके अनुसार इसमें गीतिका, पदमावती, मरहटा और त्रिभंगी छंदों का प्रयोग हुआ है।[1] किंतु स्मरणीय है कि इसके अतिरिक्त दोहा सोरठा और चौपाई भी प्रयुक्त हैं जिनका सूची में उल्लेख नहीं किया है, कदाचित् इसलिए कि इन छंदों का प्रयोग तो रामदास ने किया ही था। कवि ने ग्रंथ-रचना का जो हेतु बताया है उसी से स्पष्ट है कि कथा इन्होंने बिलकुल रामदास की ही रखी है, केवल उसे विविध छंदों में प्रस्तुत करना ही इनका अभीष्ट था। रामदास की तरह इन्होंने भी सत्रह ग्रध्यायों में कथा को विभाजित किया है। ग्रादि में वंदना है ग्रौर ग्रंत में पुस्तक-रचना का कारण, ग्रात्म परिचय, छंदों की सूची ग्रौर फल-वर्णन है।

माधवानल-कामकंदला-सम्बंधी

नल-दमयंती ग्रौर उषा-ग्रनिरुद्ध की पौराणिक एवं ढोला-मारु की लोक-प्रचलित प्रेम-कथा के समान माधवानल ग्रौर कामकंदला का प्रणय भी ग्रनेक रचनाकारों को ग्राकृष्ट कर एक परम्परा का निर्माण करने में समर्थ हुग्रा है। इस परम्परा के प्राचीनतम लेखक चौदहवीं शती के ग्रानंदधर हैं, जिन्होंने संस्कृत में 'माधवानलाख्यानम्' लिखा। इसके ग्रनुकरण पर सँस्कृत, ग्रपभ्रंश तथा हिन्दी में मध्यकाल की ग्रंतिम सीमा तक ग्रनेक काव्य लिखे गये। ऐसे ही कुछ काव्यों का संकलन गायकवाड़ ग्रोरियंटल सिरीज में 'माधवानल कामकंदला प्रबंधम्' नाम से एम० ग्रार० मजूमदार द्वारा सम्पादित होकर प्रकाशित हुग्रा था। इस परम्परा के काव्यों को विद्वानों ने प्रेमाख्यानकों की कोटि में परिगणित किया है। किंतु माधवानल ग्रौर कामकंदला का प्रेम प्रेमाख्यानकों के प्रेम से भिन्न है। यह प्रेम लौकिक दृष्टि से अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। प्रेमाख्यानकों का प्रेम पूर्व-राग-जनित होता है जबकि यहाँ प्रेम ग्रत्यंत स्वाभाविक ढंग से परस्पर साक्षात्कार के उपरांत हुग्रा है। ग्रौर, इसमें स्वछंदता से ग्रधिक मर्यादा है।

इन सारे काव्यों में कुछ तो ग्रनुवाद मात्र हैं ग्रौर कुछ पूर्ववर्ती काव्यों की छाया लेकर किंचित नवीनता लिये हुए हैं। नवीनता से संयुक्त होने पर इन काव्य-कृतियों ने विविध रूप ग्रहण कर लिये हैं। किसी-किसी में इतनी ग्रवांतर कथाएँ जुट गयी हैं कि वह खंडकाव्य की सीमा से बाहर निकल गया है। मध्यकाल में ही बोधा ने 'बिरह बारीश कामकंदला चरित्र' लिखा था जो खंडकाव्य की ग्रपेक्षा कथा-काव्य के ही ग्रधिक निकट है। यहाँ स्मरणीय है कि इस परम्परा के खंडकाव्य ग्रपनी विधा में प्रकार-भेद का सृजन करते हैं। इनमें गहराई के साथ-साथ विस्तार भी है, लेकिन इनमें कथा-काव्य की स्फीति न होकर खंडकाव्योचित संघटन ही अधिक है। ग्रतएव इस परम्परा के सारे काव्य इस संदर्भ में विवेचन-योग्य नहीं हैं।

१. छंद नाम संज्ञा सुनि लीजै। बुधिवान मम दोस न दीजै।
छंद गीतिका परम सुहाये। ग्रावत सुनत भजन सुख दाई॥
पदमावती मरहटा कहिये। दुवई छंद त्रिभंगी लहिये॥
—खोज विवरण, सभा १६२६-३१, द्वितीय परिशिष्ट, सं०२५१

प्रस्तुत प्रबंध में तीन खंडकाव्यों का विवेचन किया जायगा जिनमें से आलम तो पूर्वविदित हैं, किंतु कविकेस और गोविंदचंद नवोपलब्ध हैं।

(१) माधवानल कामकंदला रस विलास (गोविंदचंद)—इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में सुरक्षित है जिसमें रचनाकाल १५४३ ई० दिया हुआ है।[1] इस पुस्तक की रचना जैसलमेर में हुई थी। प्रति खंडित है, कुल ४३६ छंद हैं जिनमें से प्रारम्भ के २१७ छंद लुप्त हैं। आद्य अंश के अप्राप्त होने के कारण इसकी सम्पूर्ण कथा नहीं जोड़ी जा सकी, शेष भाग की कथा आलम और कविकेस से मिलती-जुलती है।

(२) माधवानल कामकंदला (आलम)—'हिन्दी के कवि और काव्य', भाग ३ में यह सम्पूर्ण कृति प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त इसकी हस्तलिखित प्रति नागरी प्रचारिणी सभा में सुरक्षित है[2] तथा सभा को खोज में भी इसकी प्रतियाँ उपलब्ध हुई हैं।[3] सभा में सुरक्षित प्रति में रचनाकाल ६६१ हिजरी (सं० १५८३ ई०) दिया गया है और शाहेवक्त अकबर की स्तुति की गयी है।[4] आलम का परिचय सुदामा विषयक खंडकाव्यों के अध्याय में दिया जा चुका है।

इसमें पाँच-पाँच अर्द्धालियों पर एक दोहा या सोरठा है। किंतु सभा की खोज में उपलब्ध प्रति में पाँच अर्द्धालियों पर एक दोहा और एक सोरठा दोनों है। फिर, इसकी कथा भी कुछ विस्तृत है। इसमें आदि और अंत में अवांतर कथाएँ जोड़ दी गयी हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये जोड़ प्रतिलिपिकारकृत हैं। आदि में परब्रह्म की वंदना शाहेवक्त की प्रशस्ति, रचनाकाल-निर्देश और विषय की सूचना है तथा अंत में पुस्तक में प्रयुक्त छंदों का उल्लेख एवं फल-वर्णन है। कथा सर्गहीन है जो इस प्रकार है : पुहुपावती नगर में माधवानल नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह गान-वाद्य में इतना निपुण था कि उसका वीणा-वादन सुनकर सभी नारियाँ मुग्ध हो जाती थीं। नगर की प्रजा ने राजा के पास फरियाद की कि माधवानल को राज्य से निष्कासित कर दिया जाय; क्योंकि वह नारियों को अपनी गान-विद्या से आकृष्ट कर लेता है। माधवानल निर्वासित कर दिया गया।

---

१. संवत सोला से बरसि जेसलमेर मंझारि।
   फागन मांझि सुहावनै करी वात निसतारि ॥४३६॥
   —हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, पु० सं० १८४८।३५५७

२. पुस्तक संख्या ४३१।३१३

३. खोज विवरण, सभा, १६२३-२५, द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ८ तथा १६२६-३१ द्वितीय परिशिष्ट, संख्या ८।

४. दिल्लीपति अकबर सुरताना। सप्तदीप मै जाकी आना ॥
   सिंधुनपति जगन्नाथ सुहेला। आपुन गुरु जगत सबु चेला ॥
   \+ \+ \+
   आगै नेंदु महामति मंडनु। नृप राजा टोडरमल डंडनु ॥
   सत नौ सै इक्यावनवै आही। करौं कथा अब बोलौ ताही ॥

वह घूमते-फिरते कामावती नगर में पहुँचा जहाँ कामसेन नामक राजा राज्य करता था। कामसेन के दरबार में माधवानल ने अपनी गान-वाद्य-विद्या का चमत्कार दिखाया। राजा के दरबार में कामकंदला नाम्नी वेश्या थी जो जैसे रूप में अद्वितीय थी वैसे ही गान-वाद्य में भी अप्रतिम। उसने भी सभा में अपनी कला-चातुरी दिखायी। माधवानल उसके चातुर्य को समझ रहा था, किंतु सभा में ऐसा कोई नहीं था जो कला के मर्म को समझ पाता। माधवानल ने सभा में ही राजा से कह दिया कि आपकी सभा मूर्ख है। कामसेन क्रुद्ध हो गया और उसने अपने राज्य से बाहर हो जाने का आदेश दिया। कामकंदला और माधवानल एक दूसरे की ओर आकृष्ट हो गये थे। कंदला ने माधवानल से अपने पास रुकने का आग्रह किया परंतु माधवानल चल पड़ा। दोनों एक-दूसरे के वियोग में तड़पने लगे।

माधव उज्जैन के राजा विक्रम के पास पहुँचा और राजा के पास एक पत्र भेजा—

> कहा करौं कित जाउं हौं राजा रामनु आहि।
> सिय बियोग संताप बस राघौ जानत ताहि ॥२००॥
>
> + + +
>
> मधुकर कमलहि आहि कोजि मालती बियोग।
> ये सब गए जगत्र माँहि बिरही करि करि जोगु ॥१०२॥

राजा यह पत्र पढ़कर बड़ा प्रभावित हुआ और उसने माधव को दरबार में बुलवाकर पूछा कि आपकी क्या सेवा करूँ। माधव ने कहा कि कामवती नगर के राजा कामसेन से कामकंदला वेश्या लेकर दीजिए। पहले तो राजा विक्रम ने बहुत समझाया कि वेश्या का संग उचित नहीं, लेकिन माधवानल ने जोर देकर कहा कि मैं कामकंदला के बिना जी नहीं सकता। राजा ने दोनों के प्रेम की परीक्षा लेनी चाही। वह कामवती नगर में गये और कामकंदला से मिलकर उन्होंने कहा माधव तुम्हारे वियोग में तड़पकर मर गया। कामकंदला माधव के वियोग में अस्थिपंजर मात्र रह गयी थी। माधव की मृत्यु सुनते ही उसका शरीरांत हो गया। राजा बहुत पछताये और लौटकर उन्होंने माधव से कामकंदला के मरने की बात कही। यह सुनकर माधव के भी प्राण निकल गये। अब विक्रम बहुत घबरा गये और उन्होंने सोचा कि दो प्राणियों की हत्या का पाप सिर पर लेकर जीना उचित नहीं। ऐसा सोचकर उन्होंने अग्नि समाधि लेनी चाही। जैसे ही ज्वलित चिता की ओर उन्होंने पैर बढ़ाया, अग्निदेव प्रकट हुए और उन्होंने अमृत देकर कहा कि इससे प्रेमी-प्रेमिका दोनों को जीवित करो। माधव और कामकंदला इस प्रकार जीवित किये गये।

अब विक्रम दोनों का मिलन कराने के लिए उद्योगशील हुए। पहले उन्होंने दूत भेजकर कामसेन से कामकंदला की याचना की, पर अस्वीकार किये जाने पर उन्होंने चढ़ाई कर दी। युद्ध में कामसेन पराजित हुआ और उसने कामकंदला विक्रम को दे दी। विक्रम ने कामकंदला और माधव का मिलन कराया। दोनों हास-विलास में जीवन व्यतीत करने लगे।

(१) माधवानल नाटक (कविकेस)—इस पुस्तक की एक हस्तलिखित प्रति हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग में सुरक्षित है।[1] प्रत्येक अध्यायांत में यह पुष्पिका है—'इति श्री माधवानल नाटके कविराज कविकेस कृते···।' इससे रचनाकार का नाम कविकेस प्रकट है किंतु ग्रंथारम्भ में लिखा है 'कविसेस सुकवि कविता अघर भान कोटि तम दुति बरन ॥१॥' इससे कवि का नाम कविसेस प्रतीत होता है। लेकिन केवल इसी एक स्थान पर 'कविसेस' पाठ है, सर्वत्र कविकेस ही है। अंतिम पंक्ति में भी कविकेस की ही छाप है—'ताही के अव मोह है करयो ग्रंथ कविकेस।' इससे यह सिद्ध होता है कि भूल से एक स्थान पर कविसेस लिखा गया है, कवि का वास्तविक नाम कविकेस ही था। कवि ने १६५० ई० में इसकी रचना की।[2] प्रतिलिपि १७६५ ई० की है।

इसमें २७ प्रकार के छंद व्यवहृत हुए हैं और आठ अध्यायों में कथा को विभक्त किया गया है। प्रथम से लेकर अष्टम अध्याय में क्रमश: ६६, ५०, ३६, ६४, ६०, ३३, ४४ और १०, अर्थात् कुल ३६६ छंद हैं। अध्यायों का आकार द्रष्टव्य है। अंत की ओर उनका आकार लघु होता गया है जिससे यह स्पष्ट है कि इस विस्तृत कथा का भी एक छोटा-सा उद्देश्य है और कवि का ध्यान उसी में केंद्रित है।

आरम्भ में शिव, आदि की स्तुति के साथ-साथ दंडी, कालिदास, जयदेव, भारवि और नेवाज का भी स्मरण किया गया है। अंत में फल-वर्णन आदि नहीं है। कथा इस प्रकार है: राजा गोविंदचंद के राज्य में माधवानल नामक एक ब्राह्मण रहता था। वह अत्यंत रूपवान् और गान-विद्या में निपुण था। उसके रूप को देखकर और उसके संगीत को सुनकर नारियाँ मुग्ध हो जाती थीं और उसके संगीत को सुनकर बिना मोल की दासी हो जाती थी। नारियों ने राजा से यह शिकायत की। माधवानल देश से निकाल दिया गया। उस देश से निकल कर माधवानल दूसरे राजा के दरबार में पहुँचा। वहाँ उस समय प्रवीणा गायिका कामकंदला का गान हो रहा था। माधवानल बाहर से ही यह जान गया कि कामकंदला को चार ही अँगुलियाँ होने के कारण वीणा-वादन में राग-भंग हो रहा है। उसने द्वारपाल के द्वारा राजा को इस बात की सूचना दी। सूचना पाकर राजा ने कामकंदला की अंगुलियाँ दिखवायीं। सचमुच उसे चार ही अंगुलियाँ थीं। राजा ने प्रसन्न होकर माधवानल को बुलवाया और सम्मान-सहित आसन दिया। कामकंदला उसके रूप-गुण को देखकर मुग्ध हो गयी। उसने दक्षिणा में अपने शरीर के आभूषण उतारकर ब्राह्मण के आगे रख दिये। इसके बाद राजा को ज्ञान हुआ कि मुझे भी दक्षिणा देनी चाहिए। तब उसने दो लक्ष स्वर्ण मुद्रा दक्षिणा में दिये जिसको माधवानल ने अस्वीकार कर दिया। राजा क्रुद्ध हो गया।

---

१. पुस्तक संख्या १५५७।२६६७

२. रिषभि अंक सिर गगन दै सत्रह सै लिषि पास।
आदी सुदि दूं कला बरनौ चित्र बिलास ॥१२॥
—वही

कामकंदला आग्रह करके माधवानल को अपने घर ले आयी। बहुत दिनों तक दोनों आमोद-प्रमोद करते रहे। जब माधवानल चला गया तो कामकंदला विरह में तड़पने लगी। कामकंदला से बिछुड़कर माधवानल को शोक हुआ। वह भी विरह में अस्थि पंजर-शेष हो गया। राजा विक्रम की राजधानी में घूम-घूमकर विरह-गान से सब को व्याकुल करने लगा। राजधानी की नारियाँ द्रवित हो गयीं और उन लोगों ने माधवानल को विक्रम के दरबार में पहुँचा दिया। राजा ने माधवानल से उसका परिचय पूछा। माधवानल ने अपना परिचय दिया और राजा के पूछने पर कामकंदला को प्राप्त करने की अपनी इच्छा प्रकट की। विक्रम ने अपने मित्र राजाओं को ससैन्य निमंत्रित किया और उस सम्मिलति सेना को लेकर कामवती नगर की ओर चल पड़े। वहाँ पहुँच कर वे कामकंदला के घर पर गये और उसको विरहानल में जलते देखा। उन्होंने माधवानल से लौटकर कहा कि कामकंदला तो तुम्हारा नाम सुनते ही मर गयी। यह सुनते ही माधवानल के प्राण निकल गये और उधर कामकंदला भी माधवानल से दूसरे लोक में मिलने के लिए चल पड़ी। विक्रम यह देख कर बड़े चिंतित हुए। उन्होंने शिव की घोर तपस्या की और उनको प्रसन्न कर उनसे अमृत प्राप्त किया। उससे दोनों को जिला कर दोनों का मिलन करा दिया। दोनों अनंत काल तक सुख भोग करते रहे।

विद्वानों ने इन प्रेमकाव्यों को प्रेमाख्यानकों में गिना है। किंतु इनमें वर्णित प्रेम की प्रेमाख्यानकों के प्रेम से भिन्नता ऊपर दिखायी जा चुकी है। इनकी कथा-योजना भी प्रेमाख्यानकों से भिन्न है। इनके कथा-विन्यास मे कसावट अधिक है, अवांतर कथाएँ बिलकुल नहीं हैं और सारी कथावस्तु कामकंदला की प्राप्ति में ही केंद्रित है। वस्तु एवं शिल्प की इस रूपगत भिन्नता के कारण ये पुस्तकें प्रेमाख्यानकों की कोटि में न जाकर खडकाव्य की श्रेणी में चली आती हैं। डा० सरनामसिंह शर्मा ने भी आलम की 'माधवानल कामकंदला' को खंडकाव्य स्वीकार किया है।[1]

प्रकीर्ण

पूर्व विवेचित परम्परावद्ध खंडकाव्यों के अतिरिक्त स्वतंत्र कल्पित विषयों पर भी खंडकाव्य लिखे गये। इनमें से नंददासकृत 'रूप मंजरी' उल्लेखनीय है। यह दोहा-चौपाई की शैली पर लिखी गयी है। आदि में स्तुति और अंत में फलश्रुति है। यह ब्रजरत्नदास द्वारा सम्पादित तथा नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित नददास - ग्रंथावली में संकलित है। नंददास का परिचय पीछे दिया जा चुका है। इसमें कृष्ण और रूपमंजरी की प्रेम-कथा है। निर्भयपुर के राजा धर्मवीर की कन्या रूपमंजरी अत्यंत रूपवती थी। उसका विवाह ब्राह्मण की दुष्टता के कारण एक कुरूप पुरुष से हो गया। उसने कृष्ण में अपना चित्त लगाया और एक दिन स्वप्न में उनके दर्शन भी किये। उस दिन से वह उनके विरह में तड़पने लगी। सभी ऋतुएँ

---

१. इसी प्रकार माधवानल कामकंदला को खंडकाव्य मानने में कोई आपत्ति नहीं है।
— हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, डा० सरनामसिंह शर्मा, पृ० २३

एक-एककर बीत गयीं। अंत में ग्रीष्म अपना सारा ताप लेकर आया और इसके साथ ही रूपमंजरी के विरह का ताप भी चरम सीमा पर पहुँच गया। तब भगवान् के साथ उसका संयोग हुआ।

इसकी भी गणना विद्वानों ने प्रेमाख्यानकों में की है। इसके प्रेम का स्वरूप अंशतः प्रेमाख्यानकों के प्रेम-जैसा है किंतु इसका शिल्प निस्संदेह खंडकाव्यों का है।

: ६ :

मध्यकाल के खंडकाव्य : स्रोतानुसंधान

(१) धर्ममूलक खंडकाव्य

(क) वैष्णव-परम्परा

१. रामभक्तिमूलक खंडकाव्य

सीता-विवाह-सम्बंधी खंडकाव्य

गोस्वामी तुलसीदास ने सीता के विवाह का विस्तृत वर्णन रामचरितमानस में किया है परंतु उनके 'जानकीमंगल' की वस्तु एक स्वतंत्र उद्भावना है, रामचरितमानस की द्विरुक्ति नहीं है। इसकी कथा के कई आवश्यक तत्व रामचरितमानस के विपरीत हैं। 'जानकी मंगल' में सीता और राम का साक्षात्कार प्रथम बार रंगभूमि में ही होता है जबकि रामचरितमानस में यह संघटना पुष्पोद्यान में हुई है। धनुष तोड़ने में अन्य राजाओं की असफलता पर रामचरितमानस में जनक वीरों को बहुत फटकारते हैं जिस पर लक्ष्मण क्रुद्ध हो जाते हैं। 'जानकी मंगल' में इस प्रकरण को छोड़ दिया गया है। रामचरितमानस में परशुराम धनुष टूटने के पश्चात् यज्ञशाला में ही प्रकट होते हैं।' जानकी मंगल' में अवध लौटते समय परशुराम से भेंट हुई है और यहाँ रामचरितमानस की तरह न तो उनके उग्र रूप का और न लक्ष्मण-परशुराम के क्रुद्ध वार्तालाप का ही वर्णन है।

फिर भी, 'जानकी मंगल' के अनेक प्रकरण रामचरितमानस से साम्य रखते हैं। इसके अतिरिक्त इस पर संस्कृत के अध्यात्म रामायण, वाल्मीकीय रामायण, हनुमन्नाटक और प्रसन्नराघव नाटक का भी प्रभाव यत्र-तत्र है। रामचरितमानस के अनुसार 'जानकी मंगल' में अहिल्योद्धार मिथिलापुरी जाते हुए मार्ग में ही हुआ है। अध्यात्म रामायण एवं वाल्मीकीय रामायण में भी ऐसा ही हुआ है।[1] राम के कोमल, सुंदर शरीर को देखकर रामचरितमानस के समान 'जानकी मंगल' में भी सीता की माता तथा अन्य दर्शकों को उनके द्वारा धनुष-भंग में शंका हुई है। 'जानकी मंगल' में विश्वामित्र ने जनक से राम को धनुष तोड़ने का आदेश देने के लिये निवेदन किया है। इस अवसर पर विदेह ने भी शंका व्यक्त की है। रामचरितमानस में मिथिलेश ने ऐसी शंका नहीं की है। यह प्रकरण प्रसन्नराघव नाटक के अनुसार है।

---

१. वाल्मीकीय रामायण, बालकांड, उनचासवाँ सर्ग।

'जानकी मंगल' में राम जब रंगभूमि में पदार्पण करते हैं तो नारियाँ झरोखे पर से झाँक कर उन्हें देखती हैं। रामचरितमानस में नारियाँ पहले ही दोनों भाइयों को देख चुकी थीं, अतः वहाँ ऐसा वर्णन नहीं है। अध्यातम रामायण में यह प्रसंग आया है किंतु वहाँ राम के धनुष तोड़ देने पर यह दृश्य आया है।[1] अध्यात्म रामायण में यह प्रकरण सबसे अधिक स्वाभाविक है। जो पिनाक रावण-जैसे महापराक्रमी से हिल भी नहीं सका उसको तोड़ देने वाले को देखने के लिए उत्सुकता अनिवार्य है। राम के यज्ञभूमि में पहुँचने पर बंदी ने जनक का प्रण सभा को सुनाया है। रामचरितमानस और प्रसन्नराघव नाटक में भी ऐसा हुआ है। 'जानकी मंगल' में राम के धनुष तोड़ने के लिए प्रस्तुत होने पर लक्ष्मण भूधरादि को सावधान करते हैं। यह वर्णन रामचरितमानस और हनुमन्नाटक के अनुसार है।

सीता-हरण-सम्बंधी

कर्मण का 'सीता हरण' इतिवृत्तात्मक है और इसमें अत्यंत प्रमुख घटनाओं का चलते ढंग से वर्णन है। ये घटनाएँ सभी रामायणो में हैं।

सीता-विजय-सम्बंधी[2]

इस परम्परा के एक खंडकाव्यकार रामजी भट्ट ने पुस्तक के आरम्भिक अंश में वंदना करते हुए इसका स्रोतोल्लेख किया है।[3] तदनुसार वाल्मीकि ने अद्भुत रामायण की रचना का भाषांतर उन्होंने किया है। यही कथा प्रस्तुत संदर्भ में विवेचित ग्रन्थ 'जानकी विजय' की भी है। एसा प्रतीत होता है कि ये सभी खंडकाव्य इसी संस्कृत अद्भुत रामायण की छाया लेकर लिखे गये हैं। वाल्मीकि के नाम पर एक अद्भुत, रामायण श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई से प्रकाशित है जो सत्ताईस सर्गों में लिखी गयी है। एक अद्भुत रामायण की अद्भुतता यह है कि इसकी अंतिम पुष्पिका है 'इत्यार्षे श्री मद्रामायणे वाल्मीकीये आदिकाव्ये अद्भुतोत्तरकांडे श्री सीतारामयोरयोध्यागमनं नाम सप्तविंशतितमः सर्गः ।।२७।।' और आरम्भिक वंदना में 'शांताय वीतरागाय वाल्मीकाय नमो नमः' लिखा गया है। इन बातों को देखने से इसके रचयिता का व्यक्तित्व रहस्यमय हो जाता है। किंतु यहाँ इसकी प्रामाणिकता पर विचार करना उद्देश्य नहीं। इतना तो निश्चित है कि मध्यकाल में 'जानकी विजय' अथवा 'अद्भुत रामायण' नाम से लिख गये खंडकाव्य इसी पर अवलम्बित है।

संस्कृत अद्भुत रामायण के सत्रहवे से लेकर सत्ताइसवे सर्ग तक की कथा इन खंडकाव्यों में कही गयी है। यही कथा मध्यकालीन खडकाव्यों में अत्यल्प परिवर्तन के साथ कही गयी है। अद्भुत रामायण में सीता ने एक ब्राह्मण अतिथि से

१. अध्यात्म रामायण, बालकाण्ड, श्लोक संख्या ३१-३२

२ हनुमन्नाटक, १, २१

३. बाल्मीक अद्भुत रची, रामायण ठट्ट।
भाषा तिहि की करत है, सुकबि रामजी भट्ट ।।

—अद्भुत रामायण, रामजीभट्ट

सहस्रवदन रावण का वृत सुना है।[1] किंतु भवानीलाल में ब्रह्मा ने सीता को उस रावण की कथा सुनायी है अद्भुत रामायण में राम रावण के बाण से आहत होकर विमान में गिर पड़े हैं।[2] मध्यकालीन खंडकाव्यों में राम की मर्यादा की रक्षा की गयी है। अद्भुत रामायण में राम के घायल हो जाने पर सीता भीषण रूप धारण कर रावण की सेना का संहार करने लगीं और सभी देवता युद्ध-भूमि में एकत्र हो गये। ब्रह्मा ने राम को चैतन्य किया। राम सीता को प्रकृत रूप में पाकर चिंतित हो गये। तब ब्रह्मा ने सीता के परिवर्तित रूप का परिचय दिया। यह प्रकरण मध्यकालीन खंडकाव्यों में नहीं है। स्वस्थ होने पर राम ने विकराल रूपधारिणी सीता से परिचय पूछा है। सीता ने अपना परिचय देते हुए कहा कि मैं अनन्य अविनाशी एक हूँ, मुझे महेश्वर के आश्रित परमशक्ति जानो।[3] यह सुनकर राम ने सीता की अनेक प्रकार से स्तुति की, तब सीता ने सौम्य रूप धारण किया। मध्यकालीन खंडकाव्यों में देवताओं ने आकर जानकी की प्रार्थना की है, राम वहाँ मौन हैं।

भरत-सम्बंधी खंडकाव्य

तुलसीदास के 'भरत विलाप' की कथा वाल्मीकीय रामायण के अयोध्या कांड के अनुसार है। उस दीर्घ कथा को कवि ने घनीभूत कर खंडकाव्योपयुक्त कलेवर प्रदान किया है। इसका अर्थ यह नहीं है कि कवि ने इसके कथा-विधान में कोई मौलिकता नहीं दिखाई है। इस पर वाल्मीकि का प्रभाव मात्र कहा जा सकता है। इसके कतिपय प्रकरण वाल्मीकीय रामायण से भिन्न हैं। इसमें राम-वन-गमन के मूल में नारद हैं, मंथरा नहीं। नारद ही जाकर एक दिन कैकेयी से कहते हैं कि तुम्हारी सपत्नी कौशल्या का पुत्र राम राजा होने जा रहा है, तब तुम अपने पुत्र के साथ उसके अनुचर होगी। राम को वन भेजने से इसका निवारण हो सकता था, यह भी नारद ही बताते हैं। दशरथ से यह कार्य सिद्ध कराने का भी एक भिन्न प्रकरण 'भरत विलाप' में है। दशरथ को शापवश एक दिन अंगूठे में भयानक पीड़ा शुरू होती है। देश-देश के वैद्य आते हैं किंतु उनमें से कोई भी दशरथ को उस पीड़ा से मुक्त नहीं कर पाता है। कैकेयी के मुख में अमृत था, वह राजा का यह कष्ट हर लेती है। दशरथ प्रसन्न होकर वरदान मांगने को कहते हैं। कैकेयी नारद की सलाह को वर में मांग लेती है। वाल्मीकीय रामायण में ये प्रकरण नहीं हैं।

---

१. अद्भुत रामायण, सप्तदश सर्ग

२. वक्षो निर्भिद्य स शरो रामस्य सुमहात्मनः ॥४८॥
भित्वा महीं च सहसा पातालतलमाविशत् ॥
ततो रामो महाबाहुः पपात पुष्पकोपरि ॥४९॥

—वही, द्वाविंशति सर्ग

३. रामस्य वचनं श्रुत्वा ततः सा परमेश्वरी ॥
व्याजहार रघुव्याघ्रं योगिनाम भयप्रदा ॥
मां विद्धि परमां शक्तिं महेश्वर समाश्रयाम् ॥
अनन्याम व्ययमेकां यां पश्यन्ति मुमुक्षवः ॥

—अद्भुत रामायण, पृ. ...

'भरत विलाप' में राम को पत्र द्वारा वन जाने की आज्ञा दी गयी है। फिर, दशरथ ने उन्हें विद्रोह कर राज्य करने का परामर्श दिया है। वाल्मीकीय रामायण में ऐसा नहीं है। वाल्मीकीय रामायण में भरत अयोध्या लौटकर पहले पिता के भवन में जाते हैं और उन्हें नहीं देखने पर कैकेयी से जाकर पूछते हैं।[1] 'भरत विलाप' में भरत पहले कौशल्या और सुमित्रा से मिलते हैं और सुमित्रा के यह व्यंग्य करने पर कि यहाँ का कुशल कैकेयी से जाकर पूछ लो, कैकेयी से मिलते हैं। वाल्मीकीय रामायण के समान 'भरत विलाप' में भी भरत अपनी माता कैकेयी को बहुत फटकारते हैं। वाल्मीकीय रामायण में शत्रुघ्न मंथरा को पीटते हैं। 'भरत विलाप' में ऐसा कुछ नहीं है। रामचरितमानस की पूर्ववर्ती रचना होने के कारण 'भरत विलाप' उससे तुलनीय नहीं किन्तु मानस जहाँ तक वाल्मीकीय रामायण के निकट है वहाँ तक तो 'भरत विलाप' भी उसके निकट है ही।

रामभक्तिमूलक विविध खंडकाव्य

इस संदर्भ के उदय के तीन खंडकाव्य 'रामकरुणा नाटक', 'हनुमान् नाटक' और 'अहिरावण लीला' में से प्रथम दो मूल रामचरितमानस के अनुकरण पर और तीसरी 'अहिरावण लीला' उसमें समाविष्ट क्षेपक पर आधृत है। 'रामकरुणा नाटक' में लक्ष्मण के शक्ति लगने का और 'हनुमान नाटक' में हनुमान् द्वारा लंका-दाह का वर्णन है। 'रामकरुणा नाटक' में कवि ने एक नवीन प्रकरण की योजना की है। यहाँ मेघनाद ने सांग हनुमान् पर चलाया है जिसको हनुमान् के रक्षार्थ लक्ष्मण ने अपने ऊपर झेल लिया। रामचरितमानस में लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध में मेघनाद ने लक्ष्मण पर ही सांग चलाया है। रामचरितमानस में जामवंत ने सुखेन वैद्य का पता बताया है और हनुमान् सुखेन का घर ही उठा लाये हैं। 'रामकरुणा नाटक' में विभीषण सुखेन का पता बताता है और हनुमान् यहाँ केवल सुखेन को बुला लाते हैं, उसके भवन को नहीं लाते। इसके बाद संजीवन बूटी लाने के लिए जाते हुए हनुमान् को कालनेमि द्वारा बाधा डालने का प्रयत्न और अप्सरा के उद्धार वाली घटना रामचरितमानस के समान 'राम करुणा नाटक' में भी है। 'हनुमान् नाटक' और 'अहिरावण लीला' में कवि ने कोई नवीनता नहीं दिखाई है।

२. कृष्णभक्तिमूलक खंडकाव्य

रुक्मिणी-हरण-विषयक

रुक्मिणी-हरण एवं विवाह-सम्बन्धी कई पद सूरसागर में आये हैं, पर वे मुक्तक पद्य हैं और उनमें किसी कथा-सूत्र का सन्निवेश नहीं है। इतिवृत्त-रूप में यह प्रकरण विष्णु पुराण के प्रथम अंश के अध्याय २६ और भागवत के दशम स्कंध में आया है। मध्यकालीन खंडकाव्यों का उपजीव्य भागवत का दशम स्कंध है जिसके बावनवें, तिरेपनवें और चौवनवें अध्यायों में कृष्ण द्वारा रुक्मिणी-हरण और तदुपरांत परिणय की कथा आयी है। वहाँ इन तीन अध्यायों में और १६१ श्लोकों में यह कथा कही गयी है। भागवत का यह आख्यान स्वयं एक उत्तम खंडकाव्य है। इस

१. वाल्मीकीय रामायण, अयोध्या कांड, बहत्तरवाँ सर्ग

तरह इन खंडकाव्यों का आधार भी एक खंडकाव्य ही है। फिर भी, इस प्रसंग के खंडकाव्य भागवत के पूर्वोक्त प्रकरण के भाषांतर मात्र नहीं हैं। सबने न्यूनाधिक रूप में अपने-अपने खंडकाव्यों में मौलिक उद्भावनाएँ की हैं और उनके द्वारा अपने खंडकाव्य को अधिक कवित्वपूर्ण बनाया है।

भागवत में रुक्मिणी अपने महल में आने वाले अतिथियों के मुख से कृष्ण के रूप-गुण की प्रशंसा सुनकर उनसे अनुरक्त होती है।[1] इस तरह यहाँ रुक्मिणी-कृष्ण का प्रेम प्रेमाख्यानकों की तरह स्वच्छन्दमूलक है। मध्यकालीन हिन्दी खंडकाव्यकारों ने इस प्रकरण को इसी रूप में नहीं ग्रहण किया है। मेहरचंद, विष्णुदास और रामलला ने इस प्रकरण में नारद को सम्मिलित कर लिया है। इनमें से विष्णुदास और रामलला ने बड़ी स्वाभाविक योजना की है। इन दोनों में नारद रुक्मिणी का हाथ देखकर यह भविष्यवाणी करते हैं कि इसका विवाह कृष्ण से होगा। मेहरचंद में नारद भविष्यवाणी न कर वरदान ही देते हैं। नंददास ने तो इस प्रकरण को बिलकुल ही छोड़ दिया है अन्य खंडकाव्यकारों ने लौकिक रीति से कृष्ण और रुक्मिणी में अनुराग की स्थापना करायी है। भागवत में इसी स्थान पर यह भी कह दिया गया है कि कृष्ण भी रुक्मिणी के गुणों से परिचित थे और ऐसा समझते थे कि रुक्मिणी मेरे ही योग्य है।[2] मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने भी कृष्ण में अलौकिक रूप से विह्वलता दिखायी है किन्तु यह अवसर तब लाया है जब ब्राह्मण रुक्मिणी का पत्र लेकर द्वारका जाता है।

भागवत में रुक्मिणी लौकिक ब्राह्मण को ही पत्र-वाहक रूप में द्वारका भेजती है। नंददास, नरहरि, रामलला और हीरामणि ने इस प्रसंग में भागवत का ही अनुकरण किया है। पृथ्वीराज और मेहरचंद की रुक्मिणी अलौकिक ब्राह्मण के द्वारा पत्र प्रेषित करती है। एक अज्ञात, अपरिचित ब्राह्मण अचानक उसके समक्ष उपस्थित होता है जिसको पत्र देकर रुक्मिणी द्वारका भेज देती है। भागवत में कृष्ण ने ब्राह्मण को असाधारण आतिथ्य दिया है। कृष्ण स्वयं उठकर अपने आसन पर उसे बैठाते है। मध्यकालीन खंडकाव्यकार इस प्रकरण पर रुके नहीं हैं। यहाँ ब्राह्मण आते ही पत्र दे देता है और कृष्ण तत्काल कुंडिनपुर चलने के लिये उद्यत हो जाते हैं। पत्र और संदेश जैसे भागवत में हैं वैसे मध्यकालीन खंडकाव्यों में भी। भागवत में रुक्मिणी कृष्ण को हरण के लिए उपयुक्त स्थान का पता बता देती है। वह सूचित कर देती है कि कुल-परम्परा के रूप में अम्बिका-पूजन करने जाऊँगी, वहीं मेरा हरण करें। नरहरि, मेहरचंद, रामलला और नंददास ने भागवत का ही अनुकरण किया है। इसके विपरीत पृथ्वीराज की रुक्मिणी कृष्ण को हरण का अवसर

---

१. सोपश्रुत्य मुकुन्दस्य रूपवीर्यगुणश्रियः ।
गृहागतैर्गीयमानास्तं येने सदृशं पतिम् ॥

—भागवत, १०।५२।२३

२. तां बुद्धिलक्षणौदार्यरूपशील गुणाश्रयाम् ।
कृष्णश्च सदृशीं भार्यां समुद्वोढुं मनो दधे ॥

—भागवत, १०।५२।२४

देने के लिये अम्बिका-पूजन करने जाती है और इस आशय की सूचना वह पत्र में कृष्ण को दे देती है।

सारे मध्यकालीन खंडकाव्यों में ऐसा प्रतीत होता है कि राजा भीष्मक की आंतरिक अभिलाषा अपनी कन्या रुक्मिणी का परिणय कृष्ण से करने की थी किन्तु अपने पुत्र रुक्म के विरोध करने पर उनका कुछ न चला और वे विवाह से तटस्थ हो गये। सारा आयोजन रुक्म करने लगा। इस प्रकरण में सभी खंडकाव्यकार भागवत से भिन्न हैं। भागवत में भीष्मक अपने पुत्र रुक्म की इच्छा जानकर शिशुपाल को ही अपनी पुत्री देने की तैयारी प्रारम्भ कर देते हैं।[1] फिर, शिशुपाल के बरात लेकर आने पर उसकी अगवानी करने जाते हैं। जब कृष्ण-बलराम कुंडिनपुर पहुँचते हैं तो भीष्मक यह सोचते हैं कि ये लोग मेरी कन्या का विवाह देखने आये हैं,[2] जैसे उन्हें इस बात का पता ही नहीं हो कि रुक्मिणी का विवाह कृष्ण से करने की बात भी कभी परिजनों में उठी थी।

ब्राह्मण को द्वारका भेज देने के बाद रुक्मिणी की विकल प्रतीक्षा का वर्णन भागवत में भी है, मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने इस अवसर पर मानव-मन की अपनी गहरी परख का परिचय दिया है।

रुक्मिणी की छवि का अलौकिक प्रभाव भागवत में दिखाया गया है। जब वह अम्बिका-पूजन कर मन्दिर से बाहर निकली तो शिशुपाल की सेना जो मंदिर को घेरकर खड़ी थी, के वीर बेहोश-से हो गये और उनके करों से शस्त्रास्त्र तो छूटकर गिर ही पड़े, वे लोग भी अपने-अपने वाहनों से धरती पर लुढ़क गये।[3] मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने इस अस्वाभाविक प्रकरण से अपने खंडकाव्य को बचाया है। यही नहीं, इन कवियों ने इस अवसर पर रुक्मिणी के अंतर्द्वन्द्वों का उद्घाटन कर अपने कवित्व का परिचय दिया है।

कृष्ण के द्वारा रुक्मिणी को अपने रथ पर बैठाकर चल देने के बाद शिशुपाल पर जो इसकी प्रतिक्रिया हुई उसका विस्तृत वर्णन भागवत में हुआ है। वह अत्यन्त उदास होकर मरणासन्न हो गया। तब जरासंध ने उसे बहुत समझाया। इस प्रकरण का मध्यकालीन खंडकाव्यों में अभाव है। इसी प्रकार रुक्म की प्रतिक्रिया का भी भागवत में विस्तृत वर्णन है। शिशुपाल के हतप्रभ हो जाने पर वह निरुत्साहित नहीं होता। वह सभी नृपतियों के समक्ष यह प्रतिज्ञा करता है कि यदि मैं कृष्ण को मारकर रुक्मिणी को न लौटा सका तो कुंडिनपुर नहीं लौटूँगा। वह कृष्ण के साथ युद्ध करता है किन्तु पराजित होकर और अपनी दाढ़ी मूँछ मुड़वाकर

---

१. राजा स कुंडिनपतिः पुत्रस्नेहवशं गतः।
शिशुपालाय स्वां कन्यां दास्यन् कर्माण्यकारयत्॥ —भागवत, १०।५३।७

२. प्राप्तौ श्रुत्वा स्वदुहितुरुद्वाहप्रेक्षणोत्सुकौ।
अभ्यायात्तूर्यघोषेण रामकृष्णौ समर्हणैः॥ —वही, १०।५३।३२

३. यां वीक्ष्य ते नृपतयस्तदुदारहासव्रीडावलोकहृत उज्झितास्त्राः।
पेतुः क्षितौ गजरथाश्वगता विमूढा यात्राच्छलेन हरयेऽर्पयतीं स्वशोभाम्॥
—भागवत, १०।५३।५३

भोजकट नाम की नगरी बसाता है और प्रतिज्ञानुसार कुंडिनपुर न लौटकर वहीं रहता है। मध्यकालीन खंडकाव्यों में इस प्रसंग का संक्षिप्त वर्णन हुआ है। वहाँ केवल इतना ही दिखाया गया है कि रुक्म का कृष्ण से युद्ध होता है और कृष्ण उसके प्राण न लेकर उसकी दाढ़ी-मूँछ और केश मुड़ाकर छोड़ देते हैं।

रुक्म की प्राण रक्षा के लिए रुक्मिणी ने भागवत में कृष्ण से प्रार्थना की है और ऐसा अनेक मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने किया है। कृष्ण द्वारा रुक्म की दाढ़ी-मूँछ मुड़वा देने पर भागवत में बलराम अप्रसन्नता प्रकट करते हैं। पृथ्वीराज की 'बेलि' में तो बलदेव के इस रुख को देखकर कृष्ण ने रुक्म के केश को पूर्ववत् बना दिया है। इसी अवसर पर भागवत में बलवीर ने रुक्मिणी को आत्मा-परमात्मा का उपदेश दिया है। मध्यकालीन खंडकाव्यों में इस स्थल पर रुक्मिणी-कृष्ण परिणय की सूचना दी गयी है और पृथ्वीराज ने तो दोनों के संयोग का अति विस्तृत वर्णन किया है।

रासलीला विषयक

कृष्ण-रचित महारास की कथा विष्णुपुराण के पंचम अंश के अध्याय १३ एवं भागवत के दशम स्कंध में आयी है। मध्यकालीन खंडकाव्यों का उपजीव्य भागवत का दशम स्कंध ही है। उसमें उनतीस से लेकर तेतीस अर्थात् पाँच अध्यायों में यह कथा कही गयी है जिनमें कुल १७४ श्लोक हैं। इस प्रसंग के मध्यकालीन खंडकाव्य भागवत के अत्यन्त ही निकट हैं। कथावस्तु सबने भागवत के अनुसार ही रखी है। मध्यकालीन खंडकाव्यों और भागवत के इस प्रकरण में वर्णन के विस्तार और संकोच का ही अन्तर है। भागवत के किसी वर्णन को इन खंडकाव्यों ने विस्तार दिया है तो किसी को संक्षिप्त कर दिया है, भागवत से इनकी भिन्नता बस इतनी ही है। नंददास ने अपनी 'रासपंचाध्यायी' का प्रारम्भ शुकदेव के शिख-नख-वर्णन से किया है। फिर, भागवत और 'रासपंचाध्यायी' की महिमा बताते हुए इसकी रचना का कारण लिखा है। भागवत में यह प्रकरण स्वभावतः ही नहीं है।

महारास के उपर्युक्त पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए नंददास ने प्रथम अध्याय में ही वृंदावन की रमणीयता का विस्तृत वर्णन किया है। भागवत में यह प्रकरण केवल एक श्लोक में ही वर्णित है। फिर, भागवत में कृष्ण ने व्रज वधुओं को पातिव्रत्य का लम्बा उपदेश दिया है। नंददास ने इसको अनावश्यक समझकर छोड़ दिया है। यहाँ अत्यन्त संक्षेप में कृष्ण गोपियों को घर लौट जाने के लिए कहते हैं। प्रथम अध्याय की वस्तु में नंददास ने कुछ जोड़ा भी है। अतुलित छविधारी कृष्ण के रास को देखने के लिए कामदेव का भी मन ललच जाता है किंतु वह कृष्ण को देखते ही मूर्च्छित हो जाता है। तब रति उसे उठाकर ले जाती है। यह प्रकरण भागवत में नहीं है। 'रासपंचाध्यायी' में कृष्ण के अदृश्य हो जाने का वर्णन भागवत के अनुसार ही है। दूसरे और तीसरे अध्याय की कथा भागवत के तीसवें और इकतीसवें अध्याय के समान ही है। तीसरे अध्याय में गोपियों की विरहाकुलता का वर्णन संक्षिप्ततर है इस अवसर पर कृष्ण वेणी गूँथते-गूँथते अदृश्य हो जाते हैं किंतु भागवत में गोपी

को कंधे पर चढ़ाते हुए अंतर्धान हुए हैं। सदानंद ने इस स्थल पर भागवत का ही अनुकरण किया है।

'रासपंचाध्यायी' के चौथे अध्याय में कृष्ण के प्रकट होने का वर्णन है। इस अवसर पर भागवत में गोपियों की प्रेमपूर्ण बातों का उत्तर कृष्ण ने बड़ी कुशलतापूर्वक दिया है पर नंददास के कृष्ण मौन रहे हैं। 'रासपंचाध्यायी' का शेषांश भागवत के अनुसार ही है। इस प्रसंग के मध्यकालीन खंडकाव्यों में कथा-विधान का भेद प्रायः नहीं के बराबर मिलता है। अतः उनका भागवत से वही सम्बन्ध है जो नंददास की 'रासपंचाध्यायी' का है।

दानलीला-विषयक खंडकाव्य

कृष्ण की इस लीला का उल्लेख भागवत में नहीं है। सूरदास ने कृष्ण की इस लीला का वर्णन किया है। सूर के इस वर्णन में प्रबंधत्व का भी अभाव नहीं है। मध्यकालीन खंडकाव्यकार सूरदास से ही अनुप्रेरित हैं। सूरदास में गोरस का दान न होकर तन-मन का ही दान हुआ है।[1] बात अवश्य ही गोरस-दान से आरंभ हुई थी किंतु उसके मध्य गोपियों को काम की 'साँटी' लगी और फलतः बात समाप्त हुई तन-मन-दान पर! लेकिन यह सब होते हुए भी सूरदास में आध्यात्मिकता सुरक्षित है। अन्य मध्यकालीन खंडकाव्यकार आध्यात्मिक भाव की रक्षा नहीं कर पाये हैं।

सुदामा विषयक खंडकाव्य

सुदामा की कथा भागवत के दशम स्कंध के अस्सी और एकासी अध्यायों में आयी है। वहाँ कुल छयासी श्लोकों में यह कथा कही गयी है। यह कथा वहाँ एक आख्यान के रूप में ही है जिसको लेकर मध्यकालीन काव्यकारों ने उत्तम खंडकाव्यों का प्रणयन किया है। भागवत में यह कथा इतिवृत्तात्मक रूप में ही है। उस इतिवृत्त में खंडकाव्यकारों के मार्मिक स्थलों को पहचान कर उसे सविस्तार वर्णन किया है।

भागवत में सुदामा की दीनता का केवल एक श्लोक में वर्णन है। मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने इसे विस्तार से वर्णित किया है। फिर, भागवत में ब्राह्मणी यह पहले से जानती है कि कृष्ण और सुदामा गुरु के यहाँ साथ-साथ पढ़ते थे। अतः वह सुदामा से द्वारका जाने का अनुरोध करती है। मध्यकालीन सभी खंडकाव्यकारों ने इस सीधे प्रकरण को वक्रता दी है। इन खंडकाव्यों में ब्राह्मणी सुदामा से ही पूछ

---

१. ब्रज युवती सुनि मगन भई।
यह बानी सुनि नंद-सुवन-मुख, मन व्याकुल, तन सुधिहु गई॥
को हम कहाँ रहितं, कँह आई, जुवतिनि कै यह सोच परयौ॥
लागी काम-नृपति की साँटी, जोबन-रूपहिं आनि अर्‍यौ॥
असित भई तरुनी अनंग डर, सकुचि रूप जोबनहिं दियौ॥
सूर स्याम अब सरन तुम्हारी, हृदय सबनि यह ध्यान कियौ॥
॥पृ० १५८६॥२२०७॥
—सूरसागर, नागरी प्रचारिणी सभा, पृ० ८०६

कर यह जानती है कि कृष्ण उनके बचपन के मित्र हैं और तब उनसे उनके पास जाने का आग्रह करती है। भागवत में सुदामा अपनी पत्नी के परामर्श का प्रतिवाद नहीं करते। वह यह सोचकर द्वारका जाने के लिए तैयार हो जाते हैं कि धन न भी मिले तो कृष्ण के दर्शन तो हो ही जायेंगे। किसी भी खंडकाव्य में सुदामा इस तरह कृष्ण से मिलने के लिए तैयार नहीं हो जाते। अपनी पत्नी के साथ पर्याप्त उत्तर-प्रत्युत्तर के पश्चात् वे उसकी सलाह मानते हैं। यह विवाद तो हलधरदास में देखने ही योग्य है।

भागवत में सुदामा एकाएक द्वारका पहुँचे हुए दिखाये जाते हैं। मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने यह दिखाया है कि कैसे सुदामा को रास्ते में रात हो जाती है, वे विश्राम करते हैं और प्रातःकाल जागने पर अपने को गोमती नदी के किनारे पाते हैं फिर, भागवत में सुदामा बेरोक कृष्ण के पास पहुँच जाते हैं। मध्यकालीन खंड-काव्यों में आधुनिक कालीन राजसी ठाठ-बाट का वर्णन है। इसमें पहले तो सुदामा बड़ी कठिनाई से हाथी घोड़ों एवं दर्शनार्थ आगत नरेशों की भीड़ से होकर महल के मुख्य द्वार तक पहुँच पाते हैं और तब राजकीय शिष्टाचार के अनुसार द्वारपाल के द्वारा कृष्ण को अपना आगमन सूचित करते हैं। इन खंडकाव्यों में कहीं-कहीं तो सुदामा को द्वारपाल के द्वारा अपमानित भी होना पड़ा है।

भागवत में कृष्ण के द्वारा किया हुआ सुदामा का स्वागत अतिथि सत्कार नहीं बल्कि पूजा ही है। वे सुदामा को पलंग पर बैठाकर अपने हाथों से उनके चरण धोते हैं और चरणोदक को अपने शीश पर धारण करते हैं। कृष्ण उनके शरीर में चंदनादि का लेप कर उनकी पूजा करते है और उनकी आरती उतारते हैं। मध्य-कालीन खंडकाव्यों में सुदामा के प्रति कृष्ण के मन में इस भावना का अभाव है। इस अवसर पर भागवत में कृष्ण शैशव के दिनों की याद करते हैं, जब वे सुदामा के साथ संदीपन मुनि के यहाँ पढ़ते थे। मध्यकालीन खंडकाव्यों में भी ऐसा हुआ है।

भागवत में यह पूछते-पूछते कि मेरे किए क्या उपहार लाये हैं. कृष्ण सुदामा से चिउड़ा की पोटली छीन लेते हैं और उसमें से एक मुट्ठी लेकर फाँक लेते हैं। दूसरी मुट्ठी खाते समय रुक्मिणी उनका हाथ रोक देती है। मध्यकालीन खंडकाव्यों में तीसरी मुट्ठी खाते समय रुक्मिणी हाथ रोकती है। कृष्ण ने सुदामा को किस प्रकार सम्पत्ति प्रदान की, इसका वर्णन भागवत में नही है। मध्यकालीन खंडकाव्य-कारों में गोपाल और नरोत्तम ने भागवत का अनुकरण किया है। अन्य खडकाव्य-कारों ने इस प्रसंग का यथामति वर्णन किया है। भागवत में सुदामा रात भर द्वारका में ठहरते हैं और दूसरे ही दिन विदा लेते हैं। इसके विपरीत बीर बाजपेयी और नरोत्तमदास के सुदामा सात दिनों तक वहाँ ठहर जाते हैं। गोपाल, वंशमणि और हलधर में भागवत की तरह दूसरे ही दिन सुदामा प्रस्थान करते हैं।

विदा का वर्णन भागवत में बिल्कुल छोड़ दिया गया है जबकि सभी मध्य-कालीन खंडकाव्यों में इसका वर्णन हुआ है। भागवत में द्वारका से लौटते हुए सुदामा आशातीत आतिथ्य पाने से गद्गद हैं, परन्तु उनके हृदय के एक कोने में यह भाव भी विद्यमान है कि उन्हें धन नहीं मिला, यद्यपि वे कृष्ण द्वारा धन नहीं दिये

जाने की व्याख्या भी सोच लेते हैं। वे सोचते हैं कि शायद मैं धन पाकर मदांध हो जाऊँगा, इसीलिए उन्होंने धन नहीं दिया।[1] वंशमणि, वीर और हलधर के सुदामा इसके समीप हैं। सुदामा के अपने गाँव में लौटकर आने का वर्णन भागवत में संक्षिप्त और किंचित् विलक्षण है। अपने गांव के परिवर्तित रूप को देखकर एक क्षण के लिए उन्हें भ्रम होता है कि क्या यह वही स्थान है जहाँ मैं रहता था। इसी समय गाँव के नर-नारी गीत-वाद्य के साथ सुदामा की अगवानी कर उन्हें महल में पहुँचा देते हैं। इस स्थल का बड़ा मार्मिक एवं विस्तृत वर्णन मध्यकालीन खंडकाव्य-कारों ने किया है। उनमें ग्रामवासियों ने कहीं भी सुदामा की अगवानी नहीं की है। अपने परिवर्तित गाँव को देखकर सुदामा को भ्रम होता है कि पुनः राह भूल कर द्वारकापुरी ही पहुँच गया, पर जब उनकी पत्नी उन्हें पहचानकर उन्हें बुलाने जाती है तो सुदामा समझते हैं कि कोई परनारी मुझे फँसा रही है। बहुत देर के बाद सुदामा का यह भ्रम मिटता है। भागवत में इस विनोदमय प्रकरण का अभाव है।

कृष्ण-प्रवास-विषयक खंडकाव्य

इस प्रसंग के खंडकाव्यों का उपजीव्य भी भागवत का दशम स्कंध ही है। रत्नदास को छोड़कर अन्य सभी के खंडकाव्यों की मूल कथा उद्धव का ब्रज-गमन और आगमन भागवत के छयालीसवें और सैंतालीसवें अध्याय में वर्णित है। छयालीसवें अध्याय के ४९ श्लोकों में उद्धव के ब्रज-गमन का प्रस्ताव, कृष्ण का संदेश, उद्धव की ब्रज-यात्रा एवं ब्रज में पहुँचकर नंद से उनका वार्तालाप वर्णित है। सैंतालीसवें अध्याय के ६९ श्लोकों में उद्धव-गोपी-सम्वाद और उद्धव का मथुरा प्रत्यागमन कथित है। बख्शी हंसराज के खंडकाव्य की कथा अक्रूर के ब्रज जाकर कृष्ण-बलदेव को लाने से शुरू होती है। अक्रूर की कथा भागवत के नवम स्कंध के छत्तीसवें, अड़तीसवें और उनतालीसवें अध्याय में आयी है। इन अध्यायों में कंस द्वारा अक्रूर को ब्रज भेजकर कृष्ण-बलराम को ले आने का वर्णन है। अक्रूर की कथा विष्णु पुराण के पंचम अंश के अध्याय पंद्रह और सत्रह में भी आयी है। अक्रूर द्वारा ब्रज जाकर कृष्ण को मथुरा लाने का वर्णन सूरदास ने भी किया है।[2] रत्नदास के खंडकाव्य में कृष्ण के कुरुक्षेत्र जाकर ब्रजवासियों को दर्शन देने की कथा है। प्रेमदास और सेवादास ने अपने खंडकाव्यों की कथा को आगे बढ़ाकर कृष्ण के कुरुक्षेत्र गमनागमन तक विस्तृत किया है। कृष्ण के कुरुक्षेत्र जाने की कथा मूल रूप में भागवत दशम स्कंध के अध्याय ८२ में आयी है।

भागवत के इस प्रकरण में विशुद्ध आध्यात्मिक भाव है। कृष्ण ने गोपियों को जो उपदेश दिये हैं उससे यह प्रकट है। कृष्ण ने स्पष्ट कहा है कि मेरा प्रेम प्राणियों को अमरत्व देने वाला है, सारे पदार्थों के पहले, पीछे, बीच में, बाहर और

---

१. अधनोऽयं धनं प्राप्य माद्यन्नुच्चैर्न मां स्मरेत्।
इति कारुणिको नूनं धनं मेऽभूरि नाददात्॥
—भागवत, १०।८१।२०।

२. सूरसागर, नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १२५५, १२६१

भीतर मैं-ही-मैं हूँ, मैं अविनाशी सत्य हूँ।[1] किंतु मध्यकालीन खंडकाव्यों में इस प्रकरण को उद्धव-ब्रजगमन-प्रसंग के साथ संयुक्त कर एवं स्वतंत्र भी रखकर इसे प्रेममय रूप प्रदान किया गया है। रत्नदास के कृष्ण को तो प्रेम की रक्षा के लिए दो रूप धारण कर द्वारका और ब्रज दोनों जगह लौटना पड़ा। कुरुक्षेत्र में कृष्ण एवं ब्रजवासी-मिलन का वर्णन सूरसागर में भी २३-२४ पद्यों में हुआ है।[2]

इस संदर्भ के खंडकाव्यों की मूलकथा, उद्धव का ब्रजगमनागमन, भागवत की कथा से बिलकुल विच्छिन्न है। मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने इस आख्यान का उपयोग निर्गुण पर सगुण की स्थापना के लिए किया है। भागवत में निर्गुण-सगुण-विवाद का कहीं कोई संकेत नहीं है। इसमें उनका सर्वव्यापकत्व कथित है, जिसे सुनकर गोपियों को आत्मतोष हुआ है। मध्यकालीन खंडकाव्यों में कृष्ण ने निर्गुण ब्रह्म और योग का संदेश भेजा है। भागवत में कृष्ण दो उद्देश्यों से उद्धव को ब्रज भेजते है—नंद और यशोदा को आनंदित करने के लिए तथा गोपियों के विरह-ज्वर को शांत करने के लिए।[3] इन दोनों उद्देश्यों की सिद्धि के लिए भागवत में दो अध्याय रखे गये हैं। छयालीसवें अध्याय में उद्धव नंद यशोदा के साथ हैं और सैंतालीसवें अध्याय में ब्रज-वधुओं के साथ। भागवत की गोपियाँ वही वाचाल हैं। वे उद्धव को नवागत जानकर उनसे व्यंग्यपूर्ण शब्दों में कृष्ण का कुशल पूछती हैं। उद्धव बहुत देर तक कुछ बोल भी नहीं पाते है। गोपियाँ बोलती-बोलती अचानक रो पड़ती हैं।[4] इसी समय एक भ्रमर उड़ता हुआ वहाँ आता है और गोपियाँ उसी को सम्बोधित कर कृष्ण के कपटी रूप के लिए उलाहने देती हैं जिसमें वे रामावतार का भी उल्लेख करती हैं। बहुत देर के बाद उद्धव अपना मुँह खोलते हैं। पहले वे गोपियों के सौभाग्य की प्रशंसा कर कृष्ण के सर्वव्यापी रूप का वर्णन करते हैं। यह सुनकर

---

१. मयि भक्तिर्हि भूतानाममृतत्वाय कल्पते।
दिष्ट्या यदासीन्मत्स्नेहो भवतीनां मदापनः ॥४५॥
अहं हि सर्वभूतानामादिरन्तोऽन्तरं बहिः।
भौतिकानां यथा खं वार्भूर्वायुर्ज्योतिरङ्गनाः ॥४६॥
एवं ह्येतानि भूतानि भूतेष्वात्माऽऽत्मना ततः।
उभयं मय्यथ परे पश्यताभातमक्षरे ॥४७॥
भागवत दशम स्कंध, अध्याय ८२

२. सूरसागर, नंददुलारे वाजपेयी, पृ० १७०२-१७०६

३. गच्छोद्धव ब्रजं सौम्य पित्रोर्नौ प्रीतिमावह।
गोपीनां मद्वियोगाधिं मत्सन्देशैर्विमोचय ॥
—भागवत, १०।४६।३

४. गायन्त्यः प्रियकर्माणि रुदत्यश्च गतह्रियः।
तस्य संस्मृत्य संस्मृत्य यानि कैशोर बाल्ययोः ॥
—वही, १०।४७।१०

गोपियों को बड़ा आनंद होता है।[1] किसी भी मध्यकालीन खंडकाव्य में उद्धव द्वारा कृष्ण-संदेश सुनकर गोपियों को प्रसन्नता नहीं होती। वहां वे उद्धव के मुंह खोलते ही उनपर टूट पड़ती हैं।

प्रसन्न हो जाने पर भी भागवत में गोपियाँ नारी-सुलभ दुर्बलता से मुक्त नहीं हो पाती हैं। वे आखिर उद्धव से यह पूछे बिना नहीं रहतीं कि कृष्ण के दर्शन उन्हें फिर कब होंगे। और, इस अवसर पर वे यह व्यंग्य किये बिना भी नहीं रहतीं कि अब तो कृष्ण राजा हो गये हैं, वे अब हम गँवारिनों के पास भला क्यों आवेंगे।[2] भागवत में उद्धव गोपियों की विरह-व्यथा को मिटाने के लिए कई महीनों तक उनके साथ रहते हैं। वे कृष्ण-लीला सुनते-सुनाते गोपियों के विरह-ज्वाल को शांत करें या नहीं किंतु स्वयं आनंद से भर जाते हैं।[3] वे गोपियों की स्तुति करते हुए उनकी चरण-धूलि शीश पर धारण करने का सौभाग्य पाने के लिए व्रज की लता, झाड़ी, आदि बन जाने की कामना करते हैं।[4] मध्यकालीन खंडकाव्यों में भी वे गोपियों से प्रभावित हुए हैं पर भागवत के उद्धव से वे पीछे ही हैं।

इस प्रसंग के मध्यकालीन खंडकाव्यों पर भागवत की अपेक्षा सूर का ही अधिक प्रभाव है। सूर ने इस विषय पर कोई खंडकाव्य नहीं लिखा किंतु इस प्रसंग पर उन्होंने तीन भिन्न-भिन्न आकार के भ्रमरगीतों की रचना की। इन तीनों में विस्तार-भेद से उन्होंने निर्गुण सगुण-विवाद का समावेश किया। प्रथम भ्रमरगीत अत्यंत संक्षिप्त रचना है जो मुख्यत. निर्गुण ब्रह्म-चर्चा पर ही अवलम्बित है। इसमें उद्धव-गमन के पूर्व व्रज-दशा, उद्धव-कृष्ण-वार्तालाप, उद्धव का नंद-यशोदा से मिलन, आदि कथा-भाग बिलकुल नही है। द्वितीय भ्रमरगीत अपेक्षाकृत विस्तृत है। इसका आरम्भिक अंश तो संक्षिप्त है परंतु अंतिम अंश विस्तृत है। आरम्भ मे उद्धव का मथुरा-गमन जो प्रथम भ्रमरगीत मे नही है, इसमें भागवत की तरह संक्षिप्तता से है। सूरदास का यह भ्रमरगीत कथा-योजना मे भागवत के समीप है। यहाँ कृष्ण ने मौखिक संदेश न देकर पत्र दिया है। यह सूरदास की मौलिक उद्भावना है। परवर्ती खंडकाव्यकारों ने इसका अनुकरण नहीं किया है। इस भ्रमरगीत में भागवत के विपरीत भ्रमर-आगमन का उल्लेख नही, पर 'मधुप' शब्द का प्रयोग अवश्य है। मुकुंददास की 'सनेहलीला' में इसी का अनुकरण है। भँवरगीतकार मुकुंददास

---

१. एवं प्रियतमादिष्टमाकर्ण्य व्रजयोषितः।
ता ऊचुरुद्धवं प्रीतास्तत्सन्देशागतस्मृतीः॥
—भागवत, १०।४७।३८

२. कस्मात् कृष्ण इहायाति प्राप्त राज्यो हताहितः।
नरेन्द्र कन्या उद्वाह्य प्रीतः सर्वसुहृद्वृतः॥ वही, १०।४७।४५

३. दृष्ट्वैवमादि गोपीनां कृष्णावेशात्मविक्लवम्।
उद्धवः परमप्रीतस्ता नमस्यन्निदं जगौ॥ वही, १०।४७।५७

४. आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्यां वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्॥
या दुस्त्यजं स्वजनमार्यपथं च हित्वा भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥
—वही, १०।४७।६०

लक्ष्मीनारायण और प्रेमदास ने भागवत का अनुकरण किया है। आलमनि, वृंदावन दास, सेवादास और बख्शी हंसराज ने इस अनावश्यक प्रकरण को हटा दिया है।

सूरदास का तीसरा भ्रमरगीत बृहत्तम है। इसमें भागवत के छयालीसवें अध्याय की सम्पूर्ण कथा मौलिक काट-छाँट के साथ आ गयी है। मध्यकालीन खंड-काव्यकारों पर सूरदास के इसी भ्रमरगीत का प्रभाव है। इसमें भी कृष्ण ने उद्धव के द्वारा पत्र भेजा है। कुब्जा ने उद्धव के द्वारा राधा तथा अन्य गोपियों को संदेश भेजा है।[1] मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने इस प्रकरण का समावेश नहीं किया है। सूरदास के इस भ्रमरगीत में भ्रमरप्रवेश भी हुआ है।[2] इन एक-आध स्थलों के अति-रिक्त सूर के भ्रमरगीत का कथा-संघटन मध्यकालीन खंडकाव्यों के निकट ही है।

कृष्ण-भक्ति-मूलक विविध खंडकाव्य

इस संदर्भ के खंडकाव्यों में 'प्रतीति परीक्षा', 'जोगलीला' और 'कृष्ण परीक्षा' को छोड़कर अन्य खंडकाव्यों का उपजीव्य भागवत ही है। अन्य खंडकाव्यों की वस्तु चीर-हरण, गोवर्द्धन-धारण और कालीय-दमन से सम्बंधित है। चीर-हरण की कथा भागवत दशम स्कंध के बाईसवें अध्याय में, गोवर्द्धन-धारण की कथा पच्चीसवें अध्याय में और विष्णुपुराण के पंचम अंश के अध्याय ११ में तथा कालीय-दमन की कथा भागवत के सोलहवें-सत्रहवें अध्यायों मे एवं विष्णुपुराण के पंचम अंश के अध्याय ७ मे आयी है। 'प्रतीति परीक्षा' 'जोगलीला' और 'कृष्ण परीक्षा' की वस्तु मौलिक है।

(ख) शैव खंडकाव्य

शिव-विवाह का प्रसंग रामचरितमानस के बालकांड में भी आया है। गो० तुलसीदास के 'पार्वती मंगल' का उससे साम्य और वैषम्य दोनों हैं। मानस के समान इसके भी आरम्भ में कवि ने विनय स्वरूप अपना अज्ञान प्रदर्शन किया है। मानस और पार्वती मंगल दोनो म नारद ने शिव से शैलजा के विवाह होने की भविष्यवाणी की है और उन्होने ही उनको वर-रूप मे प्राप्त करने का उपाय बताया है। यह प्रकरण शिवपुराण और कुमार सम्भव में भी है। जब गिरिजा शिव-प्राप्ति के हेतु तप करने चली जाती है तो उसके माता-पिता को दुःख होता है। इस अवसर पर मानस में वेदसिरा मुनि प्रकट होकर पार्वती का महत्व समझा कर उन्हें प्रबोध देते

१. कुबिजा सुन्यो जात ब्रज ऊधौ, महलहिं लियौ बुलाइ।
अपने कर पाती लिखी राधेहिं गोपिनि सहित बड़ाइ।।
मोकौं तुम अपराध लगावति, कृपा भई अनयास।
भुकति कहा मो पर ब्रज-नारी, सुनहु न सूरजदास।।
—सूरसागर, सं० नंददुलारे बाजपेयी, पृ० १४१६

२. इहिं अंतर मधुकर इक आयौ।
निज स्वभाव अनुसार निकट ह्वै, सुंदर सब्द सुनायौ।।
पूछन लागीं ताहि गोपिका, कुबिजा तोहिं पठायौ।
कीधौं सूर स्याम सुंदर कौं, हमें संदेसो लायौ।।
—सूरसागर, सं० नंददुलारे बाजपेयी, पृ० १४१८

है। 'पार्वती मंगल' में यह प्रसंग नहीं है। मानस में राम शिव के समक्ष प्रकट होकर पार्वती-रूप में सती के जन्म लेने की बात से अवगत कराते हैं।[1] निस्संदेह रामचरित मानस में एक विशेष प्रयोजन से ऐसा किया गया है और वह प्रयोजन है विविध मतवादों में समन्वय। 'पार्वती मंगल' में वैसा कोई प्रयोजन नहीं होने के कारण इस प्रकरण का समावेश नहीं किया गया है। मानस में सप्तर्षियों के द्वारा शिव ने पार्वती की दृढ़ता की परीक्षा करायी है।[2] 'पार्वती मंगल' में शिव ने स्वयं बटु-वेष में यह कार्य किया है। यह कुमारसम्भव के अनुकरण पर है। मानस में पार्वती सप्तर्षियों से प्रत्यक्ष वाद-विवाद करती है किंतु 'पार्वती मंगल' में वह बटु की ओर से मुख फेरकर सखी द्वारा उत्तर देती है। कामदेव-भस्म का प्रसंग दोनों में है। मानस में मन्मथ के भस्म हो जाने के बाद सप्तर्षि पार्वती को चिढ़ाने गये हैं। वे कहते हैं कि नारद का उपदेश मानकर तुमने मेरी अवज्ञा की, अब तो शिव ने मनोभव को तीसरे नेत्र से जला डाला, अब तुम क्या करोगी।[3] 'पार्वती मंगल' में यह प्रकरण नहीं है। मानस में सभी देवताओं ने शिव के पास जाकर परिणय करने का निवेदन किया है। 'पार्वती मंगल' में इसे स्थान नही मिला है। विवाह निश्चित करने के लिए सप्तर्षियों को हिमालय के पास भेजना, हिमवान् द्वारा उनका स्वागत और विवाह की तिथि निश्चित कर सप्तर्षियों का लौट आना - ये प्रकरण कुमारसम्भव के अनुसार हैं। मानस और मंगल दोनों में 'जस दूलह तसि बनी बराता' का रूप है। दोनों में विष्णु ने शिव को छकाने का प्रयत्न करते हुए कहा है कि सब लोग अपने-अपने समाज को अलग-अलग कर चले। मानस में शिव ने हरि के इस विनोद का कोई उत्तर नहीं दिया है किंतु मंगल में शार्ङ्गपाणि छक गये हैं। त्रिनेत्र ने यहाँ अपना तथा अपने गण का ऐसा रूप परिवर्तन किया है कि उसे देखकर सभी लज्जित हो गये हैं।[4]

---

१. प्रगटे रामु कृतज्ञ कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला।।
बहु विधि राम सिवहि समुझावा। पारबती का जनम सुनावा।।
अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिस्तर सहित कृपानिधि बरनी।।
—तुलसी ग्रथावली, भाग १, खंड २, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ४२

२. तबहि सप्तरिषि सिव पहिं आए। बोले प्रभु अति बचन सुहाए।।
पारबती पहिं जाइ तुम्ह प्रेम परीच्छा लेहु।
गिरिहि प्रेरि पठएहु भवन दूर करेहु संदेहु।।७७।। —वही

३. कहा हमार न सुनेहु तब नारद के उपदेस।
अब भा झूठ तुम्हार पनु जारेउ काम महेस।।८६।।
—वही, पृ० ४८

४. लखि लौकिक गति संभु जानि बड़ सौहर।
भए सुंदर सतकोटि मनोज मनोहर।।१२४।।
नील निचोल छाल भइ, फनि मनि भूषन।।
रोम रोम पर उदित रूपमय पूषन।।१२५।।
गन भए मंगल वेष मदन-मनमोहन।
सुनत चले हिय हरषि नारि नर, जोहन।।१२६।।

कुमारसम्भव में इस तरह वेष-परिवर्तन तो नहीं है किंतु बरात की तैयारी के समय ही भावान्तरापत्ति के द्वारा शिव के प्रकृत वेष का मनोहर वर्णन किया गया है।[1]

दयाराम के 'शिव-विवाह' की कथा-योजना बिलकुल कल्पना पर अवलम्बित है। इसमें शिव और गोरा ये दो नाम तथा शिव की बरात का वर्णन ही पुराण के अनुसार है, अन्यथा इसके सारे प्रकरण कल्पित हैं। यहाँ तक कि इन्होंने हिमवान् की पत्नी का नाम चंद्रावती लिखा है जबकि अन्यत्र उसका नाम मैना है। दयाराम ने इस पौराणिक कथा को कल्पना के संयोग से लौकिक भूमि पर उतार दिया है।

(ग) जैन खंडकाव्य

जैन कथात्मक खंडकाव्य तो समग्रतः कल्पित हैं ही, चरितात्मक खंडकाव्य मुख्यतः इतिवृत्तात्मक हैं और सभी खंडकाव्यकारों ने परम्परा-प्राप्त इतिवृत्त को काव्य-बद्ध किया है।

(घ) प्रसिद्ध भक्तों के जीवन से सम्बंधित खंडकाव्य

ध्रुव की कथा भागवत चतुर्थ स्कंध के अष्टम और नवम अध्याय तथा विष्णु पुराण के पंचम अंश के अध्याय ११, १२, भरत की कथा भागवत के पंचम स्कंध के सप्तम, अष्टम और नवम अध्याय एवं विष्णु पुराण के द्वितीय अंश के अध्याय १३ में तथा प्रह्लाद की कथा भागवत के सप्तम स्कंध के तृतीय से लेकर दशम अध्याय में बहुत विस्तार से कही गयी है। विष्णु पुराण के प्रथम अंश के सत्रहवें से बीसवें अध्याय में भी यह कथा आयी है। प्रह्लाद की इस विस्तृत कथा में से ही मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने अपने खंडकाव्यों की वस्तु ली है। खंडकाव्यकारों का ध्यान मुख्यतः हिरण्यकशिपु द्वारा प्रह्लाद पर किये गये अत्याचार और अंततः भगवान् द्वारा उसके वध पर केंद्रित है। इस संदर्भ के खंडकाव्य इतिवृत्तात्मक हैं, अतः ये सब पूर्णतः भागवत के ही अनुकरण पर हैं।

'नरसी मेहता माहेरो' गुजरात के एक भक्त नरसिंह मेहता के जीवन पर आधृत है। नरसिंह मेहता का जन्म १४१२-१३ ई० के आसपास हुआ था।[2] शैशव में ही उनके माता-पिता का देहांत हो जाने के कारण वे अपने अग्रज के० जीवणराम की स्नेह-छाया में पले। बाल्यकाल से ही संत-समागम के अतिरिक्त किसी अन्य कार्य में उनका मन नहीं लगता था। उनकी इस संत-प्रवृत्ति को अकर्मण्यता समझकर एक व्यक्ति ने उनसे अपनी कन्या का विवाह करना अस्वीकार कर दिया था। किंतु १४३१ ई० में रघुनाथ राम की पुत्री माणेक बाई के साथ उनका परिणय हुआ। विवाहोपरांत भी उनकी प्रवृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं आया। आखिर भाभी के

संभु सरद राकेस, नखतगन सुरगन।
जनु चकोर चहुँ ओर बिराजहिं पुरजन ॥१२७॥
—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, सभा, पृ० ३३

२. तद्गौरवान्मंगल मण्डनश्रीः सा पस्पृशे केवलमीश्वरेण।
स एव वेषः परिणेतुरिष्टं भावान्तरं तस्य विभोः प्रपेदे ॥
—कुमारसम्भव, ७।३१

१. रास और रासान्वयी काव्य, डा० दशरथ ओझा, पृ० ३६४

तानों से ऊबकर वे एक वन में चले गये और तप से शिव को प्रसन्न किया। शिव की ही अनुकम्पा से उनमें कवित्व शक्ति का भी स्फुरण हुआ। इसके बाद वे जूनागढ़ में आकर रहने और साधु-संगति एवं हरि-भजन में समय यापन करने लगे।

(२) वीरतामूलक खंडकाव्य

(क) पौराणिक

सबलसिंह का 'महाभारत चक्रव्यूह' महाभारत के द्रोणपर्व पर अवलम्बित होकर भी कवि-कल्पना से युक्त है। इसमें सबलसिंह ने दिखाया है कि अर्द्धरात्रि के समय दुर्योधन ने चक्रव्यूह का निर्माण कराया और युधिष्ठिर को दूत के द्वारा यह सूचना भेजी। महाभारत में यह प्रकरण नहीं है। 'चक्रव्यूह' में अभिमन्यु स्वयं चक्रव्यूह-निर्माण की बात जानकर उसके भेदन के लिए तत्पर होता है किंतु महाभारत में युधिष्ठिर उसे यह आदेश देते हैं।[1] 'चक्रव्यूह' में अभिमन्यु और सारथी का सम्भाषण महाभारत के अनुकरण पर ही है। इसमें अभिमन्यु द्वारा चक्रव्यूह-भेदन का विस्तृत वर्णन है। किस-किस वीर के साथ कैसे युद्ध हुआ और क्या-क्या वार्तालाप हुआ, इसका विस्तार से उल्लेख हुआ है।

इधर अभिमन्यु वीरगति प्राप्त कर चुका है और उधर अर्जुन संसप्तकों पर विजय पाकर लौट रहा है। राह में होने वाले अशकुन से अर्जुन उद्विग्न हो रहा है। महाभारत में इसका विस्तृत वर्णन है किंतु सबलसिंह ने उसको संक्षिप्त कर दिया है। इस स्थल पर सबलसिंह ने अर्जुन को बड़ा भीरु दिखाया है। अर्जुन पुत्र-शोक से घबड़ाकर वन में चला जाता है। महाभारत में ऐसा नहीं है। सबलसिंह ने यहाँ कल्पना को और आगे बढ़ाया है। कृष्ण अर्जुन को सुरपुर ले जाते हैं और अभिमन्यु को दिखाते हैं। अर्जुन पुत्र-पुत्र कहकर दौड़ता है, किंतु अभिमन्यु कहता है कि मैं तुम्हारा पुत्र नहीं हूँ। इस पर अर्जुन हतप्रभ हो जाता है। यह प्रकरण भी महाभारत में नहीं है। इसके बाद अर्जुन द्वारा जयद्रथ-वध की प्रतिश्रुति और शिव के पास जाकर अस्त्र-प्राप्ति महाभारत के अनुकरण पर ही है।

प्राणनाथ के 'बभ्रुवाहन' की कथा महाभारत के अश्वमेध पर्व के ७९-८१ अध्यायों में वर्णित है। युद्धोपरांत युधिष्ठिर के अश्वमेध यज्ञ में मणिपुर में चित्रांगदा के गर्भ से उत्पन्न बभ्रुवाहन ने यज्ञ के अश्व को पकड़ लिया। इस पर उससे अर्जुन का युद्ध हुआ जिसमें अर्जुन उसके बाणों से बिद्ध होकर बेहोश हो गया। जब बभ्रुवाहन की माता चित्रांगदा को यह बात मालूम हुई तो उसकी सपत्नी उलूपी ने संजीवन मणि के द्वारा अर्जुन को चैतन्य किया। महाभारत की यही कथा प्राणनाथ के खंडकाव्य में वर्णित है।

(ख) ऐतिहासिक

१. **चरित्रपरक**—हमारे यहाँ ऐतिहासिक काव्यों को लेकर उसकी इतिहास-सम्मतता पर पर्याप्त वाद-विवाद हुआ है + तथा उनमें वर्णित एक-एक घटना की छान-बीन की गयी है। और, उनमें ऐतिहासिक असंगति पाने पर उन्हें जाली भी

१. महाभारत, द्रोणपर्व, ३५।१२-१५

घोषित किया गया है। इन ऐतिहासिक मंथनों को देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हमारे विद्वानों ने ऐतिहासिक काव्यों को पद्य-बद्ध इतिहास ही समझ लिया। किंतु सच तो यह है कि ऐतिहासिक काव्य पहले काव्य है तब इतिहास। ऐतिहासिक वे इसलिए हैं कि उनके पात्रों के नाम और कहीं-कहीं घटनाएँ भी इतिहास से ली गयी हैं। यहाँ स्मरणीय है कि पात्रों के मात्र नाम ही ऐतिहासिक हैं, उनका व्यक्तित्व कवि-कल्पित है। जहाँ कवि ने घटना इतिहास से ली है वहाँ भी केवल घटना ही ऐतिहासिक है, घटनाओं का संयोजन और उसकी परिणति कवि के मस्तिष्क की उपज है। अतः ऐसे काव्यों की ऐतिहासिक शव-परीक्षा निरर्थक है। कवि इतिहास से नाम लेता है, जीवन नहीं; काल लेता है, घटनाक्रम नहीं।

जटमल की 'गोरा-बादल की कथा' और चंद्रशेखर वाजपेयी का 'हम्मीर-हठ' ऐसे ही ऐतिहासिक खंडकाव्य हैं। दोनों के पात्र ही ऐतिहासिक हैं, उनके ताने-बाने कवि ने स्वयं बुने हैं। इसलिए 'गोरा-बादल की कथा' को विद्वानों ने अर्ध ऐतिहासिक रचना कहा है। 'हम्मीर हठ' में तो चंद्रशेखर वाजपेयी ने घटना की परिणति को पूर्णतः परिवर्तित कर दिया है। इसमें रणथम्भगढ़ के हम्मीरदेव और दिल्ली के सुलतान अलाउद्दीन के युद्ध का वर्णन है जिसमें अलाउद्दीन की पराजय हुई है। इस घटना में अलाउद्दीन और हम्मीरदेव ऐतिहासिक व्यक्ति हैं तथा उन दोनों के मध्य युद्ध भी इतिहास सम्मत ही है। किंतु इतिहास जहाँ बताता है कि हम्मीरदेव ने वीरगति प्राप्त की और अलाउद्दीन की जीत हुई वहाँ चंद्रशेखर वाजपेयी ने अलाउद्दीन की ही हार दिखायी है। वस्तुतः हम्मीर पर लिखे गये सारे काव्यों का उद्देश्य उनकी आन और उसके सफल निर्वाह को सामने लाना है, अतः इसी के अनुकूल सबने घटनाओं की योजना की है।

रत्नाकर जी ने लिखा है कि चंद्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीर-हठ' का आधार पटियाला के सरस्वती भवन में सुरक्षित चित्रावली है जिसमें उक्त युद्ध चित्रित है।[1] इस पर जोधराज के 'हम्मीर-हठ' का भी प्रभाव है। हम्मीर की मृत्यु तो जोधराज ने भी ऐसे ही दिखायी है। संस्कृत का 'हम्मीर महाकाव्य' अवश्य ही इतिहास के समीप है।

पद्माकर ने 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में कल्पना का उपयोग केवल वर्णन में किया है, उसके सारे तथ्य ऐतिहासिक ही हैं।

२. घटनापरक—ऐतिहासिक घटनापरक खंडकाव्य काव्य-बद्ध इतिहास ही है। इनकी कथा-योजना में खंडकाव्यकारों ने कल्पना का उपयोग कुछ भी नहीं किया है।

(३) प्रेममूलक खंडकाव्य

(क) गार्हस्थ्य प्रेममूलक

इस परम्परा के दोनों खंडकाव्य 'ढोला मारुरा दूहा' और 'मैनासत' लोक-कंठ में निवास कर रहे थे जहाँ से इन्हें कागज पर उतारा गया। अतः इनका स्रोत

---

१. चंद्रशेखर कवि विरचित हम्मीर-हठ, सं० जगन्नाथदास रत्नाकर, उपक्रम, पृ० ३,

लोक-मनीषा ही है। 'ढोला मारुरा दूहा' के सम्बंध में उल्लेखनीय है कि इसका नायक ऐतिहासिक व्यक्ति है किंतु इसकी घटनाओं में ऐतिहासिकता का कहीं आभास नहीं है।

(ख) स्वछंद प्रेममूलक

उषा-अनिरुद्ध-सम्बंधी खंडकाव्य--उषा-अनिरुद्ध की कथा भागवत दशम स्कंध के अध्याय बासठ और तिरसठ मे एवं विष्णु पुराण के पंचम अंश के अध्याय बत्तीस-तेतीस में आयी है। भागवत के दोनों अध्यायों के अठासी श्लोकों में यह कथा कही गयी है, इस तरह वहाँ स्वयं यह आख्यान एक लघु खंडकाव्य के रूप में है। इस आख्यान में नवीन प्रकरणों के समावेश एवं वर्णन के द्वारा सबने इसे एक सुंदर खंडकाव्य का रूप दिया है। भागवत में बाणासुर के वंश-परिचय से कथा आरम्भ हुई है और यह कहा गया है कि एक बार जब भगवान् रुद्र तांडव नृत्य कर रहे थे तो बाणासुर ने अपने हजार हाथों से वाद्य बजाकर उन्हें प्रसन्न किया और उनसे अपने नगर की रक्षा करने का वचन लिया। एक दिन अपने बल के दर्प में चूर होकर वह शिव से कहने लगा कि मुझसे लड़ने वाला त्रैलोक्य मे कोई नहीं है। शिव ने उसे सूचना दी कि जिस समय तुम्हारी ध्वजा टूटकर गिर जायगी, उस समय तुम्हें मेरे ही समान योद्धा से युद्ध करना होगा। जीवनलाल नागर के खंडकाव्य को छोड़कर इस पृष्ठभूमि का मध्यकालीन खंडकाव्यों में अभाव है। उनमें उषा-अनिरुद्ध की कथा ही मुख्यतः अभिप्रेत होने के कारण खंडकाव्यकार का ध्यान बाणासुर पर नहीं है।

भागवत मे उषा अचानक एक दिन स्वप्न में अनिरुद्ध को देखती है। जीवनलाल नागर और रामदास की उषा पार्वती के आशीष से अनिरुद्ध को स्वप्न में देखती है। अन्य खंडकाव्यकारों ने भागवत का ही अनुकरण किया है। चित्ररेखा द्वारा सभी लोकों के सुन्दर पुरुषों के चित्र बनाकर दिखाये जाने वाला प्रकरण भागवत के अनुसार सभी खंडकाव्यों में है। भागवत में चित्ररेखा अनायास अनिरुद्ध को द्वारका से शोणितपुर ले आती है। मध्यकालीन खंडकाव्यो मे इस अघटित घटना को इतनी आसानी से नहीं घटित होने दिया है। वहाँ चक्र सुदर्शन प्रहरी के रूप में चित्ररेखा को नगर-प्रवेश से रोकता है और नारद की सहायता से ही चित्ररेखा महल में प्रवेश कर पाती है। कुंजमणि में तो विरह में तड़पते हुए अनिरुद्ध को उसके परिजन रुग्ण समझ कर वैद्यों को उसकी चिकित्सा के लिए बुलाते है और वह भी वैद्य के रूप में अनिरुद्ध के पास पहुँच जाती है।

भागवत में पहरेदार उषा को देखकर ही यह समझ जाता है कि उसका कौमार्य नष्ट हो चुका है। और तब वही बाणासुर को जाकर इसकी सूचना देता है। बाणासुर स्वयं उषा के महल में आकर अनिरुद्ध को अपनी आँखों से देखता है। परशुराम और कुंजमणि में उषा की माता को अनिरुद्ध का आगमन ज्ञात हो जाता है और वही बाणासुर को इसकी सूचना देती है। भागवत में उषा की माता मंच पर सदा अनुपस्थित रही है। रामदास में बाणासुर ने कुटिनियों के द्वारा इसका पता लगाया है और जीवनलाल नागर में स्वतः ही उसने यह बात जान ली है।

मध्यकालीन खंडकाव्यों में अनिरुद्ध के नाग-पाश में बँध जाने पर नारद उपस्थित होते हैं। कुंजमणि में तो नारद अनिरुद्ध को मुक्त कराने में भी सफल होते हैं। भागवत में नारद ही कृष्ण को जाकर अनिरुद्ध के हरण एवं बाणासुर द्वारा उसके नाग-पाश में बाँध लिये जाने की सूचना देते हैं। सभी मध्यकालीन खंडकाव्य-कारों ने इसका अनुकरण किया है। भागवत में बाणासुर की धर्ममाता कोटरा युद्ध के बीच नग्न रूप में जाकर युद्ध को रुकवाती है। मध्यकालीन खंडकाव्यकारों में कुंजमणि को छोड़कर अन्य किसी ने इसका अनुकरण नहीं किया है।

इस तरह कथा की मूलरेखा भागवत एवं मध्यकालीन खंडकाव्यों में समान है, केवल कुछ नवीन प्रकरणों की योजना कर खंडकाव्यकारों ने अपने खंडकाव्यों को चमत्कारपूर्ण बनाने का प्रयास किया है।

माधवानल-कामकंदला-सम्बंधी खंडकाव्य—माधवानल और कामकंदला के प्रेम की कथा का मूलाधार सिंहासन द्वात्रिंशतिका की इक्कीसवीं कहानी है जिसे अनुरोधवती पुतली ने सुनाया है। इस मूल कथा को संस्कृत, अपभ्रंश एवं मध्यकाल के अनेक हिन्दी कवियों ने अपनी कल्पना के योग से पल्लवित किया है।

प्रकीर्ण

नंददास की 'रूपमंजरी' की कथा सर्वथा मौलिक है। इसकी कथा प्रकारतः उषा-अनिरुद्ध की कथा से मिलती-जुलती है जिसका प्रसंगवश उल्लेख किया गया है। सम्भोग-वर्णन गीतगोविंद के अनुकरण पर है। रति-क्रीड़ा में लीन नंददास की रूप-मंजरी उसी तरह 'प्रेममूलक' और 'चित बिबधान' को सहने में असमर्थ है[1] जैसे जयदेव की राधा को रोमांच और पलकों का गिरना भी कष्टकर मालूम होता है।[2]

---

१. प्रेम पुलक अंतर तिहिं काला। सो अंतर सहि सकति न बाला ॥
चित बिबधान सहति नहिं सोई। रूपमंजरी अस रस भोई ॥
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १२४

२. प्रत्यूहः पुलकाङ्कुरेण निबिडाश्लेषे निमेषेण च
क्रीडाकूतविलोकितेऽधरसुधापाने कथा केलिभिः।
आनन्दाधिगमेन मन्मथकलायुद्धेऽपि यस्मिन्नभू—
दुद्भूतः स वयोर्बभूव सुरतारम्भः प्रियं भावुकः
—गीतगोविंद, १२।२४।१

: ७ :

मध्यकाल के खंडकाव्य : मूल्यांकन

१. रामभक्तिमूलक खंडकाव्य

सीता विवाह-संबंधी

इस सम्बन्ध में गो० तुलसीदास का 'जानकी मंगल' उल्लेखनीय है। संघटन की दृष्टि से आदर्श खंडकाव्य होते हुए भी इसमें प्रबंधौचित्य का पूर्ण निर्वाह नहीं हो सका। कथा का प्रारम्भ जनक के मन में स्वयंवर रचने की बात आने और अंततः यज्ञशाला में परिणयार्थी राजाओं के उपस्थित हो जाने से होता है। कहा जाता है कि ऐसे अवसर पर विश्वामित्र अवध जाकर राम-लक्ष्मण को वन में ले आते हैं और निशिचरों का नाश तथा यज्ञ की पूर्णाहुति हो जाने के बाद विश्वामित्र दोनों भाइयों के साथ जनकपुर आते हैं। धनुष-यज्ञ की जो कथा शुरू होती है वह वहीं छूट जाती है और कवि पाठक को अवध में ले जाता है। फिर, कितने दिनों में राक्षसों का नाश और ऋषियों के यज्ञ का विसर्जन हुआ कि विश्वामित्र यह सब कर-धर कर धनुष-यज्ञ में उपस्थित हो गये जो उनके अवध जाने के समय ही शुरू हो गया था। इससे कथा की गति बाधित होती है और स्थान एवं काल की एकता खंडित होती है। राम-लक्ष्मण के यज्ञशाला में पहुँचने के बाद सारी सभा अनुपस्थित हो जाती है। धनुष तोड़ने में अन्य राजाओं की असफलता का अपेक्षित वर्णन नहीं होता है। इससे राम की महत्ता को उचित परिवेश नहीं मिलता है और वर्णन भी क्षीण हो जाता है।

वर्णन सरस अवश्य है किंतु कथा सपाट है। पाठक को कवि के साथ दौड़ना पड़ता है। कवि एक ही स्थान पर थोड़ा रुका है जब राम यज्ञशाला में पहुँचते हैं। राम को देखकर यज्ञशाला में दर्शनार्थ एकत्र नारियाँ परस्पर तरह-तरह की बातें कहती हैं। उनके अंतर्द्वंद्वों और उनकी अभिव्यक्ति का बड़ा स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है। अन्य स्थानों पर भी कवि रुका तो नहीं है पर ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि उसने मार्मिक अवसरों को नहीं पहचाना है। ऐसे अवसरों को हल्के स्पर्श से ही कवि ने सजीव और चमत्कारी बना दिया है। जब सीता यज्ञशाला में आती है तो उनकी दृष्टि राम पर पड़ती है और राम की भी दृष्टि उन पर चली जाती है। कवि कहता है कि दोनों तनों से कामदेव एक दूसरे पर बाण का संधान

कर रहा है।[1] फिर, जब राम धनुष को तोड़ने के लिए उसकी ओर बढ़ते हैं तो सीता के मन में बड़ा द्वंद्व मचता है। संकोच उनके अधरों पर पहरेदार की तरह बैठ जाता है और उनकी सारी विवशता कसमसाकर भगवान् का आश्रय लेती है, वह गौरी, गिरीश और गणेश का स्मरण करने लगती है। सीता की विवशता से भगवान् भी द्रवित हो जाते हैं और वे उनकी बाँयी भुजा और आँख के फड़कन के बहाने उन्हें आश्वासन देते हैं।[2] कन्या की विदाई का अवसर एक बड़ा ही कारुणिक दृश्य उपस्थित कर देता है। सीता की विदाई का बड़ा व्यापक प्रभाव पड़ता है। वह जब विदा होती है तो परिजन-पुरजन के साथ पशु-पक्षी भी आकुल हो उठते हैं।[3] राम यहाँ उत्सव की भीड़-भाड़ में खोये-से लगते हैं। फिर भी, उनके चरित्र की अन्य विशेषताएँ यथास्थान सामने आ ही गयी हैं। विश्वामित्र के अवध-आगमन के समय माता-पिता की आज्ञा पाकर वे विश्वामित्र के चरणों में शीश नवाते हैं। यहाँ उनकी मातृ पितृ-भक्ति और विनयशीलता देखी जा सकती है। 'जानकी मंगल' के राम-चरितमानस के राम की अपेक्षा अधिक लौकिक है। फिर भी, बड़े स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी वर्णनों को अलौकिकता से कुंठित किया गया है। विश्वामित्र के साथ वन जाते हुए राम की बाल-सुलभ चपलता का बड़ा मनोहारी निदर्शन हुआ है। राम गिरि, तरु, सरित, सर आदि को देखकर दौड़ते हैं, खग-मृग को पकड़ना चाहते हैं और फूलों को तोड़कर माला बनाते हैं। ऐसे राम पर बादल छाया करते और देवता पुष्प-वृष्टि करते हैं।[4] इसी तरह यज्ञशाला में धनुष तोड़ने के लिए प्रस्तुत होने के

---

१. राम दीख जब सीय, सीय रघुनायक।
दोउ तन तकि तकि नयन सुधारत सायक ॥९४॥
—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, जानकी मंगल, पृ० ४५

२. कहि सकति कछु सकुचसि, सिय हिय सोचइ।
गौर गनेस गिरीसहि सुमिरि सकोचइ ॥११२॥
होति बिरह-सर-मगन देखि रघुनाथहि।
फरकि बाम भुज नयन देहिं जनु हाथहि ११३॥
—वही, पृ० ४६-४७

३. सिय चलत पुरजन नारि हय गज बिहंग-मृग व्याकुल भए ॥
—वही, पृ० ५२

४. गिरि तरु बेलि सरित पर विपुल बिलोकहिं।
धावहिं बाल सुभाय, बिहंग मृग रोकहिं ॥३७॥
सकुचहि मुनिहि सभीत बहुरि फिरि आवहिं।
तोरि फूल फल किसलय माल बनावहिं ॥३८॥
देखि बिनोद प्रमोद प्रेम कौसिक उर।
करत जाहिं घन छाँह, सुमन परषहि सुर ॥३९॥
—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, जानकी मंगल, पृ० ४१

समय राम सीता के अंतर्मंथन को जान लेते हैं।[1]

'जानकी मंगल' का प्रारम्भ इतिवृत्तात्मक है। बंदना के उपरान्त तिरहुत देश के परिचय के साथ कथा शुरू होती है और धनुष-यज्ञ की झाँकी दिखाकर कवि विश्वामित्र के साथ अयोध्या चला जाता है तथा वन में निशाचरों के निधन एवं मुनियों के यज्ञ की पूर्णाहुति के पश्चात् यज्ञशाला में पहुँचता है। यहाँ तक कथा की गति बाह्य है, इसमें सरिता का प्रखर प्रवाह है। तदुपरांत गति आंतर हो जाती है, इसमें सरित्-प्रवाह के स्थान पर समुद्र की मंथर तरंग है। धनुषभंग कथा का चरमोत्कर्ष है। इसके पूर्व और पश्चात् कथा का तनाव समान है। इस तरह 'जानकी मंगल' की कथा-योजना बहुत ही संतुलित है। वर्णन की संक्षिप्तता, क्षिप्रता और उसके संतुलन के कारण न तो कथा को सर्गीकृत करने की ओर न उसके मध्य वर्णन-संकेत देने की ही आवश्यकता हुई है।

'जानकी मंगल' का आधार ही सम्भोग शृंगार है। सीता आश्रय हैं और राम अवलम्बन। यह शृंगार वर्णन अद्वितीय मर्यादावादी कवि के द्वारा होने के कारण अत्यन्त ही मर्यादित है। अंगज अलंकारों में 'भाव' देखा जा सकता है।[2] विश्वामित्र को राम-लक्ष्मण को सौंपते हुए दशरथ के मुंह से जो दो-चार शब्द निकल पड़े हैं, वे वात्सल्य रस में डूबे हुए हैं।[3]

'जानकी मंगल' में सहज ही अनेक अलंकार यथास्थान आ गये हैं। उत्प्रेक्षा[4] तो पग-पग पर है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्प्रेक्षा के बिना कवि एक पग भी आगे बढ़ नहीं सकता। किंतु ये उत्प्रेक्षाएँ प्रयासजनित नहीं होने के कारण सर्वथा स्वाभाविक हैं। अन्य अलंकारों में वृत्यानुप्रास,[5] स्वभावोक्ति,[6] रूपकातिशयोक्ति,[7]

---

१. अंतरजामी राम मरम सब जानेइ।
धनुष चढ़ाइ कौतुकहिं कान लागि तानेउ ॥११५॥
—तुलसी ग्रन्थावली, दूसरा खंड, जानकी मंगल पृ० ४७

२. तुलसी ग्रंथावली दूसरा खंड, जानकी मंगल, छंद ६४, पीछे उद्धृत।

३. दीन बचन बहु भाँति भूप मुनि सन कहे।
सौंपि राम अरु लखन पाँय पंकज गहे ॥२६॥
—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, जानकी मंगल, छंद ६४, पृ० ४१

४. पन धरेउ सिवधनु रचि स्वयंवर अति रुचिर रचना बनी।
जनु प्रगटि चतुरानन देखाई चतुरता सब आपनी ॥६॥—वही, पृ० ३६

५. गुरु गनपति गिरिजापति गौरि गिरापति।
सारद सेष सुकवि श्रुति सन्त सरल मति ॥१॥—वही,

६. वही छंद ३८, पीछे उद्धृत।

७. एक कहहिं कुँवर किशोर कुलिस-कठोर सिवधनु है महा।
किमि लेहिं बाल मराल मंदर नृपहिं काहु न कहा ॥६३॥—वही, पृ० ४३

अर्थालंकार संसृष्टि,[1] यमक,[2] पूर्णोपमा,[3] आदि अनेकानेक अलंकारों के नाम लिये जा सकते हैं।

अरुण और हरिगीतिका छंदों के प्रयोग में कवि की सूझ द्रष्टव्य है । कथा की गति में क्षिप्रता लाने के लिए उसने बीस कलाओं का अरुण छंद चुना है। आठ-आठ अरुण छंदों पर एक हरिगीतिका देकर मानों कवि ने भागती हुई कथा को रोकने का प्रयत्न किया है। अगर इसमें अरुण और हरिगीतिका का मेल नहीं होता तो वर्णन इतना क्षिप्र हो जाता कि 'जानकी मगल' का खंडकाव्यत्व संदिग्ध हो जाता।

'जानकी मंगल' की भाषा अवधी है। इसके प्रतिपादन की सरलता इसकी भाषा में भी देखी जा सकती है।

सीता-हरण-सम्बन्धी

कर्मण के 'सीता हरण' का कथा-वृत्त विस्तृत है । इसमें बनवास से लेकर सीता के हरण एव उनकी पुनर्प्राप्ति तक की कथा कही गयी है। किंतु इस खंड-काव्य का चरमोत्कर्ष सीता-हरण है। इसके पूर्वापर सतुलन के लिए कथा सूत्र को दोनों ओर विस्तृत करना आवश्यक था। सघटन की दृष्टि से यह एक उत्तम खंड-काव्य है। कथा सीधी है। उसमे मोड और वर्णन मे अलकरण का अभाव है। लेकिन कथा में पर्याप्त गति है जो आद्यत एक सदृश है। भिन्न-भिन्न छंदो के प्रयोग से कथा-प्रवाह पर्वतीय नदी के समान हो गया है । कथा का आधार ही विप्रलम्भ शृंगार है। आरम्भ मे वात्सल्य एव अन्त मे वीर रस की छटा दीख पडती है। इसमे छदो के नाम दुहा, पवाडु, दुहू, छप्पउ और चुप्पई उल्लिखित है । छदो के चयन में वर्णन की अनुकूलता पर ध्यान दिया गया है, जैसे छप्पय का प्रयोग युद्ध-वर्णन में किया गया है। इसकी भाषा अपभ्रंश है, बीच-बीच में संस्कृत के श्लोक भी आये है।

सीता-विजय-सम्बन्धी

इस विषय पर लिखे गये खडकाव्य काव्य-कला की दृष्टि से साधारण कोटि के ही हैं। भवानीलाल के 'जानकी विजय' मे युद्ध-वर्णन बडा ही सतुलित है। प्रति नायक रावण के पराक्रम का भी यथोचित वर्णन किया गया है उसके एक ही बाण से

---

१. नृप रानी पुरलोग रामतन चितवहिं।
मंजु मनोरथ-कलस भरहिं अरु रितवहिं ॥८६॥
—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खड, जानकी मंगल, पृ० ४५

२. बानु बानु जिमु गयउ, गवहिं दसकंधरु।
को अवनीतल इन्ह सम वीर धुरधरु ॥१०३॥
—वही, पृ० ४६

३. पारबती-मन सरिस अचल धनुचालक ।
हहिं पुरारि तेउ एक नारि-ब्रत-पालक ॥१०४॥
—वही,

राम की सेना आकाश-पाताल उड़ जाती है।[1] ऐसे अद्भुत शक्ति-सम्पन्न रावण का शक्ति-विधान भगवान् राम कुछ बिगाड़ न सके। तब उसका संहार आदि शक्ति-रूपिणी सीता करती है। युद्ध-वर्णन में ऐसा संतुलन प्रायः नहीं देखा जाता। सहस्रानन रावण के नाश की ओर राम को उन्मुख करने का प्रसंग सभी में अत्यन्त सुन्दर है। सीता महापराक्रमी रावण का अस्तित्व पहले भी राम को बता सकती थी लेकिन वैसा न करके वह यह रहस्य तब खोलती है जब सनकादिक ऋषि उनका गुणानुवाद करते हैं। ऐसे अवसर पर इस रावण की सूचना देकर राम के अहं को अनायास ही उकसा दिया गया है। फिर, सीता स्वयं कहने नहीं लगती हैं। वह सोचकर मुस्कराती हैं और सनकादिक ऋषि के पूछने पर ही कहती हैं। इससे राम के कृतित्व का उपहास करके भी वह महिमामयी बनी रहती है।

इन खंडकाव्यों में नायकत्व का श्रेय राम अथवा सीता में से किसी एक को देना कठिन है। प्रारम्भ में अवश्य ही कथा की गति राम के साथ है, यद्यपि सीता वहाँ सर्वथा अनुपस्थित नहीं है। राम को कार्यशील करने के मूल में ही सीता है। और, युद्ध-भूमि में थोड़ी ही देर के बाद सीता युद्ध-सूत्र को अपने हाथ में ले लेती है। काव्य का चरम लक्ष्य सहस्रशीश का वध भी उन्हीं के द्वारा सम्पन्न होता है। इस तरह नेतृत्व अगर किसी एक व्यक्ति को दिया भी जा सकता है तो सीता को ही और तब इन खंडकाव्यों को नायिका-प्रधान खंडकाव्य माना जायगा।

सब में चरमोत्कर्ष मध्य में न होकर अन्त में है। सीता द्वारा सहस्रमुख रावण का विनाश ही चरमोत्कर्ष है जिसके बाद कथा शीघ्र समाप्त हो जाती है। कथा-सूत्र चरमोत्कर्ष के पूर्व तो तना हुआ है लेकिन अन्त में नहीं है। इस तरह इसमें चढ़ाव है, उतार नहीं। भवानीलाल, बलदेवदास और प्रसिद्ध कवि ने कथा को अध्यायबद्ध नहीं किया है। इनमें वर्णन क्षिप्र है। रामजी भट्ट ने सात कांडों में कथा को विभाजित किया है।

इन सभी खंडकाव्यों का अंगीरस वीर है परन्तु सबका पर्यवसान शांत रस में हुआ है। सीता जब अति विकराल रूप धारण कर सहस्रशीश रावण का संहार कर देती है तो उनके उग्र रूप को देखकर संसार त्रस्त हो जाता है और तब

---

१. कीन्ह्यो प्रहार-जु धरि धनुष शर भयो अति खरभर महा।
त्रैलोक्य चौदह भुवन भरि अति घोर सोर जो भरि रहा
प्रेरक जो सायक चलेउ प्रबल अति काल प्रलय समान सौ
जिमि रेत सरवर नषत ते उडि गयौ दल ततकाल सौ
सुरराज सहित समाज ततक्षण जाइ अमरावति गिरौ
दल व्याल गयौ पाताल कौं अरु लंकपति लंकहि गिरौ
मर्कट कटक निज वयस्यौ अरु भाल दल निज थल गिरौ
निज देश देश नरेश गवने सहित सैन जो जह रह्यौ
प्रभु संग जह लगि दल रहेउ गयो सौ सकल उड़ाइ
रह्यौ न कोइ रणखेत मह सिय रघुवीर विहाय
—जानकी विजय, भवानीलाल

देव-वृन्द आकर उनकी विनय करते हैं। सीता की विकरालता में यदि भयानक रस साकार हो उठा है तो देवताओं की प्रार्थना में शान्त रस का शीतल स्रोत छिपा है। इस तरह इस स्थल पर भयानक और शांत रस का सह-अस्तित्व अजीब प्रभाव छोड़ता है। भवानीलाल ने अद्‌भुत,[1] भयानक[2] और शांत[3] रसों का स्रोत प्रवाहित कर दिया है।

भवानीलाल को छोड़कर अन्य रचयिताओं के खंडकाव्य अनलंकृत हैं। भवानीलाल मे धर्मलुप्ता उपमा,[4] उत्प्रेक्षा[5] आदि अलंकार उल्लेखनीय हैं।

भवानीलाल ने दोहा, हरिगीतिका, सोरठा, चौपाई और तोमर, रामजी भट्ट ने दोहा और चौपाई, बलदेवदास ने दोहा और कवित्त तथा प्रसिद्ध कवि ने दोहा,

---

१. रावण सहस शीश तह रहई
तासु विभव प्रताप को कहई
अगनित निशिचर सैंन समूहा
प्रबल प्रताप विकट भट जूहा।
आपु सो अति बल रावण जहई
नित उठि प्रबल कीन्ह जग चहई
चहै तो सातो सिंधु हिलोरै
प्रलै करै सब सृष्टिहि बोरै
उदित होत निख प्रलय कच लै सो गर्जि रिसाइ
विधि अति आतुर तासु ढिग विनय करत तब आइ

—जानकी विजय, भवानीलाल

२. तुरत त्यागि निज सौम्य सरूपा प्रगटो विकट उग्र अति रूपा
पद पताल शिर सुरपुर पारा धृत कर निकर विविध हथियारा
अमित कोटि विधु वदन सुगाता भृकुटी कुटिल लषि काल सकाता
क्रोधानल अति तेज प्रचंडा चल दल सम डालत ब्रह्मंडा।
रोम रोम प्रति अंग अपारा प्रगटी शक्ति अनेक प्रकारा

—जानकी विजय, भवानीलाल

३. जय जय जग स्वामिनी सीय सती अविचिंत अगोचर ज्ञान गती
परमादि अनंत अनंद मई क्षिति पालन लय जग जो करई
मन इंद्रिय तत्व गुणात्मकत्वं बहु रूप रमै परमातत्वं
तुम्हरे बल शेष धरै धरणी तुम्हरे बल तेज तपै तरणी
तुम्हरे बल पौनहि गौन गहा तुम्हरे बल वारि प्रवाह लहा

—जानकी विजय, भवानीलाल

४. आयो तब पुष्पक सुरजाना तेजपुंज शशि सूर्य्य समाना

—जानकी विजय, भवानीलाल

५. निज निज आयुध करत प्रहारा
बरषत जनु गिरि सिर जल धारा

—वही

चौपाई और हरिगीतिका का प्रयोग किया है। भवानीलाल कृत 'जानकी विजय' का प्रवाह अनेक छंदों के प्रयोग से पहाड़ी नदी के समान हो गया है, किंतु वृत्तों का चयन वर्ण्य विषय के अनुकूल हुआ है। रामजी भट्ट और प्रसिद्ध कवि के खंडकाव्यों का प्रवाह दोहे-चौपाई के प्रयोग के कारण मैदान की सरिता के समान मंथर है। सचमुच ही दोहा और चौपाई प्रबंध काव्य के लिये अत्यन्त ही उपयुक्त छंद है।

सभी खंडकाव्यों की भाषा अवधी है। भवानीलाल और रामजी भट्ट की भाषा संस्कृत-गर्भित है। भवानीलाल की भाषा में 'लिखित', 'लीजिये', 'चले', 'प्रगटी' आदि प्रयोग खड़ी बोली की झलक दिखाते हैं।

भरत-सम्बन्धी

तुलसीदास का 'भरत विलाप' स्वरूपतः एक आदर्श खंडकाव्य है और वस्तु-प्रतिपादन की दृष्टि से अप्रतिम इस भक्ति-काव्य में दिव्यता का कहीं आभास भी नहीं है। यहाँ राम सम्पूर्ण रूप से मनुष्यता के सामान्य धरातल पर खड़े हैं। यह भावना सम्पूर्ण भक्ति-काव्य में दुर्लभ है। इसके किसी भी पात्र का रामचरितमानस के पात्र से कोई मेल नहीं है। मानस से पूर्व की रचना होने के कारण यह स्वाभाविक ही है।

इसका प्रारम्भ नाटकीय है। वंदना के उपरांत एकाएक राम के वन-प्रयाण पर ही दृश्य खुलता है। सच तो यह है कि यह नाटकीयता आद्योपांत व्याप्त है जिससे कथा असम्बद्ध और अस्वाभाविक हो गई है। राम के वन चले जाने पर कैकेयी दूत के द्वारा भरत को पत्र भेजती है। दूत पत्र लेकर भरत के पास जाता है। वह पत्र भरत को देता है या नहीं, यह नहीं ज्ञात होता है। वह केवल 'वचन प्रकाश' करता है। न जानें वह क्या कहता है कि भरत, राम, लक्ष्मण, कौशल्या, सुमित्रा का कुशल पूछने लगते हैं, प्राण छोड़ने की धमकी देने और छत्र-भंग एवं दशरथ-मरण की आशंका करने लगते हैं। पत्र पढ़कर या दूत की बात सुनकर शंकित होना ही स्वाभाविक होता। फिर, एक अर्द्धाली में अपने मामा के यहाँ रोते हुए भरत दूसरी अर्द्धाली में अयोध्या पहुँच जाते हैं। इसी तरह वे अचानक राम के पास वन में पहुँच जाते हैं और फिर, वहाँ से अयोध्या आते हैं। गमन-आगमन की सूचना कहीं भी प्राप्त नहीं होती है। यही नहीं, एक ही बात को शब्द-भेद से या कभी-कभी शब्द को भी दुहराया गया है। इन स्थलों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि कवि में वर्णन की साधारण क्षमता भी नहीं है। सम्पूर्ण-खंडकाव्य को पढ़कर ऐसा प्रतीत होता है कि राम के वन-गमन से समग्र संसार दुःखी है। भरत जहाँ भी जाते हैं वहाँ वे गम्भीर उदासी को व्याप्त और पशु-पक्षी तक को रोते हुए पाते हैं। अयोध्या तो मानो शोक का मूर्त रूप बना हुआ है।[1]

---

१. अयोध्या नगर कीन्ह पैसारी। नगर के लोग सबै मनमरी॥
घर घर रोवैं पुरुष अरु नारी। बाट जात रोवैं पनिहारी॥
पशु पक्षी रोवैं सब झारी। बाघ सिंह रोवैं बन माहीं॥
भरत देख लोग सब धाये। भरत कुंअर पूछै तब धाये॥
—भरत विलाप, तुलसीदास

यहाँ भरत के चरित्र में तनिक भी उदात्तता नहीं है। वे अत्यन्त साधारण और कातर हैं। दूत के उनके पास जाने के समय जो उनका रुदन शुरू होता है वह अयोध्या आने और वन में राम के पास जाकर पुनः अयोध्या लौटने तक—पुस्तक के आदि से अंत तक एक रस चलता है। वे रोते, मूर्छित होकर गिरते और भागते चलते हैं। जब दूत कैकेयी का पत्र लेकर उनके पास आता है तो वे सबका समाचार पूछते हैं लेकिन कैकेयी का कुशल नहीं पूछते। कैकेयी का भेजा हुआ दूत उनके पास गया था, अतः उसी के कुशल में उनकी शंका और जिज्ञासा स्वाभाविक थी। अयोध्या आकर जब वे महल में प्रवेश करते हैं तो उनका पहले कौशल्या के पास जाना अवश्य ही उनके चरित्र को उत्कर्ष प्रदान करता है। राम का चरित्र निःसंदेह उदात्त और गम्भीर है। जब भरत वन में जाकर कैकेयी के दुष्टाचरण की बात कहते हैं तो राम उत्तर देते हैं कि माता कैकेयी ने सब अच्छा ही किया है।[1]

दशरथ मानवीय दुर्बलताओं से युक्त एक स्नेही पति और आदर्श पिता हैं। कैकेयी जब उनको असाध्य पीड़ा से मुक्तकर देती है तो वे उसे स्वभावतः ही वरदान देते है और उसमें भी ऐसा वरदान जो उनके लिए प्राणघातक है। उन्होंने पिता का वात्सल्यपूर्ण हृदय भी पाया है। जब राम उनसे वन-गमन की आज्ञा लेने जाते हैं तो वे इसी वात्सल्यवश कहते हैं कि तुम मुझसे विद्रोह कर वन जाना स्थगित कर दो और राज्य करो। दशरथ के पुत्र-प्रेम को कवि ने जो यहाँ अभिव्यंजना दी है, वह अद्भुत है। उनका हृदय इतना कोमल है कि वह मुँह से राम को वन जाने का आदेश नही दे सकते, वह टूक-टूक हो जायगा। वह पत्र द्वारा राम को वन जाने की सूचना देते है।

केवल इतना ही कहना पर्याप्त नही है कि कथा में गति है, कथा तो भागती है जिसके साथ दौड़ने में पाठक पीछे छूट जाता है : सम्पूर्ण काव्य करुण रस से सिक्त है। वर्णन सादा है। भाषा सरल अवधी है जिसमें ग्राम्य एवं अनगढ़ शब्दों की भरमार है।

विविध खंडकाव्य

इस प्रसंग में उदय-कृत 'अहिरावण लीला' 'करुणा नाटक' और 'हनुमान नाटक' विवेच्य हैं। ये तीनों खंडकाव्य आकार-प्रकार में बिलकुल समान हैं। 'करुणा नाटक' और 'हनुमान नाटक' में सत्तर-सत्तर तथा 'अहिरावण लीला' में उनसठ छंद हैं। तीनो मे आद्यंत एक ही छंद प्रयुक्त है। 'करुणा नाटक' और 'हनुमान नाटक' के नाम में भी साम्य है। यद्यपि ये नाम अनुपयुक्त हैं। दोनों विशुद्ध प्रबन्ध काव्य हैं और इनमें नाटकीयता का कही कोई चिह्न नही है। 'अहिरावण लीला' नाम भी असमर्थ है लीला तो भगवान् की होती है, अतः इस खंडकाव्य में लीला है भी तो राम की है, अहिरावण की नही। तीनों की कथा सीधी और वर्णन प्रायः अनलंकृत है। काव्यत्व भी तीनों में समान मात्रा में ही है।

'अहिरावण लीला' में अहिरावण और उसकी पत्नी का विवाद बड़ा ही स्वाभाविक है। यह विवाद आधुनिक पति-पत्नी के विवाद की याद दिलाता है।

---

१. रामचन्द्र तब कहबै लीन्हा। कैकइ मात बहुत भल कीन्हा ।।
—भरत विलाप, तुलसीदास

अहिरावण की पत्नी जब उसे समझाती है कि राम-लक्ष्मण को हर लाकर और अब बलि देकर तुम अच्छा नहीं कर रहे हो तो वह नारियों की निंदा कर अपनी पत्नी को मूर्ख सिद्ध करना चाहता है।[1] इसके उत्तर में जब उसकी पत्नी नारियों की महत्ता का वर्णन करती है[2] तो वह चिढ़कर उसे मारने की धमकी देता है। इसी तरह जब राम-लक्ष्मण को देवी की बलि देने के लिये अहिरावण प्रस्तुत होता है तो उस समय दोनों भाइयों की दीन दशा का एक ही पंक्ति में बड़ा मार्मिक वर्णन किया गया है।[3] दोनों भाई बँधे-बँधे केवल एक-दूसरे को देखते भर हैं, विवशता ने उनकी जीभ भी जकड़ रखी है। उनके मौन में घोर हाहाकार और उनकी दृष्टि में अनंत लाचारी है। 'करुणा नाटक' में लक्ष्मण के आहत हो जाने पर राम का विलाप अत्यन्त कारुणिक है।[4] राम समझते हैं कि लक्ष्मण सोया हुआ है अतः वे उन्हें जगा रहे हैं। वे सोचते हैं कि साकेत की याद दिलाने पर लक्ष्मण की वह घोर निद्रा टूटे और तब वे कहते हैं कि माता तुम्हें दूध पीने के लिए बुला रही है, शत्रुघ्न खेलने के लिए पुकार रहा है, चलो हम लोग सरयू में स्नान करें। इस पर भी जब लक्ष्मण नहीं जगते तो राम को ऐसी शंका होती है कि लक्ष्मण शायद रूठ गया है।[5] राम को

---

१. घर में जाय डराय धाय कुवा में गिरई।
पोखरि न्हाय सक्याय सात समद्दर तिरई।।
गली गिरारै डर करै निधरक फिरै उज्यारि।
लाज करै सिर ताज की नाचै अंग उघारि।।
कुमर ये कौन के।।३१।।
—अहिरावण लीला, उदय

२. नारी ते नर निकरि महाबल वीर कहावै।
नारी ते नर निकसि पकरि के हरि कु' लावै।।
नारी ते नर ऊपजै दाता सूर उदार।
नारि बिना नर जगत में होत फिरत है वार।।
कुमर ये कौन के।।४०।।
—अहिरावण लीला, उदय

३. लछिमन देखहु राम राम तन लछिमनहि निहारै।।५२।।
—अहिरावण लीला, उदय

४. उठि अब पीवहु दूध मात टेरत तोहि भाई।
चलि करि करें विहार बाग सरजू में न्हाई।।
भरत वीर बोलत तुम्हें रिपुसूदन सँग लाय।
टेरत हैं तुमकों चलो खेलन वन में जाय।।२१।।—रामकरुणा नाटक, उदय

५. लरिकापन हूँ लाल कबहुँ अरवी नहिं कीनी।
जो कछु कारज कियौ माँगि अग्यो मोहि लीनी।।
झूठे हूँ रूसे नहीं कबहुँ न लछिमन बाल।
अब मोसों बोलत नही क्यों रूठे हौ लाल।।
राँम करुणा करे।।२५।।
—वही

एक आज्ञाकारी अनुज खोने की ही चिंता नहीं है बल्कि लोग उनपर हँसेंगे, यह द्विविधा चिंता उन्हें विकल कर रही है।[1] 'हनुमान नाटक' में हनुमान जब लंका से चलने के लिए सीता से अनुमति माँगने जाते हैं तो सीता का बँधा हुआ धैर्य पुनः छूटने लगता है। हनुमान को कहे गये वचन और राम को दिये गये संदेश में सीता की कातरता साकार हो उठी है।[2]

'अहिरावण-लीला' में राम-लक्ष्मण अबोध बालक की तरह निरीह और निश्चेष्ट हैं। यहाँ नायक हनुमान हैं। इनके चरित्र में भी कोई विशेषता नहीं दीख पड़ती। मकरध्वज अवश्य ही एक कर्तव्यनिष्ठ सेवक के रूप में आया है, वह अपने पिता का परिचय पाकर भी उन्हें अनुचित रूप से अहिरावण के महल में प्रवेश करने नहीं देता। अहिरावण की पत्नी एक विचारशीला नारी के रूप में सामने आयी है। 'करुणा नाटक' में राम एक साधारण व्यक्ति के समान चित्रित हुए हैं, उनका चरित्र अलौकिकताहीन और बड़ा स्वाभाविक है। वे बहुत सहृदय और अत्यंत भावुक हैं। जब प्रात.काल होने को आया और हनुमान नहीं आये तो राम को लक्ष्मण के जीवित होने की कोई आशा न रही और तब उन्होंने भी जल मरने की तैयारी शुरू कर दी।[3] इसमें भरत का चरित्र दुर्बल हो गया है। द्रोणाचल लेकर आकाश-मार्ग

---

१. कर्महीन मैं दीन भयो अब तो बिन भाई।
वली वंधु मरवाय निलज निज नारि गमाई।।
लोग नाम धरिहै सबै कहा कहू अब जाय।
नारि हराई निलज तैं आयौ वंधु मराय।।
राँम करुणा करे ।।२५।।
—करुणा नाटक, उदय

२. रे सुत तोकूं देषि तनक सीतल भई छाती।।
तुहू कहै अब जातु मोहि सौई दिन राति।।
नैंन सिराने तोह लषि जरति हौ दिनराति।
जो तू अवही जातु है मेरी कहा वस्याय।।
रजायस राँम की ।।५५।।
कहीयौ कपि कर जोरि जोरि परनाम हमारौ।
कैसे करुणा सिंधु कहत हैं नाम तुम्हारौ।।
एक मास मो अवधि की सत्य कहू कपि तोह।
तौ कहा आवौ नही जीवत पाव न मोहि।।
रजायस राँम की ।।५६।।
—हनुमान नाटक, उदय

३. सुनहुँ सषा सुग्रीव समझि संदेह न यामै।
बाँनर देउं पठाय वीन -वन चंदन लामै।।
रचौ चिता सब आब अब तापर बैठों जाय।
लै लछिमन कूँ गोद में तुमही जौ आगि कगाय।।
राँम करुणा करें ।।४१।।
—करुणा नाटक, उदय

ले जाते हुए हनुमान को जब गिरा दिया और हनुमान से उन्होंने लक्ष्मण के शक्ति लगने की भी बात जान ली तो उन्होंने कोई युद्धोत्सुकता नहीं दिखायी। वे राम से कृपा करने की प्रार्थना कर रह गये।[1] लक्ष्मण का चरित्र अवश्य ही यहाँ उनके वीर स्वभाव के अनुकूल और उदात्त है। जब मेघनाद ने हनुमान पर अमोघ शक्ति चलाई तो लक्ष्मण ने उनकी रक्षा करने के लिये उनके आगे होकर उस प्राणांतक शक्ति का आघात स्वयं सह लिया। फिर, वे स्वस्थ होने पर अपने प्रबल प्रतिपक्षी इंद्रजित् को मारने की वीरोचित प्रतिज्ञा करते हैं।[2]

संघटन की दृष्टि से भी ये तीनों खंडकाव्या एक सदृश हैं। तीनों में कथा चरमोत्कर्ष पर जाकर समाप्त हो गयी है। सब में चढ़ाव है, उतार नहीं। कथा में पर्याप्त गति है, कहीं भी शैथिल्य नहीं है। वर्णन क्षिप्र है। इनमें रस और अलंकरण का अभाव नही है। हनुमान नाटक' और 'अहिरावण लीला' का अंगी रस वीर तथा 'करुणा नाटक' का करुण है। 'करुणा नाटक' में वीर और करुण रसों का अपूर्व संयोग हुआ है। कथा के मध्य में लक्ष्मण के आहत होने पर जो करुणा की धारा फूट पड़ी है उसको आरम्भिक लक्ष्मण-मेघनाद-युद्ध का और अन्त में लक्ष्मण द्वारा मेघनाद-वध की प्रतिज्ञा का वीर रस सम्हाले हुए है। इस तरह वीर रस से घिरा हुआ करुण यहाँ विचित्र प्रभाव उत्पन्न करता है।

अलंकरण इन तीनों में से केवल 'करुणा नाटक' में ही है। यहाँ कहीं-कहीं लगातार कई पंक्तियों में उत्प्रेक्षा है।[3] अन्य अलंकारों में उदाहरण अलंकार

---

१. कहौ तात तुम जाउ वेडि मत देर लगावौ।
करिकै सोई जतन वीर लक्ष्मनहि जिवावौ॥
विनती मेरी नाथ सु कहियौ माथ नवाय।
दीन जानि करिहै कृपा कब मोपै दोऊ भाय॥
रॉम करुणा करें॥३८॥
—करुणा नाटक, उदय

२. जौ सत संकर करें असुर की आइ सहाई।
तौ नहि छाड़ो ताहि जाय संकर सिर नाई॥
राम रजाइस देव अब मारौं असुर प्रचार।
षंड षंड करि अरि भुजा लाउं सीस उतारि॥
रॉम करुणा करें॥५५॥
—वही

३. मानहुँ प्रेम सनेह देह धरि दोऊ भाई।
बिछुरी मिले जनु मीत कंठ सुकंठ लगाई॥
फटकि सिला बैठे दोऊ मगन मनोहर वीर।
मानहुँ वीर सिंगार मैं नरके धरे सरीर॥४४॥
—करुणा नाटक, उदय

उल्लेखनीय है।[1]

इन तीनों की रचना एक ही छंद में हुई है। यह वही छंद है जिसका प्रयोग नंददास ने 'भँवरगीत' में किया है। रोला और दोहा के मिश्रण से बना हुआ यह छंद है जिसके अंत में दस मात्राओं की टेक है।

तीनों की भाषा साफ-सुथरी सजी है।

२. कृष्णभक्ति मूलक खंडकाव्य

रुक्मिणी-हरण-विषयक

जिस तरह सुदामा-विषयक खंडकाव्यों में कृष्ण के दीन-वत्सल रूप की और प्रवास-सम्बंधी खंडकाव्यों मे उनके प्रेमी रूप की झाँकी मिलती है उसी प्रकार रुक्मिणी-सम्बंधी खंडकाव्यों में उनका लोकरक्षक रूप देखा जा सकता है। तत्युगीन आर्त्त समाज के लिए भगवान् का यह रूप बड़ा आश्वासन देने वाला था। यही कारण है कि लीला पुरुषोत्तम की यह लीला भक्तों और जनसाधारण में सुदामा-लीला के समान ही लोकप्रिय हुई।

इस प्रसंग की लोकप्रियता का एक दूसरा कारण भी है। पूर्वमध्यकाल के प्रेमाख्यानक काव्यों और उत्तर मध्यकाल के रीति-काव्यों की सम्मिलित आत्मा की झलक भी इस आख्यान में मिल जाती है। रुक्मिणी-प्रेम में स्वच्छन्दता का आभास मिलता है जो इन खंडकाव्यों की प्रेमाख्यानकों की ओर झुका देता है। विष्णुदास और रामलला में नारद रुक्मिणी का हाथ देखकर कृष्ण से विवाह होने की भविष्य-वाणी करते हैं और उसी दिन से रुक्मिणी अपना चित्त कृष्ण में लगाती है। मेहरचंद में नारद भविष्यवाणी न कर रुक्मिणी को कृष्ण की अर्द्धांगिनी होने का वरदान ही देते हैं। नरहरि और हीरामणि में रुक्मिणी के पिता पार्षदों से विचार विमर्श कर इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि रुक्मिणी का परिणय कृष्ण से हो। नरहरि की रुक्मिणी कृष्ण को जो पत्र भेजती है, वह तो प्रेमाख्यानकों की ही याद दिलाता है। वह स्पष्टतः लिखती है कि तुम्हारे रूप-गुण को सुन कर तुम्हें पाने के लिए नियम-व्रत करती रही किंतु आज तुम्हारी प्राप्ति पर प्रश्न-चिह्न लग गया है।[2] पृथ्वीराज में माता-पिता के निर्णय के पूर्व ही रुक्मिणी अपना हृदय कृष्ण को दे डालती है। इस तरह कृष्ण के प्रति रुक्मिणी के प्रेमोद्भव का स्वरूप स्वच्छंदमूलक ही कहा जायगा। पृथ्वीराज की 'बेलि' का तो केवल कलेवर भक्ति का है; उसकी आत्मा तो रीति की है। कवि ने रुक्मिणी-हरण और द्वारका में लौटकर उसके साथ

---

१. इहाँ राम अकुलाय रैंनि रहि गई कछु थोरी।
ज्यौ जल निघटै मीन चंद बिन रैंन चकोरी ॥४०॥
—करुणा नाटक, उदय

२ सुनि गुन रूप वर नियत भव लगि दीन्हेउ
तुम्ह कारन व्रत नेम आजु लगि कीन्हेउ
अबसों मिथ्या होत है अति दुख पाएउ
—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ० [illegible]

विधिवत् परिणय तक ही कथा को सीमित नहीं रखा है बल्कि आगे बढ़कर कृष्ण-रुक्मिणी-संयोग का वर्णन कर षट्ऋतु-वर्णन भी किया है। मूल कथा पुस्तक के कुल छंदों में आधे में ही कही गयी है और पूरे अर्द्ध भाग में संयोग, और षट्ऋतु वर्णित हैं। यही नहीं, आरम्भ में रुक्मिणी का विस्तृत वयः संधि-वर्णन है। इससे कवि का उद्देश्य स्पष्ट है। कवि को यहाँ रुक्मिणी का उद्धार नहीं बल्कि संयोग-वर्णन ही अभीष्ट है। जो हो, इन अनेक प्रवृत्तियों के सम्मिलन-बिंदु होने के कारण विविध मनोवृत्ति के कवियों और पाठकों के लिए यह आख्यान समान आकर्षक रहा।

कथा की मुख्य लीक समान होते हुए भी उसके आंतरिक प्रकरणों में वैषम्य का अभाव नहीं है। पृथ्वीराज और मेहरचंद को छोड़कर सब में रुक्मिणी अपने दरबार के किसी साधारण ब्राह्मण के द्वारा कृष्ण को पत्र भेजती है। पृथ्वीराज और मेहरचंद ने इस प्रकरण की अलौकिक योजना की है। पृथ्वीराज की रुक्मिणी जब पत्र लिखने बैठती है तो एक ब्राह्मण अचानक वहाँ प्रकट होता है। रुक्मिणी इसी अपरिचित ब्राह्मण के द्वारा पत्र भेजती है। मेहरचंद इससे भी आगे बढ़ गये हैं। जिस दिन रुक्मैया शिशुपाल को बरात लेकर आने के लिए निमंत्रण भेज देता है उस रात रुक्मिणी अत्यंत व्यग्र हो जाती है। उसकी व्यग्रता हरि से नहीं देखी जाती और वे स्वप्न में आकर रुक्मिणी को दर्शन और आश्वासन दे जाते है। इस समय रुक्मिणी बड़े स्वाभाविक रूप से कृष्ण से अनुरोध करती है कि मुझे साथ ले चलिये। दुर्बल मानव-मन की आशंका उसे कृष्ण से ऐसा कहने के लिए बाध्य करती है। हरि उसे धैर्य देकर चले जाते हैं। किंतु जब शिशुपाल बरात लेकर कुंडिनपुर पहुँच जाता है तो रुक्मिणी की दशा पूर्ववत् हो जाती है। कृष्ण जो धैर्य दे गये थे उसे वह खोने लगती है। इस समय एक ब्राह्मण अप्रत्याशित रूप से प्रकट होता है जिसके द्वारा रुक्मिणी कृष्ण को पत्र भेजती है। इन प्रकरणों की अवतारणा से पृथ्वीराज और मेहरचंद के 'रुक्मिणी मंगल' में अलौकिकता आ गयी है। पृथ्वीराज ने एक अन्य स्थल पर इसी प्रकार की अलौकिकता का निवेश कर दिया है। कृष्ण जब पराजित रुक्मैया के बाल काट लेते हैं तो बलदेव को वह बुरा लगता है। वे अपनी अप्रसन्नता प्रकट करते हुए कृष्ण से कहते हैं कि तुमने यह अच्छा नहीं किया। तब कृष्ण रुक्मैया के मस्तक पर हाथ फेर देते हैं जिससे उसके केश पूर्ववत् हो जाते हैं। इस तरह पृथ्वीराज और मेहरचंद को छोड़कर सबके 'रुक्मिणी मंगल' मानव-काव्य ही हैं।

नरहरि और हीरामणि में ऐसा प्रतीत होता है कि राजा भीष्मक की आंतरिक इच्छा है कि रुक्मिणी का विवाह श्रीकृष्ण से हो। किंतु रुक्मैया जब शिशुपाल को निमंत्रित कर देता है तो वे किंकर्तव्यविमूढ़ हो जाते हैं। अतः कृष्ण के कुंडिनपुर में आने पर वे उनका स्वागत करने जाते हैं। अन्यत्र राजा भीष्मक पर्दे के पीछे रह जाते हैं।

नंददास, नरहरि और विष्णुदास का ध्यान रुक्मिणी के पल-पल पर है। शिशुपाल से विवाह होने की बात सुनने पर नंददास और नरहरि की रुक्मिणी की

पीड़ा भीतर ही भीतर कसमसाने लगती है। वह समझ नहीं पाती कि अपने इस दुःख को वह किससे कहे।[1] विष्णुदास की रुक्मिणी तो इस आघात को नहीं सह सकने के कारण अपना चैतन्य ही खो देती है। अन्य खंडकाव्यकारों ने इस अवसर की मार्मिकता को नहीं पहचाना है। इसी तरह कृष्ण को पत्र लिखते समय की रुक्मिणी की मनःस्थिति अनुमान से परे है। उसके सारे अरमानों को लूट लेने के लिए शिशुपाल आ गया है और उस अबला का कोई सहायक नहीं। ऐसे विकट समय में स्वभावतः ही उसका ध्यान उस ओर जाता है जिसे उसने अपना हृदय दिया है। किंतु उसके विषय में तो केवल सुना ही है, उसे देखा तक नहीं है। क्या जाने वह उसकी पीड़ा को समझ भी सकेगा ! ये सारी आशंकाएँ उसके मन प्राण को उद्वेलित कर रही हैं और ऐसी ही अवस्था में वह पत्र लिखने बैठती है। पृथ्वीराज की रुक्मिणी नख की लेखनी से काजल की स्याही घोलकर लिखती है।[2] विष्णुदास की रुक्मिणी से तो पत्र लिखा ही नही जाता। आँखें सावन के आकाश की तरह जल से भरकर लिखने ही नहीं देतीं।[1]

रुक्मिणी की यह अवस्था पत्र भेज देने ही से समाप्त नहीं हो जाती। उसकी व्यग्रता तो तब तक बनी रहती है जब तक कृष्ण वहाँ पहुँच नहीं जाते। नंददास और नरहरि ने इस क्षण को मूर्त कर दिया है। नंददास की रुक्मिणी विकलता और प्रतीक्षा की साकार प्रतिमा बन जाती है। गहन आकुलता के समय जब मन में भावों का ज्वार चढ़ने-उतरने लगता है तो मनुष्य अपनी देह को स्थिर रख पाने में असमर्थ हो जाता है। मन और शरीर की अवस्था को संतुलित करने के लिए व्यक्ति अनावश्यक चलने फिरने लगता है। हरि क्या उत्तर देते हैं, इस आशंका में मग्न रुक्मिणी घर से आँगन और आँगन से घर में आ-जा रही है। फिर प्रतीक्षा की घड़ियाँ भी कम कठिन नहीं होतीं। प्रतीक्षक चाहता है कि स्थान एवं काल की सीमा तोड़कर वह प्रतीक्ष्य को देख लें ! ऐसी ही अवस्था में रुक्मिणी झरोखे पर चढ़-चढ़कर उस ओर

---

१. जो कछु तपत उसास, उदास बदन तें लहिहैं।
कन्या कन्या विरह दुःख को कासों कहिहै ॥८॥
—नंददास ग्रंथावली, स० व्रजरत्नदास, पृ० १७५

(ख) एह सुनि रुकुमनि विकल जनमि मुख जोवइ
राज कुमरि शुकुमारि शो दुरि दुरि रोवइ
लाज न काहुनि कहे शोजन वीगोवइ
—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ० १३५

२. लिखि राखे कागल नख लेखणी
मसि काजल आँसू मिलित ॥४३॥
—वेलि क्रिसन रुक्मिणी री, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, पृ० १५२

१. कहा करूं कैसे लिषूं नैन लिषन नहिं देत ॥
बरसत जिमि सावन घटा नेक चैन नही लेत ॥
—रुक्मिणी मंगल, विष्णुदास।

देखती है जिस ओर ब्राह्मण गया था।[1] ऐसी ही व्यग्रता नरहरि ने रुक्मिणी में उस समय दिखायी है जब वह देवी-पूजा कर लौट रही है। देवी की पूजा तो हो चुकी है। सब-लोग घर चलने के लिए उद्यत हैं और परस्पर कह रहे हैं कि जल्दी चलिये, देर नहीं कीजिए। किंतु रुक्मिणी के पैर उठते ही नहीं है, उसका हृदय विद्युत गति से धड़क रहा है, उसकी आँखें कृष्ण को देखने के लिए बेहाल हैं।[2]

ब्राह्मण द्वारका से लौटकर रुक्मिणी के समक्ष खड़ा है। आशंकाएँ उसके कंठ में आकर बैठ गयी हैं। वह पत्र-वाहक से पूछ नहीं पाती है कि क्या संदेश लेकर लौट रहे हो। न मालूम, उसके स्वर में आशा का अमृतस्रोत फूटेगा या निराशा का विष-घट।[3] नरहरि की रुक्मिणी इतनी निराश नहीं है। हरि नही भी आ सकते हैं, वह ऐसा नहीं सोच सकती जबतक ब्राह्मण नहीं लौटा रहता है तबतक उसे शंका होती है कि ब्राह्मण वहाँ शायद गया ही नही या हरि ने उसे विलम्ब कर दिया। और, जब ब्राह्मण लौट आता है तो उससे पूछने की हिम्मत तो नही होती है किंतु सोचती है कि यदुनाथ कहाँ रह गये।[4] नंददास की रुक्मिणी की तरह नरहरि की रुक्मिणी को विष-ज्वाल से देह जल जाने का भय नही है।

१. ह्यां दुलहिन तरफरें फिरत घर-आंगन ऐसें।
रबि तेजहि सों दुखित मछरि थोरे जल जैसें।।७६।।
चढ़ि चढ़ि अटनि, झरोखनि झाँकत नवल किसोरी।
चंद उद बिनु जैसे आतुर, त्रिषित चकोरी।।७७।।
—नंददास ग्रंथावली, स० ब्रजरत्नदास, पृ० १८०

२. लोग कहै चलु वेगि विलंब न लाइआ
इह गति देखि धुजा तब पटतर पाइआ
धुजहि के साथ गयो मन तुरित शिधाऐउ
इत डांडी उत अंबर फरकि जनाऐउ
रहे न पावै रुक्मिनी चलै न पारही
कहाँ रहे करतार सो हृदै विचारही
—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ० ३४२

३. तिहि छिन द्विजबर चल्यौ-चल्यौ अंतःपुर आयौ।
बदन डहडह्यौ देखि कछू मन धीरज पायौ।।७९।।
पूँछि न सक मुख बात दई यह कहा कहैगो।
कै अमृत सो सींच किधौ बिष देह दहैगो।।८०।।
—नंददास ग्रंथावली, स० ब्रजरत्नदास, पृ० १८१

४. इहाँ रुक्मिनी कलपे नाथ न आऐउ
की प्रभु कीन्ह विलंब की दिज न सिधएउ
बाईं आंख को फरकित सगुन जनाएउ
बीते रही द्विज को मुख पुछन न पारही
कहाँ रहे जदुनाथ शो हृदै बिचारही।
—अकबरी दरबार के—हिंदी कवि, डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल, पृ० ४३८

नंददास और पृथ्वीराज ने कृष्ण में भी विह्वलता दिखायी है। रुक्मिणी का पत्र जब ब्राह्मण उन्हें देता है तो अंतर्यामी भगवान् भक्त की पुकार पर इतने आकुल हो जाते हैं कि वे पत्र पढ़ ही नहीं पाते। पहले तो बड़ी ललक से पत्र खोलकर पढ़ना चाहते हैं किंतु रुक्मिणी के श्रांसुश्रों से भीगा वह पत्र उनके श्रांसू से भी भींगने लगता है श्रौर तब वे उसे अपने हृदय से लगाकर ब्राह्मण को पढ़कर सुनाने के लिए देते हैं।[1] पृथ्वीराज के कृष्ण भी इसी तरह भाव-विह्वल हो जाते हैं। उनके शरीर में रोमांच हो जाता है, श्रांखों में श्रांसू भर जाता है श्रौर हृदय गद्गद् हो जाता है, अतएव वे पत्र ब्राह्मण को देकर उसी से पढ़ने का अनुरोध करते हैं।[2]

पृथ्वीराज की रुक्मिणी कृष्ण को हरण करने का अवसर देने के लिए अम्बिका-पूजन की योजना बनाती है। उसने पत्र मे ही कृष्ण को इस बात की सूचना दे दी थी। देवी-पूजन की बड़ी स्वाभाविक योजना विष्णुदास ने की है। नारद ने रुक्मिणी का हाथ देखकर यह भविष्यवाणी की कि उसका विवाह कृष्ण से होगा। मानव-मन की स्वाभाविक दुर्बलतावश वह अम्बिका देवी से यह वरदान मांगने जाती है कि नारद की भविष्यवाणी सत्य हो। किंतु इसके उत्तर में देवी कहती है कि तुम तो स्वयं देवी हो, मुझमें श्रौर तुममें कोई अंतर नहीं है।[3] इस अलौकिकता ने सारी स्वाभाविकता पर पानी फेर दिया है। अन्य खंडकाव्यकारों ने रुक्मिणी द्वारा अम्बिका-पूजन को कुलरीति के रूप में ही रखा है।

रुक्मिणी श्रौर कृष्ण के साक्षात्कार का अवसर कितना मार्मिक है, यह कहना व्यर्थ है। किंतु नंददास श्रौर रामलला को छोड़कर किसी अन्य ने तो इस प्रकरण का स्पर्श ही नहीं किया है। रामलला की रुक्मिणी कृष्ण के मोहन-मयन रूप को देखकर मूर्च्छित हो जाती है। नंददास की रुक्मिणी इस समय बड़ा अशोभनीय आचरण करती है। वह एकाएक घूंघट हटाकर कृष्ण को श्रांखें फाड़कर देखने लगती है।

---

१. मुद्रा खोलि गुविन्दचन्द जब बांचन श्रांचे।
परम प्रेम रस सांचे अच्छर परत न बांचे ॥५३॥
श्री हरि हियो सिरावत लावत लैलै छाती।
लिखी विरह के साथ सुपाती अजहूँ ताती ॥५४॥
हिय लगाय सचु पाय, बहुरि द्विजबर को दीनी।
रुकमिनि असुवन-भीनी, पुनि हरि अँसुवन भीनी ॥५५॥
—नंददास ग्रंथावली, स० ब्रजरत्नदास, पृ० १७६

२. आणन्द लखण रोमांचित श्रांसू।
वाचत गदगद कंठ न वर्णं।
कागल करि दीधौ करुणाकरि
तिणि तिणि हीज ब्राह्मण तणं ॥५७॥
—वेली क्रिसन रुक्मणी री, हिंदुस्तानी एकेडेमी, पृ० १५७

३. तब अंबेजी बोलिया देवी हो तुम आप।
हम तुम अंतर ना कछू दोनो करती जाप।
—रुक्मिणी मंगल, विष्णुदास

रामलला और विष्णुदास को छोड़कर सबने कृष्ण और रुक्मिणी का विवाह द्वारका में कराया है। रामलला और विष्णुदास ने कुंडिनपुर में ही दोनों का परिणय कराया है। रुक्म और शिशुपाल के पराजित होने पर रुक्मिणी-कृष्ण का विधिवत् ग्रंथि-बंधन वहीं हो जाता है और तब कृष्ण रुक्मिणी को लेकर द्वारका लौटते हैं। पृथ्वीराज ने अन्य खंडकाव्यकारों की तरह यह योजना द्वारका में तो की है, उन्होंने जमकर इस प्रकरण का वर्णन किया है। विवाहोपरांत विधिपूर्वक कृष्ण-रुक्मिणी का मिलन होता है। इस अवसर पर रुक्मिणी की प्रतीक्षा करते हुए भावाकुल कृष्ण का चमत्कारपूर्ण चित्र कवि ने उतारा है।[1]

नंददास, पृथ्वीराज और मेहरचंद प्रबंध-सौष्ठव की रक्षा करते हुए प्रकृति को नहीं भूले हैं। ब्राह्मण जब रुक्मिणी का पत्र लेकर द्वारका पहुँचता है तो वह प्रकृति की रमणीय छटा को देखता है। इनमें से नंददास और मेहरचंद का वर्णन टकसाली है। मेहरचंद में तो बिलकुल सूची गिनाने वाली प्रवृत्ति है।[2] पृथ्वीराज का प्रकृति-वर्णन अवश्य ही स्वाभाविक और मनोरम है। द्वारका में कृष्ण-रुक्मिणी-संयोग के उपरांत इन्होंने प्रकृति-वर्णन के लिए पर्याप्त अवकाश निकाला है और विस्तृत प्रभात-वर्णन के उपरांत षट्ऋतु-वर्णन किया है। प्रभात का तो इन्होंने शब्द-चित्र प्रस्तुत कर दिया है।[3] अंधकार की चादर हटते ही चंद्रमा की ज्योत्सना क्षीण हुई। प्रभात का यह चित्र पाठक का आँखों देखा परिचित चित्र है। षट्ऋतु-वर्णन में भी इन्होंने इसी प्रकार मनोरम चित्र प्रस्तुत किये हैं।

---

१. अभी सहु सखिए प्रसंसिता अति, क्रितारथी प्री मिलण क्रुत।
अटत सेज द्वार विचि आहुटी, स्तुति दे हरि घरि समाश्रित ॥१६५
—वेलि क्रिसन रुक्मणी री, हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, पृ० २०७

२. जहां बाग अनुराग भर्‌यौ है।
निरखत मनमथ गर्व गह्यो है।
अंब अनार आवरे सोहै।
कटहर ढढ़हर कीछ बिमोहे।
बैडरि खिजुरी बरहैटी नीकी।
जीवन मुरि हरडै जी की।
जामुनि और जम्हीरी सीरी।
सोभित अति नारंगी दीरी।
केरा कदम कमल फल नीकौ।
और सकल सब लागत फीकौ। — रुक्मिणी मंगल, मेहरचंद

३. गत प्रभा थियौ ससि रमणि गलन्ती
बर मन्दा सह बदन बरि।
दीपक पर जलती इन दीपै
नासफरिम सू रतनि नरि ॥१८२॥
—वेलि क्रिसन रुक्मणी री, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, पृ० २१४

इस प्रसंग के खंडकाव्यों में पात्रों का चरित्र उभरने से रह गया है। रामलला को छोड़कर सबके कृष्ण एक सदृश हैं। रामलला के कृष्ण में मर्यादा का अभाव है। वे रुक्मिणी को रथ में चढ़ाकर अपनी जांघ पर बैठा लेते हैं। नंददास और पृथ्वीराज के कृष्ण बड़े भावुक हैं। वे रुक्मिणी का पत्र पाकर इतने भाव-विह्वल हो जाते हैं कि पत्र उनसे पढ़ा नहीं जाता।

रुक्मिणी का चरित्र अपेक्षया अधिक उभरा है। यह पीछे कहा जा चुका है कि मेहरचंद और पृथ्वीराज के 'रुक्मिणी मंगल' अलौकिक हो गये हैं। अतः इसके अनुरूप ही रुक्मिणी यहाँ अलौकिक है। कृष्ण के लिए उसकी तड़प लौकिक कम आध्यात्मिक अधिक है। वह अपने को लौकिक नारी नहीं, बल्कि भगवान् की प्रिया समझती है जो रघुकुल में सीता थी।[1] नरहरि और हीरामणि की रुक्मिणी माया-ममता से युक्त एक साधारण नारी है। कृष्ण जब उसके सहोदर रुक्म को मारने के लिए उद्यत होते हैं तो वह उनका पैर पकड़ लेती है और अपने भाई की प्राण-रक्षा की भीख मांगती है।[2] मेहरचंद की रुक्मिणी अलौकिक होने पर भी आधुनिक ग्रामीण नारी के समान आचरण करती है। प्रथानुसार पति के अग्रज से कुलवधुएँ संकोच करती है। अतः जब बलदेव कृष्ण के रथ के निकट चले आते हैं तो रुक्मिणी घूंघट काढ़ लेती है और कृष्ण के द्वारा उनको अपना प्रणाम निवेदित करती है तथा शीघ्र रथ हाँकने का अनुरोध करती है।[3] रामलला की रुक्मिणी एक आदर्श प्रेमी है। उसे केवल कृष्ण से ही प्रेम नहीं, कृष्ण वर्ण से भी प्रेम है। नारद के मुख से

---

१. (क) लै रावण गयो मोहि छल करि तुम सूं मेहरी।
अब क्यौं विसरौं तोय मो कारन सागर लंघ्यौ।
—रुक्मिणी मंगल, मेहरचंद

(ख) रामा अवतारि वहे रणि रावण
किसी सीख करुणा करण।
हूँ उघरी त्रिकुट गढ हूँती
हरि बन्धे वेला हरण ॥६३॥
—वेलि क्रिसन रुक्मिणी री, हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, पृ० १६०

२. (क) हरि शनमुख तब रुकुमिनि पगु शिर धारइ।
भाइ भाइ कै रुकुमिनि प्रभु पद लागेउ
देखि क्रीपालु भगतुवश आगि अनुरागेउ
हरि रुकुमिनी मुख देखि छाड़ि तब दीन्हेउ
—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ ३४४

(ख) लियौ धनुष हरि हाथ रुक्म सिर भंजनै।
कहै रुकमिनि नारि बंधु मम छंडनै ॥६६॥
—रुक्मिणी मंगल, हीरामणि

३. सुंदरि वदन दुराय पाय लागि पीय कौं कहै।
ठाडो जेठ बताइ कंथ वेगी रथ हांकीयै।
—रुक्मिणी मंगल, मेहरचंद

कृष्ण का रूप-वर्णन सुनकर वह श्याम वर्ण से प्रेम करने लगती है और अपने वस्त्रादि में इसी रंग का प्रयोग करती है।

इसके अतिरिक्त किसी-किसी खंडकाव्य में अन्य चरित्रों की भी एक-आध विशेषता दिख गयी है। पृथ्वीराज के बलराम विनोदी हैं। जब कृष्ण रुक्म को पराजित कर उसके मस्तक के केश काट डालते हैं तो बलदेव उनसे कहते हैं कि जिसकी बहन को अपनी बगल में बैठाये हो, उसकी बड़ी अच्छी दशा कर रखी है![1] साथ ही वे दयालु भी हैं। रुक्म की हालत देखकर उन्हें दया आ जाती है और कृष्ण को इसके लिए डाँटते हैं। नरहरि का जरासंध विवेकशील है। रुक्मिणी का हरण कर जाते हुए कृष्ण का पीछा जब रुक्म करता है तो जरासंध उसे रोकता है। वह स्पष्ट कहता है कि ऐसा करके तुम मुझको और शिशुपाल को भी ले डूबोगे।[2] रामलला का रुक्मैया सबसे विलक्षण है। वह रुक्मिणी के वर के लिए कृष्ण का विरोध इसलिए नहीं करता है कि कृष्ण अहीर है, अवारा है; बल्कि इसलिए कि वह भगवान् है। इस तरह वह यहाँ भगवान् से जन्मजात शत्रुता रखने वाले राक्षस के ही रूप में चित्रित हुआ है। इसके साथ ही वह अत्यंत भीरु भी है। कृष्ण का आगमन जानकर वह रोने लगता है।

संघटन की दृष्टि से नंददास का 'रुक्मिणी मगल' अत्यंत कलात्मक है। इसमें आधुनिक कथा साहित्य की प्रत्यग्दर्शन प्रणाली का अवलम्बन किया गया है। इसमें रुक्मिणी का परिचय सीधी तरह से कथा के आरम्भ में ही नहीं दे दिया गया है। शिशुपाल को ब्याहे जाने के निश्चय को रुक्मिणी द्वारा सुने जाने से कथारम्भ हुआ है। कृष्ण को लिखे गये पत्र में रुक्मिणी ने अपना परिचय दिया है। अन्य सारे 'रुक्मिणी मंगल' इतिवृत्तात्मक हैं। किंतु इस गुण के बावजूद 'रुक्मिणी मंगल' में कथा संतुलित नहीं है। आरम्भिक अंश अत्यंत विस्तार से है और अंतिम अंश उतना ही संक्षिप्त हो गया है। कथा के आदि - भाग को देखते हुए युद्ध के अवसर पर कवि को रुकना चाहिए था लेकिन केवल पाँच रोलाओं में युद्ध का वर्णन कर वह चलता बना है।

---

१. अनुज ए उचित अग्रज इम आखे
दुसट सासना भली दई।
बहिनि जासु पासै बैसारी
भलो काम किउ भला भई ॥१३५॥
—वेलि क्रिसन रुकमणी री, हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, पृ० १९२

२. रुकुमिनि हरन होत है लोग पुकारेउ
पहिरि संजोए रुकुम तब पाछे धाएउ
जरासींधु तब बाँह धरी समझाएउ
मै जो कहा रह कुटिल लाजपति खोइहै
हमहि तुमहि शिशुपालहि सबहि बिगोइहै
—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ० ३४३

नंददास के अतिरिक्त अन्य सभी के 'रुक्मिणी मंगल' का आरम्भ कथात्मक है। हीरामणि ने तो लोक कथाओं की तरह आरम्भ किया है। राजा भीष्मक एक दिन झरोखे पर रुक्मिणी को देखकर यह सोचते हैं कि अब इसका विवाह होना चाहिए। यह बिल्कुल लोक-कथा की शैली है।

पृथ्वीराज की वेलि का कथा-वृत्त इस परम्परा के खंडकाव्यों में वृहत्तम है। इसमें प्रद्युम्न-जन्म तक की कथा कही गयी है। किंतु इस दीर्घ कथावृत्त के बावजूद यह खंडकाव्य है, क्योंकि कवि का ध्यान रुक्मिणी-कृष्ण-संयोग पर केंद्रित है। इस रूप में भी यह इस परम्परा के अन्य खंडकाव्यों से भिन्न है। अन्य सारे खंडकाव्यों का लक्ष्य रुक्मिणी को कृष्ण द्वारा शिशुपाल के चंगुल से मुक्त करना ही है। अतः उसका कथा-सूत्र इसके बाद शीघ्र ही समाप्त हो जाता है। किंतु पृथ्वीराज कृष्ण-रुक्मिणी के साथ द्वारका तक आते हैं और सुहागरात के मधुर मिलन तक ही नहीं पूरे वर्ष तक नव दम्पति के साथ रहते हैं। कुल ३०५ छंदों में केवल १३७ छंदों में ही रुक्मिणी की प्राप्ति की कथा है, शेष में रुक्मिणी-कृष्ण-मिलन और षटऋतु-वर्णन है। इस तरह कथा के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध के पलड़े बराबर नहीं है। दोनों की लम्बाई समान है लेकिन वजन तुल्य नहीं है। पूर्वार्द्ध का पलड़ा ठोस घटनाओं के कारण भारी है जबकि उत्तरार्ध वर्णनात्मक होने के कारण हलका पड़ गया है।

मेहरचन्द का 'रुक्मिणी-मंगल' घटना-प्रधान नही, बल्कि वर्णन-प्रधान है। वर्णन लम्बा और पिष्टपेषण से भरा हुआ है। कही कहीं तो एक ही स्थान पर एक ही बात छंद बदल-बदल कर कही गयी है। विष्णुदास के 'रुक्मिणी मगल' में भी अनावश्यक और ऊब पैदा करने वाले वर्णनों की भरमार है। शिशुपाल के बरात लेकर आने पर जब रुक्मिणी को मूर्च्छा आ जाती है तो उसको चैतन्य करने के लिए ग्यारह सखियाँ क्रम-क्रम से उसे कृष्ण-लीला सुनाती है। यह लीला वर्णन अत्यन्त निम्न कोटि का है और पढ़ने मे धैर्य छूटता है। शिशुपाल की बरात का वर्णन इसी तरह हास्यापद अस्वाभाविकताओ से भरा हुआ है। उसमें एक ओर उड़ीसा, मरहठा के राजे आते हैं तो दूसरी ओर पाँडव-कौरव और जरासंध अपनी सेना लेकर आते हैं।[1] यही नहीं, इनके वर्णन में भी कोई चमत्कार न होकर नाम गिनने वाली

१. केकय कनहट देस मरहटा मरहट और मारवारी हो।
संगलदीप श्वेतबंध राजा ये सब लिये हंकारी हो।
गौड देस वैराग निसागर जालंदर भैमेरी हो।
औडीसा और आनासागर च्यार भेंट चंदेरी हो।
माघा देस का राजा कहिये जरासींध बी आया।
नौ छोनी दल अपने लेकर दुरयोधन उठि आया।
भीषमपीता और द्रोणाचारिजि किरपाचारज बुलाया।
कहो गुरुजी कैसी कीजै वोही कृष्ण दरसाया।
पाँचु पाँडु संग ले लिने तिनसो जुध ठराया।
अरजन भीम नकुल सहदेवा जुधीष्टर लहराया।
क्रोध भरो दुसासन बोला तुम क्यों मन डरपाया।
—रुक्मिणी मंगल, विष्णुदास

प्रवृत्ति है। शिशुपाल की बरात की तैयारी का ऐसा ही वर्णन किया गया है जो हास्यास्पद भी है।[1]

रामलला के कथा-विन्यास में नियोजन का अभाव है। रुक्मिणी ने अपने पत्र में कृष्ण को देवी के मन्दिर में हरने का संकेत किया था लेकिन कृष्ण देवी-पूजन को जाती हुई रुक्मिणी का रास्ते में ही हरण कर लेते हैं। हीरामणि के 'रुक्मिणी मंगल' में वर्णन चलता है, दृश्य-वर्णन के लिए कहीं-कहीं कवि ने अल्प-विराम लिया है। ऐसे ही वर्णनों में कवित्व की झलक मिल जाती है, अन्यथा यह कृति समग्र रूप में काव्यत्व से शून्य ही है। युद्ध-वर्णन वीर गाथा-कालीन शैली पर हुआ है जिसमें शस्त्रास्त्रों का नाम गिनाने, वर्णों को द्वित्व करने एवं शब्दांत में अनु-नासिकता लाने का प्रयास किया गया है। इससे इस प्रकार के वर्णन निर्जीव हो गये हैं।

रघुराज सिंह के 'रुक्मिणी परिणय' की कथा-योजना बडा लद्धड़ है। इस छोटी-सी कथा को इक्कीस सर्गों में विभाजित किया गया है जिसके मूल में वर्णन-विस्तार ही उद्दिष्ट है। ऐसी भी कथाएँ कही गयी हैं जिनकी इस प्रसंग में कोई अपेक्षा न थी। पहले सर्ग में कृष्णजन्म, कंस-वध और जरासंध-पराजय, दूसरे में कालयवन-वध और द्वारका प्रवेश-वर्णन तथा चौथे सर्ग में बलभद्र-परिणय वर्णन अनावश्यक ही है। इसी तरह सत्रहवें से इक्कीसवें सर्ग तक रास एवं भागवत की अन्य कथाएँ वर्णित हैं जो बिल्कुल अनपेक्षित हैं। यहाँ आवश्यक वर्णन को अना-वश्यक विस्तार दिया गया है। पूरे द्वितीय सर्ग में द्वारावती की शोभा का वर्णन पूरे आठवें सर्ग में रुक्मिणी का नख शिख-वर्णन तथा सम्पूर्ण चौदहवें और पंद्रहवें सर्ग में क्रमशः बलभद्र और कृष्ण का विजय-वर्णन इसका उदाहरण है। कवि ने अवसर को नहीं पहचानने की भी भूल की है। जब शिशुपाल बरात लेकर कुंडिनपुर चला आता तो इस समय कवि रुक्मिणी का नख-शिख वर्णन करता है। इस समय तो उसके अंतर्द्वन्द्वों का ही वर्णन उचित होता।

इस परम्परा के सभी खंडकाव्यों में अल्पाधिक रूप में रसों की छटा दीख पड़ती है। रुक्मिणी द्वारा प्रेषित कृष्ण के पत्र में विप्रलम्भ के तथा युद्ध-वर्णन में वीर, भयानक और बीभत्स को देखा जा सकता है। किसी-किसी में शान्त रस की झलक भी मिल जाती है। विप्रलम्भ शृंगार की आश्रय रुक्मिणी, आलम्बन कृष्ण और उद्दीपन शिशुपाल का आगमन है। कृष्ण के प्रति जो रतिभाव रुक्मिणी के मन में था, वह एकाएक शिशुपाल के बरात लेकर पहुँच जाने पर उमड़ पड़ता है। कृष्ण

१. मोदीखानां तोषाखानां खजाना लदवाया।
नौबतीखानां बारुदखानां तीयखानां सजवाया।
दौलतखांनां फिलखांनां सिलैखांनां मलवाया।
पालकीखांनां और रथखांनां और गौखांनां खुलवाया।
पूजाखांनां दफ्तरखानां कारखांनां लगवाया।
कुंदनपूर कीया पयाना परस्थानां परवाया।

—वही

की एक एक क्षण की अनुपस्थिति उसे असह्य हो रही है, क्योंकि हरि के आज के विलम्ब से सदा के लिए उनसे उसका सम्बन्ध छूट जायगा। इस तरह यह विरहानुभूति साधारण वियोगानुभव से भिन्न है। साधारण विरह में संयोग का विकल्प एक सीमित काल खंड होता है किंतु यहाँ रुक्मिणी के लिए संयोग का विकल्प सदा-सर्वदा के लिए वियोग है। कृष्ण का आज न आना उनका सदा के लिए दूर हो जाना है। इसीलिए नंददास की रुक्मिणी अपने प्राणों की ही बाजी लगा बैठी है।[1] पृथ्वीराज की रुक्मिणी के समक्ष जीवन-मरण का प्रश्न नहीं है क्योंकि वह तो जन्म-जन्मांतर से उनकी दासी है, हरि इस बार ठुकरायेंगे कैसे। फिर भी, उसकी वाणी में वियोग-जनित दीनता का अभाव नहीं है।[2] नरहरि की रुक्मिणी में यह दीनता गहनतर है।[3] मेहरचंद की रुक्मिणी में तड़प, विकलता और दीनता एक साथ देखी जा सकती है।[4] नंददास ने तो अनुभावों और संचारियों की योजना कर विरह को

---

१. जो नगधर नंदलाल मोहि नहिं करिहौ दासी।
तो पावक पर जरिहौ, बरिहौं तन तिनका सी।६६।
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १८०

२. तथापि रहे न हूँ सकूँ बकूँ तिणि
त्रिया अनै प्रेम आतुरी।
राज दूरि द्वारिका विराजे
दिन नेड़उ आइयौ दुरी।।६५।।
—वेलि क्रिसन रुक्मिणि री, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, पृ० १६१

३. गाह गहत हे बाघ शो आनि छड़ायहुँ
छन छन मगन होत हैं ऐहि दुख सागरा
कर गहि आई उबारु अहो श्रीज नागरा
—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, पृ० ३३७

४. अब तुम दरसन देहु मुरारी।
अबला पर्यौ महादुखभारी।
एक बार सुपने चलि आवौ।
ई नैंनन की तडपति बुझाओ।
वेगि खबरि लीजे हरि मेरी।
हुतौ जनम जनम की चेरी।
—रुक्मिणि मंगल, मेहरचंद

पुष्ट किया है।[1] पृथ्वीराज ने भयानक[2] और बीभत्स[3] की भी योजना की है। हीरामणि के युद्ध-वर्णन में वीर भाव की अच्छी व्यंजना हुई है।[4] नंददास और रामलला के 'रुक्मिणी मंगल' में शांत रस की भी झलक दीख गयी है। नंददास ने रुक्मिणी द्वारा अम्बिका देवी की प्रार्थना[5] में और रामलला ने शिशुपाल के बरात

---

१. मिटी भूख अरु प्यास, पास कोउ और न भावै।
कोनें जाइ उसास भरै दुख कहत न आवै ॥११॥
दुरि रहति क्यों प्रिय-रति प्रकटहि देत दिखाई।
पुलक अंग, सुर भंग, स्वेद कबहुँ जड़ताई ॥१२॥
उर थर थर अति कँपत जपत जब कुँवर कन्हाई।
कबहुँ टकी लगि जाइ, कबहुँ आवत मुरझाई ॥१३॥
—नंददास ग्रंथावली, स० ब्रजरत्नदास, पृ० १७६

२. चोटियाली कूदै चौसठि चाचरि
धू ढलियै ऊकसै धड़।
अनंत अनै सिसुपाल औझड़े
झड़ मातौ मांढियौ झड़ ॥१२१॥
रिण अंगणि तेणि रुहिर रलतलिया
घणा हाथ हूँ पड़ै घणा।
ऊँधा पत्र बुदबुद जल आकृति
तरि चालै जोगिणी तणा ॥१२२॥
—वेलि क्रिसन रुक्मिणी री, हिंदुस्तानी, ऐकेडेमी, पृ० १८५

३. कण एक लिया किया एक कण कण
भर खञ्चे भंजियौ भिड़।
बलभद्र खलै खलाँ सिर बैठी
चारौ पल ग्रीधणी चिड़ ॥१२८॥ — वही, पृ० १८८

४. मच्यौ जुद्ध घोर निसान बज्जे मनौ तौ प्रलै के महामेघ गरजें।
कहू बीर करि नाद सनमुख धाये हनै और रिपु घोष छामें।
सकल सैनि ताकी विष मा उधारा गजं वीर गज लोक लोकं प्रधारा।
भुसुंडी फरस्या घटं वीर पालं हनै कंठ घंग फटै नाल जालं।
झरै टूटि टोपा रसं नाह रागें गिरै धाइ गज बाज भट वीर भागै।
गुरफी गुपती फरस प्राण हरही कटारी छुरी तीर नषदंत लरई।
मुसल और हरसाथ बलभद्र लीनौं तबै कोपि अरि सैनि संग्राम कीनौं ॥५३॥
—रुक्मिणी मंगल, हीरामणि

५. अहो! देवि; अम्बिके! गौरि, ईश्वरि, सब लायक।
महा-माय, बरदाय, सुसंकर तुमरे नायक ॥१०३॥
तुम सब जिय की जानति तुम सों कहा दुराऊँ।
गोकुल चंद गोबिंद, नंदनंदन पति पाऊँ ॥१०४॥
—नं० ग्रं०, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १८२

लेकर पहुँचने पर रुक्मिणी द्वारा कृष्ण की प्रार्थना[1] में इसकी झलक प्रस्तुत की है। इस परम्परा के सभी खंडकाव्यों की परिणति रुक्मिणी-कृष्ण-मिलन में हुई है। फिर भी, पृथ्वीराज की 'वेलि' को छोड़कर किसी में संयोग श्रृंगार के दर्शन नहीं होते। पृथ्वीराज ने संयोग क्षण का बड़ा विदग्ध वर्णन किया है।[2] इन्होंने श्रृंगार रस के अन्य सहयोगी तत्वों को भी स्थान देकर श्रृंगार-वर्णन को पुष्ट किया है। प्रारम्भ में ही रुक्मिणी की वय:संधि का विस्तृत वर्णन है। यह वर्णन विदग्धता में भी अनुपम है। रुक्मिणी की देह में बालपन की विदा और यौवन का आगम हो रहा है। अपनी अब तक की सखी शैशव से बिछुड़ कर वह उदास हो रही है। यही नहीं, उसे अब लाज की भी पीड़ा सहनी पड़ती है। अब वह निस्संकोच माता-पिता के समक्ष खेल नहीं सकती। माता-पिता के सामने खेलती हुई उसका ध्यान यौवनागम सूचित करने वाले उसके अंगों पर चला जाता है और तब उसे लाज करने में भी लाज लगती है।[3] पृथ्वीराज की 'वेलि' को छोड़कर सभी खंडकाव्यों में चरमोत्कर्ष अंत में है। रुक्मिणी की हरण और रुक्म की पराजय ही चरमोत्कर्ष बिंदु है जिसके बाद कथा-सूत्र समाप्त हो जाता है। रुक्मिणी का हरण और रुक्म की पराजय ही चरमोत्कर्ष बिंदु है जिसके बाद कथा-सूत्र समाप्त हो जाता है। 'वेलि' में यह चरमोत्कर्ष बीच में ही पड़ जाता है; क्योंकि रुक्मिणी-हरण के उपरांत द्वारका में कृष्ण-रुक्मिणी का संयोग विस्तार से वर्णित है।

नंददास और पृथ्वीराज को छोड़कर अन्य सभी के खंडकाव्यों में साधारण अलंकरण है। नंददास के 'रुक्मणी मंगल' में तो उत्प्रेक्षा अलंकार की लड़ियाँ हैं। ऐसी पंक्तियाँ खोजने ही से मिलेंगी जिनमें यह अलंकार न हो। ये उत्प्रेक्षाएँ पिटी-

---

१. दरसन देहो मुरारी। अब मोह दरसन दे हो मुरारी॥
   प्रभुजी मैं अबला दुष्यभारी। अब तुम दरसन देहो मुरारी॥
   —रुक्मिणी मंगल, रामलला

२. एकन्त उचित क्रीडा चौ आरंभ,
   दीठो सुन किहि देव दुजि।
   अदिठ अश्रुत किमि कहणौ आवै
   सुख ते जाणणहार सुजि॥१७३॥
   —वेलि क्रिसन रुक्मणी री, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, पृ० २१०

३. जम्प जीव नही आवतो जाणे
   जोवण जावणहार जण।
   बहु बिलखी वीछड़ती बाला
   बाल संघाती बालपण॥१७॥
   आगलि पित मात रमन्ती अंगणि
   काम विराम छिपाड़ण काज।
   लाजवती अंगि एह लाज विधि
   लाज करन्ती आवै लाज॥१८॥
   —वेलि क्रिसन रुकमणी री, हिन्दुस्तानी ऐकेडेमी, पृ० १४१

पिटायी नहीं बल्कि मौलिक हैं। अम्बिका देवी के मंदिर से लौटती हुई रुक्मिणी के चरण धरती पर इस तरह पड़ रहे हैं मानों धरती माता उसके चरणों को कोमल जान अपनी जीभ उसके नीचे रख रही है।[1] इस एक उदाहरण से उनकी उत्प्रेक्षाओं की मौलिकता देखी जा सकती है। उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त संदेह और उदाहरण अलंकार भी प्रचुरता से आये हैं। इनमें भी उनकी मौलिकता उसी तरह देखी जा सकती है। कृष्ण रुक्मिणी को हर कर चल पड़े हैं। कवि कहता है कि नागर श्रीकृष्ण नागरी रुक्मिणी को इस प्रकार ले चले जैसे मधुहा मधु को ले चलता है।[2] इसमें मात्र उदाहरण अलंकार ही नहीं है बल्कि जिस चमत्कारपूर्ण ढंग से बात कही गयी है उससे इस उदाहरण अलंकार में जान आ गयी है। रुक्मिणी के लिये मधु और कृष्ण के लिये मधुहा उपमान कितना व्यंजनापूर्ण है! इसके अतिरिक्त अन्य अनेक अलंकारों से नंददास का रुक्मिणी मंगल' अलंकृत है।

पृथ्वीराज ने रूपक की जो शृंखला अपनी 'वेलि' में बाँधी है, वह अद्भुत है। किसी एक पुस्तक में रूपक का इतना प्रयोग दुर्लभ है। पृथ्वीराज की भावधारा रूपकमयी शब्द-योजना में ही आकार धारण करती है। सम्पूर्ण युद्ध-वर्णन और षट्ऋतु-वर्णन रूपकमय है तथा पुस्तक के शेषांश में भी रूपक छाया हुआ है। रूपक का इतना प्रयोग अस्वाभाविकता का सृजन नहीं करता इसीलिए कि रूपक काव्य पर लदे हुए नहीं हैं बल्कि कविता के साथ ही उत्पन्न हुए हैं। पृथ्वीराज जान-बूझकर रूपक का प्रयोग नहीं करते, यह तो उनके भाव-स्रोत के उत्स में ही बैठा हुआ है। अतः जो भाव वहाँ से फूटता है उसके साथ रूपक स्वभाविक रूप से आता है। उनकी अनुभूति का अंग होने के कारण उनके रूपकों में एक ताजगी है, सहजता और मनोहारिता है। रुक्मणी की वयःसंधि-वर्णन प्रसंग के एक रूपक को देखकर उनकी सूझ का अनुमान किया जा सकता है। रुक्मिणी का नवोपलब्ध यौवन दक्षिण पवन के समान लोकोत्तर आनंददायक है, कवि की यह अनुमति ऐसे रूपकों में बंधकर निकली है कि पाठक के समक्ष वह अनुभूति साकार हो गयी है। कवि कहता है कि रुक्मिणी की सुंदर देह ही मलयागिरि है, उसके हृदय-रूपी मलय तरु में काम के अंकुर-स्वरूप दो उरोज फूटे हैं और उसकी साँस ही त्रिविधि समीर है।[3] इसी प्रकार

१ अरुन चरन प्रतिबिंब अवनि मैं यौं उनमानी।
जनु धर अपनी जीभ धरत पग कोमल जानी ॥१०८॥
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १८३

२. लै चले नागर नगधर नवल तिया कों ऐसे।
आँखिन-आँखिन-धूरि-पूरि मधुहा मधु जैसे ॥११९॥
—नंददास ग्रंथावली. सं० ब्रजरत्न दास, पृ १८४

३. मलयाचल सुतनु मलै मन सोरे
कली कि काम अंकूर कूच।
तणौ दखिसा दिसि दखिण त्रिगुण मै
ऊरध सास समीर उच ॥२१॥
—वेलि किसन रुकमणी री, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, पृ १४२

उनके द्वारा प्रस्तुत सारे रूपकों में मौलिकताजनित ताजगी है ।किंतु ऐसा नहीं है कि रूपक के लिए पृथ्वीराज ने अन्य अलंकारों को भुला दिया हो। संदेह[1], अत्यातिशयोक्ति[2], आदि भावों को तीव्र करने वाले अन्य चमत्कारी अलंकारों का सर्वथा अभाव नहीं है।

अन्य खडकाव्यकारों मे नरहरि ने अर्थान्तरन्यास,[3] रूपक,[4] उत्प्रेक्षा,[5] मेहरचंद ने रूपक,[6] उत्प्रेक्षा[7] और उदाहरण[8] और रामलला तथा हीरामणि ने उत्प्रेक्षा[9] का प्रयोग किया है।

---

१ ऊपरि पद पलव पुनर्भव ओपति
विमल कमल दल ऊपरि नीर।
तेज कि रतन कित तार कि तारा
हरि हस सावक ससिहर हीर ॥२७॥
—वेलि क्रिसन रुक्मणी री, हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, पृ० १४५

२. दिन लगन सु नैड़ो, दूरि द्वारिका
भी पहुँचेस्यां किसी भति :
सांझ सोचि कुन्तणपुरि सूतो
जागियौ परमाते जगति ॥४७॥
—वही, पृ० १५३

३. दुख पाइया पितु मातु शाधुन रुकुम मुढ न बुजाइऐ
मनि देह मरकट हाथ मुरुख आग पाछ न सुझाइऐ
—अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, डा० सरयू प्रसाद अग्रवाल, पृ० ३३४

४. छन छन मगन होत है ऐहि दुख शागरा
—वही, पृ० ३३७

५. दिन कहा शैन बुझाय सुंदर पाइ पति शुख पाइया
जनु रंग पाऐउ रतन रुकुमिनि प्रगट जदुपति आइया
—वही, पृ ३३८

६. ये प्रभु कृपा निधान आनि दिखावौ वदन ससि
—रुक्मिणी मंगल, मेहरचंद

७. मुक्तमाल गोपाल कें राजत रूप अपार
मांनहुं गिरि गुर सिखर तें चली सुरसरी धार
—वही

८. अब रुकमनी आनंद भयो है ज्यों चकोर लखि चंद लयौ है
—वही

९. (क) कारी घटा डरावनी मानो ऐसो ही कारो कान्ह री
—रुक्मिणी मंगल, रामलला

(ख) उमै सूर सनमुख लरें जादौं और शिशपाल
मनौं सिंघ जुग उमड़ि कैं मिले प्रलै के काल ॥४६॥
— रुक्मिणी मंगल, हीरामणि

छंद-प्रयोग की दृष्टि से सर्वप्रथम उल्लेखनीय यह है कि इस प्रसंग के खंड-काव्यकारों में रघुराज सिंह और हीरामणि छंदबाजी की प्रवृत्ति लेकर आये हैं। रघुराज सिंह ने सोरठा, छप्पय, दोहा, चौपाई, कवित्त, हरिगीतिका, भुजंगप्रयात, वामन, त्रिभंगी, त्रोटक, सवैया, युगलगीत, बरवै, घनाक्षरी, चौपैया, नाराच, तोमर, किरवान, दंडक, गीतिका, पद्धरि, रोला, वसंततिलका, छंद प्रमाणिका, मोतीदाम, चौबोला, द्रुतविलम्बित और गीत ये उनतीस प्रकार के छंद और हीरामणि ने छप्पय, दोहा, सोरठा, भुजंगी, मोतीदास, त्रिभंगी, कुंडलिया, पद्धरि, चौपाई, कवित्त और गाहा, ये ग्यारह प्रकार के छंद प्रयुक्त किये हैं।

समग्र रूप से सारे खंडकाव्यकार दो कोटियों में विभाज्य हैं : आद्यंत एक छंद का प्रयोग करने वाले और अनेक छंदों का प्रयोग करने वाले। नंददास और पृथ्वीराज ने सम्पूर्ण में एक छंद का व्यवहार किया है। नंददास का छंद रोला और पृथ्वीराज का बेलियो गीत है। मेहरचंद ने सोरठा, चौपाई, दोहा, भुजंगप्रयात, हरिगीतिका और छप्पय तथा विष्णुदास ने पद और दोहा का व्यवहार किया है। रामलला का 'रुक्मिणी मंगल' गीतमय है जो विविध रागों में बद्ध है।

खंडकाव्य के लिए सर्वोपयुक्त छंद नंददास का ही है। आदि से अंत तक रोला छंद का प्रयोग से अविछिन्न और लययुक्त प्रवाह तथा बहा ले जाने वाली गति आ गयी है। प्रबंध के लिए परम्परा-प्राप्त उपयुक्त-छंद-योजना आलम ने की है जिनकी श्याम सनेही, दोहे, चौपाइयों लिखी गयी है।

पृथ्वीराज को छोड़कर सब की भाषा ब्रजी है। पृथ्वीराज ने कर्णकटु डिंगल को कोमल कांत कलेवर देकर अपनी अद्भुत भाषा-क्षमता का परिचय दिया है। डिंगल की कर्कशता में उन्होंने संगीत का माधुर्य भर दिया है। कहीं-कहीं उन्होंने पूरा छंद संस्कृत ही रख दिया है। नरहरि की भाषा में द्वित्व व्यंजनों की भरमार है जो उसकी प्राचीनता की साक्षी है। द्वित्व व्यंजनों को सरलीकृत कर लेने की प्रवृत्ति अवहट्ठ काल में ही उत्पन्न हो गयी थी। ब्रजी में इस प्रवृत्ति का पूर्ण विकास हुआ। नरहरि की भाषा में द्वित्व व्यंजनों का अस्तित्व ब्रजी के अत्यन्त प्राचीन रूप की सूचना देता है। एक ही शब्द के कई रूपों का प्रयोग भी नरहरि के 'रुक्मिणी मंगल' में द्रष्टव्य है। एक ही पृष्ठ में 'गाय' के लिए 'गाइ' और 'गाह' दोनों रूप प्रयुक्त हुए हैं। यह इनकी भाषा में प्रौढ़ता के अभाव का सूचक है। रामलला की भाषा में खड़ी बोली की भी झलक दिख जाती है। हीरामणि की भाषा निर्जीव है। आलम की 'श्याम सनेही' की भाषा अवधी और ब्रजी की खिचड़ी है।

रास लीला-विषयक खंडकाव्य

नंददास-कृत 'रास पंचाध्यायी' अपने विषय की अद्योपलब्ध प्राचीनतम रचना है। जैसा कि कवि ने आरम्भ में ही निवेदित कर दिया है 'तातें मैं यह कथा जथामति भाषा कीन्हीं', उसने इसमें मौलिकता लाने का भरसक प्रयास किया है। 'मनमथन के मनमथ' सौंदर्य-निधान कृष्ण के रास को देखने का लोभ मनमथ भी सम्वरण न कर सका। लेकिन ब्रजवधुओं के साथ अतुलित शोभाधारी कृष्ण को देखकर मनोज मूर्च्छित हो गया, तब रति उसे उठाकर ले गयी। इस प्रसंग के सन्निवेश से कवि ने

कृष्ण के रूप की अलौकिकता और रास की अपूर्वता को प्रकट करने में पूर्ण सफल हुआ है। रसानंद ने अपनी 'रास पंचाध्यायी' में किन्हीं ऐसे नवीन प्रसंगों का समावेश नहीं किया है, फिर भी, रसानंद की 'रासपंचाध्यायी' नंददास की 'रास पंचाध्यायी' से उत्कृष्टतर है। कृष्ण के छिप जाने पर नंददास ने यह तर्क दिया है कि मधुर वस्तु खाने के बाद कटु, अम्ल चीजें खाने की इच्छा होती है।[1] किंतु तब तो कृष्ण के छिप जाने पर गोपियों को आकुल होने के बदले आनंदित होना चाहिए। रसानंद के अनुसार जब गोपियों को यह घमंड हो गया कि कृष्ण हमारे ही वश में हैं तो कृष्ण ने उनकी आँखों से ओझल होकर इसका निराकरण कर दिया, क्योंकि भगवान् अंततः दर्पहारी हैं। इसी तरह नंददास की रास पंचाध्यायी' में 'प्यारी तिय' की वेणी गूँथते-गूँथते कृष्ण अदृश्य हो जाते हैं। रसानंद की 'रासपंचाध्यायी' में वह गोपी जब कृष्ण से कंधे पर चढ़ाने का अनुरोध करती है तब कृष्ण अदृश्य होते हैं। वेणी गुँथवाने से कंधे पर चढ़ने में दर्प का भाव अधिक है। अंतः यहाँ भी रसानंद के कृष्ण मे अपेक्षाकृत दर्पहारिता अधिक है। इस तरह रसानंद अधिक सफलता तथा स्वभाविकता से कृष्ण को अलौकिक रूप दे सके हैं, यद्यपि यह प्रयास नंददास में ही अधिक है।

प्रथम अध्याय में वृंदावन का वर्णन करते हुए नंददास पहले ही कह देते हैं कि कृष्ण-लीला में सहयोग देने के लिये ही प्रकृति ने जड़ रूप धारण किया है।[2] फिर, कृष्ण-गोपी-मिलन के पूर्व वे यह कहे बिना न रह सके कि कृष्ण के प्रेम में पगी ये गोपियाँ साधारण नारियों से भिन्न हैं।[3] इन कथनों से काव्य को क्षति पहुँचती है। रसानंद की 'रासपंचाध्यायी' इन दोषों से तो मुक्त है ही, यहाँ बड़ी स्वाभाविकता से अलौकिकता की प्रतिष्ठा की गयी है। इस तरह भक्ति और काव्यत्व दोनों दृष्टियों से रसानंद की 'रासपंचाध्यायी' श्रेष्ठतर है।

कतिपय बातों में नंददास और रसानंद की 'रासपंचाध्यायी' में साम्य भी है। दोनों का कथा-संघटन एक समान है। दोनों की कथा पाँच अध्यायों में बँटी है और अध्याय के मध्य वर्णन-संकेत हैं। दोनों का कथा-प्रवाह एक सदृश्य है। वह नदी की तरह हहराती नहीं, ग्लेशियर की तरह खिसकती है। दोनों में चरमोत्कर्ष दो-दो बार हुआ है, एक बार प्रथम अध्याय में गोपियों के प्रथम बार आने पर और दूसरी बार चौथे अध्याय में कृष्ण के छिपकर प्रकट होने पर। दोनों में शरत् पूर्णिमा के दिन

---

१. मधुर वस्तु ज्यों खात निरंतर सुख तौ भारी।
बीचि-बीच कटु अम्ल तिक्त अतिसय रुचिकारी ॥१॥
—नंददास ग्रथावली, रासपंचाध्यायी, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १०

२. श्री वृंदावन चिद्‌घन कछू छबि बरनि न जाई।
कृष्ण-ललित लीला के काज धरि रह्यो जड़ताई।१७।
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, रासपंचाध्यायी पृ० २

३. हरि-रस ओपी गोपी ये सब तियनि तें न्यारी।
कंवल नैन गोविंद-चंद की प्रान-पियारी।६५।
—वही पृ० ७

रास का आयोजन हुआ है। दोनों के आरम्भ में शुकदेव की वंदना की गयी है। दोनों में संयोग और वियोग के मार्मिक चित्र उरेहे गये हैं। नंददास ने श्वेत पत्र पर पेंसिल से कुछ रेखाएँ खींची हैं जिससे चित्र उभरा नहीं है। रसानंद ने चित्र के अनुकूल पट चुना है और उस पर गहरे रंगों की तूलिका चलायी है। दोनों की गोपियाँ विरहोन्माद में लताओं और तरुओं से प्रिय का पता पूछती हैं। नंददास की गोपियाँ केवल पूछती हैं,[1] किंतु रसानंद की गोपियाँ उन्हें कहने के लिए बाध्य करती हैं।[2] इस तरह रसानंद की गोपियाँ अधिक विरहाकुल, अधिक चतुरा हैं। यही नहीं, नंददास ने इस अवसर पर यह सफाई दे दी है कि 'को जड़ को चैतन्य कछु न जानत विरही जन'। फिर, जब गोपियाँ कृष्ण को खोजकर हार जाती हैं और लीला का अनुकरण करने लगती हैं तो नंददास कहते हैं कि 'कृष्ण भगतितें कृष्ण होन कछु नहीं अचरज बड़'। जैसे रस की स्वशब्द वाचकता रस-दोष का कारण है वैसे ही काम दशा की व्याख्या से भी उसकी गहनता न्यून हो गयी है। रसानंद इन दोषों से मुक्त हैं।

इन खंडकाव्यों में प्रकृति-वर्णन स्वभावतः ही हो गया है। प्रकृति की गोद में ही यह अद्भुत रासलीला संघटित हुई है। रसानंद में तो प्रकृति सक्रिय हो उठी है। वह इस दिव्य मिलन की तटस्थ दर्शिका नहीं, बल्कि सहायिका ही सिद्ध होती है।

---

१. हे मालति ! हे जाति ! जूथिके ! सुनियत दै चित।
मान-हरन मन-हरन गिरिधरन लाल लखे इत।६।
हे केतकि ! इत कितहूँ तुम चितए पिय रूसे।
किधौं नंद-नंदन मंद मुसकि तुमरे मन मूसे।७।
हे मुक्ताफल वेलि ! धरें मुक्ता-मनि माला।
देखे नैन बिसाल मोहनै नंद के लाला।८।
हे मंदार उदार बीर करवीर महामति !
देखे कहिं बल बीर धीर मन-हरन धीर गति।९।
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास पृ० ११

२. अहो मयूर कहा कुहकत लुहकत मुद भरे।
हम जानत पिय पछ्छ तिहारे सिर धरे।
करो पंछिछ अबलानि पछ्छ की स्याम सों।
सो तुम पछ्छी न्याइ रूप अभिराम सों।४।
अहो मृगी मृग तुम जु बिडरि बन बन फिरे।
माननि तुम्हरे प्राण मुरलिका ने हरे।
नित बिहरत तुम संग रहत मुख जोवते।
अब तुम कहूँ अवलोके सुरति सजोवते।५।
हे चकोर तुम सुनी उपासिका चंद की।
इत हम असित सरूप छकी ब्रज चंद की।
धरें मौन रितु यह में निहारति हो कहा।
हमें मिलाओ लख्यो जु कहूँ प्रीतम हहा।६।
—रास पंचाध्यायी, द्वितीय अध्याय, रसानंद

वह इस अपूर्व संयोग के लिए अद्भुत सेज तैयार करती है।[1] नंददास में प्रकृति का यह सहयोगिनी रूप नही है। कवि ने शृंगारिक पृष्ठभूमि तैयार करने के लिए प्रकृति का वर्णन किया है और वह प्रकृति का शृंगारमय चित्र उतारने में सफल भी हुआ है। वह उस शरत् चाँदनी का वर्णन कर रहा है जिसकी रमणीयता को कृष्ण ने अपने महारास से सार्थक किया था। कवि ने चंद्र की इस ज्योत्स्ना का उसी के उपयुक्त वर्णन किया है। चंद्र-किरणें वन में इस तरह फैल रही हैं मानों कामदेव फाग खेल रहा हो।[2] कहीं-कही नंददास के प्रकृति-वर्णन में केवल सूची गिनायी गयी है।[3]

इन खंडकाव्यों में एक रात की घटना का वर्णन है किंतु इसी में संयोग और वियोग दोनों चित्रित हुए हैं। इस तरह इसमें वर्णित वियोग का आधार कुछ मिनटों के लिए प्रिय से बिछुड़न है। इससे इन खंडकाव्यों के विरह की सच्चाई में किसी को शंका हो सकती है। परतु इस विरह-वर्णन से संयोग की गहनता ही पुष्ट हुई है। प्रेम की यह कैसी तन्मयता थी कि प्रिय के आँख से ओझल होते ही गोपियाँ तड़प उठी। इन खंडकाव्यों का अगी रस सम्भोग शृंगार ही है। यह संयोग-संघटना दो बार हुई है : प्रथम बार प्रथम अध्याय में[4] और द्वितीय बार चतुर्थ एवं पंचम अध्याय

---

१. पल्लव गिलस गादी कुसुम सवारि रसानंद लतान के वितान साजै साज है।
सचिव सुखाय भक्ति यथाप्रिय नारी सैना पंछीगन पाप दल दलिबे के काज है।
चौंरदार मोर चकोर मृग चोबदार गावैं बंदी जस मधुप समाज है।
चारिहू पदारथ ते पूरित भंडार सुषमां को परिवार पूरें राजै बनराज है।
—रासपंचाध्यायी, रसानंद

२ कोमल किरन अरुविया बन मे व्यापि रही अस।
मनसिज खेल्यौ फाग घुमड़ि घुरि रह्यौ गुलास जस।४३।
—नंददास, ग्रंथावली, स० व्रजरत्नदास, पृ० ४

३. इत महकति मालती चारु चंपक चित चोरत।
इत घनसार तुसार मलय मंदार झकोरत ।।६२।।
इत लवंग नवरंग एलि इत झेलि रही रस।
इत कुरुवक केवरा केतकी गंध-बंधु बस ।।६३।।
इत तुलसी छबि हुलसी चाँड़ति परिमल लपटै।
इत कमोद आमोद गोद भरि भरि मुख दबनें ।।६४।।
—वही, पृ० ६

४. बिलसत विविध विलास हास नीवी कुच परसत।
सरसत प्रेम अनंग रंग नव घन ज्यों बरसत ।।६६।।
—नंददास ग्रंथावली, सं० व्रजरत्न दास, पृ० ६

में।[1] कृष्ण-गोपी-मिलन का ऐसा ही वर्णन रसानंद ने भी किया है।[2]

इन खंडकाव्यों में विरह का चरमोत्कर्ष यहाँ देखने को मिलता है जहाँ गोपियाँ कृष्ण को खोजने के प्रयत्न में तरुग्रों-लताग्रों से भी पूछकर हार जाने पर कृष्ण का स्वांग करती हैं। विरह की इससे अधिक उद्दीप्त स्थिति क्या हो सकती है कि आश्रय ही आलम्बन हो जाय! यहाँ विद्यापति के 'अनुखन माधव माधव रटइत राधा भेल मधाई' का सहज ही स्मरण हो जाता है।

अलंकरण दोनों में समान है, अंतर केवल अलंकारों के चयन में है। उत्प्रेक्षा दोनों को प्रिय है।[3] इसके अतिरिक्त नंददास को उदाहरण अलंकार से मोह है[4] तो रसानंद को संदेह से।[5] नंददास उत्प्रेक्षा और उदाहरण के बिना एक पग नहीं चलते तो रसानंद उत्प्रेक्षा और संदेह के बिना चल नहीं सकते। किंतु इनके अतिरिक्त

---

१. ग्रीव ग्रीव भुज मेलि सेलि कमनीय बड़ी अति।
लटकि-लटकि वह नितंनि कापै कहि आवै गति।२१।
—नंददास ग्रंथावली, स० ब्रजरत्नदास,पृ० १२

२. तव पिय व्रज जुवतिन रस रले।
मोद भरे जमुना तट चले।
कै गलबाही भरे उमंग।
निरषत प्रमुदित जमुना तरंग।
—रास पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, रसानंद

३. (क) गौरे तन की जोति छूटि कबि छाय रही घर।
मानहु ठाढ़ी कुँअरि सुभग कंचन अवनी पर।३२।
—वही, पृ० १३

(ख) अरुन बरन ऊगत नभ छायौ।
जनु अनुराग प्रघट कढि आयौ।२३।
—रास पंचाध्यायी, प्रथम अध्याय, रसानंद

४. जाकों सुंदर स्याम कथा छिन छिन नइ लागै।
ज्यों लंपट पर-जुवति-बात सुनि अति अनरागै।६१।
—नंददास ग्रंथावली, पृ० ६

१. कैधौं स्याम घनकी घटा सी छित छाइ रही।
कैधौं घनस्याम अंग सोभा सुष साज को।
कैधौं रसानंद नवेलि वेलि मरकत की।
जगमग जोति बारी सत सिरताज की।
राजै जग बंदनी कलिंद नंदनी की प्रभा।
कैधौं आभा नील अरविंद के समाज की।
कैधौं रूप मोहनी की सोहनी अनूप बेंनी।
काम अति श्रेनी हैं किरेंनी रस राज की।१०।
—रासपंचाध्यायी, रसानंद

दोनों ने अन्य अलंकारों के भी प्रयोग किये हैं। नंददास ने यदि पूर्णोपमा[1], रूपक[2] और अर्थालंकार संसृष्टि[3] की तो रसानंद ने केवल रूपक[4] की योजना की है।

दोनों ही छन्द-योजना में युग का प्रभाव स्पष्ट है। नंददास भक्तिकाल के कवि हैं जब कथ्य का महत्व अधिक था, कला का कम और रसानन्द रीतिकाल के कवि हैं जिनमें कवि कलाबाजी के शिकार थे। छोटी रचना में भी अनेक छंदों का प्रयोग कर रीतिकाल के कवियों ने अपनी छंदबाजी दिखायी है। रसानन्द में यह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। २२३ छंदों की पुस्तक में कवित्त, छप्पय, दोहा, अरिल्ल, चौपाई, सवैया, सोरठा पद्धरि और गीतिका ये नौ प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं। शृंगारमयी रचना में वीर रसोपयुक्त छप्पय का प्रयोग सूझपूर्ण नहीं कहा जा सकता नंददास ने आद्यन्त रोला छंद का व्यवहार किया है जो शृंगारिक विषय के लिए बड़ा ही उपयुक्त है। चौबीस मात्राओं के इस लघु छंद का प्रयोग कर नंददास ने कथा को शैथिल्य से बचा लिया है। हरिदास ने चौपाई और नागरीदास ने दोहे का प्रयोग किया है।

सभी खंडकाव्यों की भाषा ब्रजी है। रसानंद ने नंददास की तरह मंजी हुई भाषा का प्रयोग किया है अन्य खंडकाव्यों की भाषा साधारण ही है।

दानलीला-विषयक

दानलीला की कथा मूलतः कृष्ण द्वारा गोपियों से दही का दान लेने के प्रसंग से सम्बंधित है। किंतु मध्यकालीन खंडकाव्यकारों ने इसकी कथा-योजना में मनमानी की है। अधिकांश में दधि-दान के साथ देह-दान भी हुआ है। परमानंददास, कुम्भनदास, श्यामलाल, उदय और गिरिजेंद्र की 'दानलीला' इस सिलसिले में उल्लेखनीय है। इन सब में गोपियाँ दधि बेचने चलती हैं और कृष्ण दही लेने के लिए उनकी राह रोकते हैं। परमानंददास, उदय और गिरिजेंद्र की गोपियों का तो दही बेचना एक बहाना मात्र है। उनका मुख्य उद्देश्य कृष्ण-मिलन ही है।[1] कुम्भनदास और श्यामलाल

३. जह जेतिक द्रुम जाति कल्पतरु सम सब लायक।
चिंतामनि सम भूमि सकल चिंतित फल-दायक ॥२५॥
—नंददास ग्रंथावली, पृ० ३

४. हिय भरि बिरह हुतासन सासन संग आवत भर।
—वही पृ० ८

५. जनु घन तें बिजुरी बिछुरी मानिनि-तनु काछें।
किधौं चंद्र सौं रूसि चंद्रिका रहि गइ पाछें ॥३३॥
—वही, पृ० १३

६. श्री शुक चरन सरोज कौं करि कबजोरि प्रनाम ॥१२॥
—रासपंचाध्यायी, रसानंद

१. (क) एक बार राधे श्री बैठी सखियन साथ।
बढ्यो प्रेम उमग्यो हियो सुरिद्यो मन रघुनाथ ॥

की गोपियाँ अवश्य ही दही बेचने का ही उद्देश्य लेकर चली हैं, कृष्ण उन्हें अचानक मिल गये हैं।[1] रामदत्त और माधुरीदास की 'दानलीला' में दधि का कोई प्रसंग नहीं है, वहाँ देह-दान ही एकमात्र उद्देश्य है। इन दोनों में अंतर यही है कि 'दानलीला' में गोपियाँ अनेक नहीं बल्कि अकेली राधा है और वही वर्षा ऋतु में एक दिन अपने को कामोन्मत्त पाकर कृष्ण से मिलने चलती है। दूसरी ओर, रामदत्त की 'दानलीला' रासलीला के अति निकट है। एक दिन प्रातःकाल कृष्ण वंशी बजाते हैं और गोपियाँ अपनी सारी सुधि भूलकर उनके पास दौड़ पड़ती हैं जहाँ यह दान सम्पन्न होता है। इस परम्परा में एक मात्र आनंद की 'दानलीला' ही ठिकाने की मिलती है। यहाँ केवल दही का ही दान लिया गया है। यहां न तो कहीं अलौकिकता का आभास है, न कहीं आवारागर्दी की गंध। कृष्ण एवं उनके द्वारा प्रेषित अन्य ग्वाल-बालकों को

चलो सखी तंह जाइये जहां बसत ब्रजराज।
गोरस बेचन प्रेम रस एक पंथ दुइ काज॥

—दानलीला, परमानंददास

(ख) मिलि कै यह मत कियो चलो सबही अब आली।
आई चराइ गाइ आज गहवर बनमाली॥
तिन सौ चलि बलि कीजयों कछु इक वाक विलास॥
गोरस मिस रस रूप को माखन मदन प्रकास॥

प्रेमरस पीजिये॥—दानलीला, उदय

(ग) चलो सखी जहाँ जाइऐ जहाँ मीलें ब्रीजराज
जोरस बेंचत हरी मीलै ऐक पंथ दुइ काज

—दानलीला, गिरिजेंद्र

१. (क) ब्रज जुवतिन के जूथ चली ब्रजनागरी॥
गोकुल बृजनारी दध्यो नित बेचन आवैं॥
मुखन बसन सिंगार बनी अति यम सुहावैं॥
...तें अति आगरी सोभा बरन न जाय॥
बन्यो कुंज फुल्यो सखी रस रंग धर्‌यो हें वनाय॥१॥
प्रात समें नंदलाल सखा सब तुरत बुलाय॥
सुनत दान की बात सबै आतुर उठि धाये॥

—दानलीला, कुम्भनदास

(ख) मोर मुकुट कटि काछनी कर मुरली उर माल।
जे बालक मन में बसो सदा विहारी लाल॥
शेर—लटपटी पाग सीस बंधी नैन उनीदे।
जुल्फों में बाल फैले आये उसनीदे॥
आये हो प्रात काल लाल बाल दही दे।
दे दही बालमंद लाल गुलाबन बेरे॥

—दानलीला, श्यामलाल

तो केवल दही खाना था और दही खाकर ग्वालिनियों के ही वस्त्र में हाथ पोंछकर सब भाग गये ।[1]

रामदत्त और माधुरीदास की 'दानलीला' इस परम्परा से सर्वथा विच्छिन्न है । इनकी 'दानलीला' नाम सर्वथा निरर्थक है । यहाँ दान नाम की कोई चीज नहीं है, यहाँ तो जीव और ब्रह्म—वृषभानुजा और नंद लाड़ला का मिलन है जिसमें दधि बेचने का कोई बहाना नही है । वृन्दावन की यह रस माधुरी सनातन है[2] और इसमें जिसका मन लग जाता है उसे कुछ भी अच्छा नही लगता ।[3]

कुम्भनदास, उदय, गिरिजेंद्र और श्यामलाल की 'दानलीला' का प्रारम्भ नाटकीय है । कुम्भनदास ने स्तुति को भी छोड़कर एकाएक व्रजवधुओं के दधि बेचने के लिए प्रयाण से कथा शुरू की है । उदय ने भी वंदना नही रखी है और ग्राम से निकल कर कृष्ण द्वारा बरसाने की राह को घेरने की योजना बनाने से कथा का प्रारम्भ किया है । गिरिजेंद्र मे भी स्तुति नही है । उनकी गोपियाँ अचानक सखियों से दही बेचने और व्रजराज से मिलने का अनुरोध करती हुई मच पर आ जाती है । रामदत्त की 'दानलीला' मे स्तुति के उपरात प्रात काल मे यशोदा द्वारा कृष्ण के जगाये जाने से और श्यामलाल की 'दानलीला' मे वंदना के बाद गोपियों से दही मांगते हुए कथा शुरू हो गयी है । इसके विपरीत माधुरीदास, आनंद और परमानंद की 'दानलीला' कथात्मक ढग से शुरू होती है । माधुरीदास ने वंदना के उपरांत वर्षा के आगमन होने पर वृषभानुनदिनी के कृष्ण से मिलने के लिए चलते हुए आनंद से पहले स्तुति करके कृष्ण द्वारा दान लेने का निश्चय करने से और परमानंद ने इसके विपरीत राधा के द्वारा कृष्ण-मिलन की बात सोचे जाने से कथारम्भ किया है । इन काव्यों में प्रबंध की लघु योजना के कारण प्रबधौचित्य का निर्वाह प्रायः हो गया है । केवल माधुरीदास ही इस छोटी कथा मे भी स्वाभाविकता की रक्षा नहीं कर पाये । जब वृषभानुजा कृष्ण-मिलन के लिए चली थी तो साथ में एक भी सखी नहीं थी किंतु केलि समाप्त होते-होते 'मनुकरी सूं आनि लपटानि सब सषीयां' !

गिरिजेंद्र की दानलीला में एक अस्वाभाविकता सम्पूर्ण रस को दूषित कर देती है । आरम्भ में गोपियो ने पारस्परिक सम्भाषण मे कृष्ण में ब्रह्मत्व का अर्पण कर दिया है । अतएव कथा के मध्य मे गोपियो ने दही देने मे जो अनाकानी की है

---

१ गोरस खा दध दूध तें भरे जो दोऊ हाथ ।।
पूंछ सखी के वस्त्र सो भाजे तब व्रजनाथ ।।
—दानलीला, आनंद

२. निस दिन चित चितत रहूँ श्री चेतन स्वरूप ।
वृंदावन रसमाधुरी सदा सनातन रूप ।।
—दानलीला, माधुरीदास

३. दान केलि जो मन रसैं ताहि और न सुहाई ।
तजि वृंदावन माधुरी अनत कबहूँ न जाई ।।३५।।
—वही

या कंस का भय दिखाया है, वह सब अपनी स्वाभाविकता खो देते हैं। इसी तरह रामदस ने वंशी-ध्वनि का गोपियों पर जो प्रभाव दिखाया है वह हास्यास्पद हो गया है।[1]

दानलीला के सीमित-कथा-वृत में कई कवियों ने मनोहर प्रकरणों की अवतारणा की है। माधुरीदास की राधा जब कृष्ण के पास पहुँचती है तो उन्हें चीर-हरण की याद दिलाकर ही सम्भाषण शुरू करती है। यह बड़ा मनोवैज्ञानिक है। दो परिचितों के मिलने पर कभी-कभी कोई बड़ी बात नहीं मिलती है तो अत्यंत छोटी बात से ही बातचीत शुरू की जाती है। यह भी होता है कि दो अंतरंग हृदयों के मिलने पर पीछे की अनेक छोटी-बड़ी, कटु-मधु स्मृतियाँ सजग हो जाती हैं और वार्तालाप के क्रम में अनेक अप्रयोज्य होने पर भी जिसको याद आती है वह व्यक्त कर ही देना चाहता है। दूसरी बात यह है कि माधुरीदास ने वर्षा ऋतु में राधा को कृष्ण के पास भेजा है। वर्षा ऋतु के नारियों के लिए उद्दीपन काल होने के कारण यह स्वाभाविक है। आनंद की 'दानलीला' में भी ऐसे ही चमत्कारी प्रसंगों की योजना है। जिस दिन कृष्ण ने गोपबालकों के साथ गोपियों का दधि लूटने का निश्चय किया उस रात किसी ग्वाल-बाल को नींद नहीं आयी। वे सब सवेरे ही कृष्ण के पास गये जब वे सोये ही हुए थे। उत्सुकता में नींद न आना और उसकी अतिशयता के कारण निर्धारित समय के पूर्व पहुँचना बिलकुल स्वाभाविक और मनोविज्ञान-सम्मत है। दान लेने का प्रकरण सबसे अधिक स्वाभाविक और युक्तिपूर्ण गिरिजेंद्र मे है। अन्यत्र कृष्ण ने सँकरी गली में गोपियों को घेरा है, वहाँ बिलकुल उच्छृंखलता है। गिरिजेंद्र के कृष्ण घाट पर यमुना पार उतरने के समय दान की मांग करते है कृष्ण अपने को घटबार बताते हैं, अतः घटबार का दान लेना सर्वथा न्याय्य है। फिर कहीं गोपियाँ दीन बचनों से पार उतार देने के लिए बाध्य न कर दे, इसलिए कृष्ण का सखा नाव को छिपा देता है। नाव को नहीं पाकर गोपियाँ शीघ्र ही आत्मार्पण कर देती हैं।

विभिन्न 'दानलीला' में कृष्ण और गोपी भिन्न-भिन्न रूपों में उपस्थित हैं। सर्वाधिक शालीन कृष्ण गिरिजेंद्र के ही हैं वे घटवार होने के नाते उनसे दधि-दान पाने का अपना अधिकार बताते ही हैं, उन्हें बलपूर्वक वश में करने का प्रयत्न न कर उनके रूप-गुण की प्रसंशा कर उनके मन को भी मोह लेते हैं। वे जानते हैं कि अपने रूप की प्रसंशा सुन कर सुंदरियाँ शीघ्र ही मुग्ध हो जाती हैं, अतएव वे

---

१. कोई चीर त्यागे चली नद्न बाला।
वजै प्रेम वंशी भली चित्र साला।
कोउ मौन छाड़े न बालक निहारे।
ठगी सी तकै वे कदंबन की डारें।
कोई लोटे भूपर गिरे हैं अधीरा।
फिरै कुंज कानन न जानै सरीरा।
भई मान होनी सबै ब्रज की नारी।
धरे ध्यान वंशी लगी तान भारी।
—दानलीला, रामदस

उनके आपादमस्तक सौंदर्य का वर्णन कर जाते हैं।[1] इस तरह से मुग्ध गोपियों को वे औघट घाट, यमुना की गहराई, वन की निर्जनता, वन्य पशुओं की भयंकरता और सबसे अधिक उनके अकेलेपन का भय दिखाकर उन्हें समर्पण करने के लिए बाध्य कर देते हैं। आनंद और श्यामलाल की 'दानलीला' में कोई आध्यात्मिक उद्देश्य नहीं होने के कारण इनके कृष्ण सम्पूर्णतः मनुष्य हैं और इस रूप में भी गम्भीर न होकर छिछले और मर्यादाशील न होकर अशिष्ट हैं। श्यामलाल के कृष्ण तो बिलकुल हुल्लड़बाज है जिससे उनकी 'दानलीला' हुल्लड़बाजी हो गयी है।[2] आनंद के कृष्ण निस्संदेह श्यामलाल के हुल्लड़बाज कृष्ण से बहुत ऊँचे हैं। वे एक ही स्थान पर थोड़ा हलके हुए है। जब गोपियाँ उन्हें दान लेने का अधिकारी नहीं मानतीं तो वे कहते हैं कि मैं तो तुम्हारा 'खस्म' हूँ, पति-पुत्र को दिया हुआ व्यर्थ नहीं जाता।[3]

इसी तरह इन विभिन्न दानलीलाओं में गोपियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं। गिरिजेंद्र की गोपियाँ सबसे अधिक भोली है। इसीलिए यहाँ कृष्ण को बल-प्रयोग की आवश्यकता नही हुई है। भय और प्रशसा से गोपियाँ हर्षपूर्वक आत्म समर्पण कर देती हैं। जब कृष्ण दान पाने का अपना अधिकार गोपियों के समक्ष सिद्ध कर देते हैं तो गोपियाँ अपना कंगन उतार कर उन्हे देती है। वे भोली बालाएँ क्या जानती हैं कि कृष्ण को सोने का दान नही चाहिए जिससे न तन संतुष्ट होता है और न मन ! उन्हें तो तन को संतुष्ट करने के लिए गोरस और मन को सतुष्ट करने के लिए तन-सुरस अपेक्षित है ! सीधी गोपियों को कृष्ण बहुत देर के बाद यह समझा पाये। कुम्भनदास की गोपियाँ अपेक्षाकृत प्रगल्भा

---

१. दही गोरस कौन पुछे देखु अभारन आपनो।
लाल हीरा जरत कंचन मन मानीक मोती घनो
कत मोंतिन मांग वीराजै कत पाऐन नेपुर छाजै
कत कंठ रतन के माला हीरा मोंती गुथे नंद लाला
वाजुवंद कंगन भल सोहे नकवेसर तै जग मोहै
सीर वेनी गुथे वहु भानी ताही लागु रतन की पाती
मन मानीक कंगन डोलै मधुरी कटी कीकीनी बोले
कत पाट पटंबर पीन्हे कत खोड़स मुखन कीन्हें
—दानलीला, गिरिजेंद्र

२. मधुवन के बीच जात ग्वालन भटकी।
सब दूध दही खायो फोर डारी मटकी।
नथ वुलरी तोर डारी फार डारी चोली।
ऐसो चवाई छैल करै मोसैं ठठोली।
मैं बड़ी गम खाई मुख माहीं बोली।
आई मसा के छूट लूट भई अमोली।—दानलीला, श्यामलाल

३. सुनो सखी ब्रजबाल कहा मोय भिक्षुक जानो।
मैं हूं तुमरो खस्म यही निश्चय कर मानो।
—दानलीला, आनंद

हैं। जब कृष्ण अपने को साक्षात् परब्रह्म परमेश्वर बताते हैं तो गोपियाँ उनकी माखन-चोरी आदि लीलाओं का खूब मखौल उड़ाती हैं और कहती हैं कि अगर ब्रह्म हो तो यह सब क्यों करते हो। इस पर कृष्ण अपनी लीलाओं का प्रयोजन समझाते हैं। तब भी गोपियाँ हार नहीं मानतीं। वे कहती हैं कि जब तुम ऐसे हो तो अपने माता-पिता को बंदीगृह से मुक्त क्यों नहीं करते। किंतु अंततः गोपियाँ हार मानती हैं।

इसी तरह सर्वत्र गोपियाँ अंत में झुक गयी हैं। केवल आनंद की गोपियाँ आद्यंत एक समान निर्भीक और अहंवादिनी हैं। वे गोपाल को भीख दे सकती हैं, दान कैसे देंगी! यह उनका प्राप्य नहीं; क्योंकि गोपियाँ उन्हें अधिपति मानने के लिए तैयार नहीं।[1] यही नहीं, गोपियाँ उनके सारे गुणों (अवगुणों) को जानती हैं। अगर कृष्ण सीधी बात नहीं मानेंगे तो वे उनके कारनामों को खोल कर रख देंगी।[2] यहाँ तक कि गोपियाँ कृष्ण को गाली भी देती हैं, कंस को नंद कहती हैं।[3] इस तरह आनंद की गोपियाँ बिलकुल निडर हैं; वे लूटी जाती हैं पर डरकर समर्पण नहीं करतीं। लूटी जाने पर भी वे दृढ़ हैं और यशोदा से कृष्ण को बँधवाकर बदला लेने की धमकी देती हैं। कृष्ण भी उन्हें दिन में लूटने और रात में चोरी करने की धमकी देते हैं। अन्य दानलीलाओं में गोपियाँ अंत में कृष्ण के अलौकिकत्व से प्रभावित हो जाती हैं लेकिन आनंद की गोपियों के साथ ऐसी बात नहीं, यद्यपि कृष्ण अपना ब्रह्मत्व प्रदर्शित करने से यहाँ भी बाज नहीं आये हैं।

सब का कथा-वृत्त लघु और वर्णन क्षिप्र है, अतः न तो सर्गीकरण की आवश्यकता प्रतीत हुई है और न वर्णन-संकेत देने की। आनंद-कृत 'दानलीला' के दीर्घतर और इसके कथा-विन्यास के सुनियोजन के कारण यहाँ कथा के मध्य यथा-स्थान वर्णन-संकेत दिये गये हैं। सब का चरमोत्कर्ष अंत में ही आया है। आनंद की 'दानलीला' के अतिरिक्त सब की कथा का चरम लक्ष्य राधा-कृष्ण का मिलन ही है। आनंद का साधारण उद्देश्य है गोपियों का दही लूट लेना। यहाँ न तो आध्यात्मिकता का आग्रह है और न कृष्ण की काम-चेष्टाओं का वर्णन करना ही अभीष्ट है। यही कारण है कि काव्य-कला से शून्य होने पर भी पुस्तक में रोचकता की कमी नहीं है।

---

१. गोपी बोली श्यामघन सुनो सांच यह बात।
छुधा लगी तौ भीष लेव काहे कहत जगात ॥२८॥
—दानलीला आनंद

२. आओ मानो श्याम घन मारग रोको मांहु।
मांहीं गुण अब बोलिहैं तुम्हरो सब या ठांहु।
—दानलीला, आनंद।

३. तेरी अब हम नंद घर जाकें करें पुकार।
जाके करें पुकार नंद को ढीठ कन्हैया।
मथुरा को जो पंथ तहां को भयो लुटैया।
नंदराय के सहित तुमे तहां पकड़ मंगावें।
तोकों देके दान बहुत हम तहां रिझावें ॥४५॥
—वही

इसकी वस्तु-योजना भी सुचिंतित है जबकि अन्य दानलीलाओं में वस्तु-संघटन का अभाव है।

आनंद को छोड़कर अन्य सभी दानलीलाओं का अंगी रस सम्भोग शृंगार है, किंतु रस-विधान में अंतर है। कुम्भनदास, रामदन और श्यामलाल की 'दान-लीला' में कृष्ण आश्रय हैं और राधा आलम्बन। इनमें राधा अन्य गोपियों के साथ दधि बेचने जाती है। कृष्ण इसकी सूचना पाकर गोप-बालाओं को घेरते हैं। वहीं राधा मिल जाती है और राधा-कृष्ण का मिलन संघटित होता है। परमानंददास, उदय, गिरिजेंद्र और माधुरीदास की 'दानलीला' में राधा ही आश्रय है, कृष्ण आलम्बन हैं। माधुरीदास की राधा तो स्पष्टतः अभिसारिका है। वर्षा ऋतु में एक दिन वह बन-ठन कर बन को जाती है और राह में कृष्ण मिल जाते हैं।[1] यहाँ संकेत-स्थल का उल्लेख नहीं है और कृष्ण उसे अप्रत्याशित रूप से मिल जाते हैं। इससे उसके अभिसारिका न होने की शंका की जा सकती है। परंतु उसके साज-शृंगार को देखकर तथा उसके वन-प्रयाण का कोई अन्य प्रयोजन नहीं होने के कारण उसे अभिसारिका ही कहा जायगा। परमानंददास, उदय और गिरिजेंद्र में पहले राधा और अन्य गोपियों के मन में ही कृष्ण-मिलन की इच्छा उत्पन्न होती है, यह पहले सोद्धरण दिखाया जा चुका है। इनमें परमानंददास[2] और माधुरीदास[3] ने सम्भोग शृंगार का पूर्ण परिपाक किया है, अन्यत्र संकेतित कर छोड़ दिया गया है। माधुरी-

---

१. बरषा रितु बरसानें ते चली हैं विचित्र गति वृषभान नंदिनी बनी बन कों।
सांकरी खोरि तहा बैठे चित चोर हरिण से नेनां हरि के मन हरिन को।
सरस सुबार सार हार गज मोतिनु के किये हैं सिंगार तन बरन बरन कों।
चंचल चपल चपला के भ्रम चोंक परें चाहि चकचोंधी लागी मोहन के
मन कों।३।
—दानलीला, माधुरीदास

२. हरि बोले सारंग बानि सुंदरी मानि रति रस ह्वै रहे।
करि केलि कुंजनि लोल कीन्ही सहस रंग रस भरि रहे।
करहिं क्रीडा मदन मोहन कमल लोचन राजही।
दास परमानंद सोभा सुनत कलिमल भाजही।
—दानलीला, परमानंददास

३. प्रेम बस जानि प्यारी नवल किसोरी गोरी कर गहि ल्याए कुंज माधुरी नल में।
विविध सरोजनि की सेज रुचि रचि राखी त्रिविध बहुन सुष सीतल पवन में।
अंग अंग गोरी को सरस रस अति गोरस तें मथि रस लीनों मृदु माषन कवन में।
सखनि सों कह्यो तुम सुमन सुगंध ल्यावो आप रस बस भयो रस रसिक
रवन में।३२।
—दानलीला, माधुरीदास

दास की सम्भोग-शृंगार-योजना सर्वविध पूर्ण है। इसमें अनुभावों की भी बड़ी सजीव योजना हुई है।[1]

इनमें से अलंकरण रामदत्त और माधुरीदास में ही है। रामदत्त ने तो उत्प्रेक्षा की झड़ी लगा दी है।[2] माधुरीदास ने उदाहरण,[3] रूपक,[4] आदि की योजना की है।

माधुरीदास ने दोहा, सोरठा और कवित्त, रामदत्त ने दोहा और भुजंगप्रयात, आनंद ने सोरठा, दोहा, कवित्त और कुंडलिया, गिरिजेंद्र और परमानंददास ने दोहा और चौपाई, उदय और कुम्भनदास ने दोहा-रोला का मिश्रित छंद तथा श्यामलाल ने दोहा और शेर का प्रयोग किया है। इनमें गिरिजेंद्र, परमानंददास, उदय और कुम्भनदास की छंद-योजना ही प्रबंध के अनुकूल है।

इनमें से सभी की भाषा ब्रजी है। परमानंददास, कुम्भनदास, रामदत्त और माधुरीदास की भाषा परिनिष्ठित है। कुम्भनदास की भाषा में एक-आध स्थान पर

---

१. प्यारे के परस होत उपज्यो गरम रस गवपथु प्रस्वेद आंग ढरक्यो।
हरप सों फूल्यो मन तरकि कंचुकी तनी चषन चलत सिंगार हार सरक्यो।
कंकन किंकनी कटि नीवीली सिथल भई लोचन कपोल उर वाम भुज फरक्यो।
चिबुक उठाइ कर कुंचे तब कीनो मुख धीर जन होत धर धर हियो धरक्यो।२१।
—दानलीला, माधुरीदास

२. जबै प्रात भो कान्ह जसुधा जगाये।
सब गोप गोपी मनो द्रव्य पाये।
मंजन किये ध्यान पूजा मुरारी।
वागेश जे अंग औ चारु भारी।
धरे मोह को मुकुट आनंद कंदा।
भली भांति राजे मनो कोटि चंदा।
भली भाँति केशरि तिलक भाल राजे।
कहूँ लाल पेरी सो लीकैं विराजैं।
श्रवण लोल कुंडल विराजे सो रूरे।
मनो जुग दिवाकर सबै भाँति पूरे।
अधर बिंब दाडिम दशन बीच सोहै।
हंसनि लेत मोलै कते काम मोहै।
—दानलीला, रामदत्त

३. दुलहनि दुलह के फूल के बिलास कछु वास लैलें जीवत हैं जैसे मधुमखिया।
—दानलीला, माधुरीदास

४. ऐसो दान बार बार मागत विधाता जू पै केलि सिंधु माधुरी में कीजो जल कणीयां।
—वही

ग्राम्य प्रयोग मिलते हैं ।[1] निम्नोक्त उद्धरण में उन्होंने नारियों के लिये 'गे' सम्बोधन का प्रयोग किया है । श्यामलाल ने दोहे की भाषा परिनिष्ठित ब्रजी रखी है लेकिन शेर की भाषा फूहड़ और खड़ी बोली की ओर झुकी हुई है ।[2] आनंद और गिरिजेंद्र की भाषा बड़ी हलकी है । आनंद में तो ग्राम्य शब्दों और मुहावरों की भरमार है । 'रुकैया' (छंद १४) 'गुपयन' (छंद १५) 'छैल चिकनियाँ' (छंद १८) 'भूत चढ़ना' (छंद २०) 'राड़ मचाना' (छंद २३) 'शपथ के लिए 'सप्त' (छंद ५३) 'रुई कान से काढ़ कर सुनना' (छंद १५) जैसे प्रयोग भरे पड़े हैं ।

सुदामा-विषयक

सुदामा की कथा मध्य युग की सर्वाधिक लोकप्रिय कथा है । कारण, इसमें तत्युगीन पीड़ित लोक समुदाय के लिए अटूट आशा भरी हुई थी । समग्र कृष्ण भक्ति काव्य में केवल यही एक परम्परा है जिसमें तत्कालीन जन-जीवन का स्पंदन सुनने को मिल पाता है । सुदामा की दीनता युग की दीनता थी, सुदामा के रूप में मानो युग ही अपना सारा अवसाद लेकर भगवान् के घर पहुँचा था । सुदामा मध्यकालीन त्रस्त जन समुदाय की पीड़ा के मूर्त्त विग्रह थे जिन्हें अशरण शरण, अनाथों के नाथ, दयानिधान भगवान् ने पल भर में उल्लास की प्रतिमूर्ति बना दी । दीनबंधु की इस कृपा में युग ने अपना त्रास देखा था, सुदामा के सत्कार से उसे आश्वासन मिला था, भगवान् की मधुर वाणी में उसे अनंत आशा दिखी थी । कृष्ण के लोकपालक रूप का चरमोत्कर्ष इसी आख्यान में है । उनकी सारी लोकरंजक लीलाएँ इस एक से हलकी हैं । यही कारण है कि इस प्रसंग ने खंडकाव्यकारों को जितना आकृष्ट किया है उतना किसी भी अन्य प्रसंग ने नहीं किया । इस प्रसंग की व्यापकता केवल खंड-काव्य तक ही सीमित नहीं रही । इस पर प्रबंध कविता भी लिखी गयी और गेय मुक्तक पद भी लिखे गये ।

सुदामा-विषयक सारे खंडकाव्य अपनी विधा के उत्तम उदाहरण हैं । इनमें प्रबंधत्व का उचित निर्वाह दीख पड़ता है और मार्मिक प्रकरणों की अवतारणा से इनका प्रबंध-सौष्ठव पुष्ट किया गया है । गोपाल कवि ने तो सुदामा की दीनता का भी कारण कृष्ण को ही ठहराया है, सुदामा जन्मना निर्धन नहीं थे । गुरु के घर पढ़ते हुए सुदामा एक दिन गुरु-पत्नी द्वारा दिया हुआ सारा चना खा गये । कृष्ण को जब यह बात मालूम हुई, तो उन्होंने कहा कि क्या तुम दरिद्र हो कि तुमने ऐसा किया ! उसी दिन से सुदामा की दशा दीन हो गयी । इस प्रकरण का अन्य खंड-काव्यों में भी उल्लेख है लेकिन वहाँ इसे सुदामा के द्वारका जाने पर कृष्ण द्वारा याद

---

१. तू कहा नारि गे बोलि काहा मोको समुझावै ।

—दानलीला, कुम्भनदास

२. ठानों न रार मग में कही मानों मेरी ।
ग्वालन न मार दान देत मत कर देरी ।
यह श्याम दानलीला रचकर सुना दी ।
सब याद करो चित में यह बात दी ।

—दानलीला, श्यामलाल

कराया गया है। उस प्रकरण को सुदामा की धनहीनता का कारण बताने में कवि की सूझ स्पष्ट है। सर्वत्र सुदामा की दरिद्रता को मानकर कवि चला है। हलधर-दास ने उनकी दीनता का विस्तृत वर्णन किया है, वे केवल सूचना देकर ही नहीं रह गये हैं। वीर कवि के ही सुदामा गरीबी से पहले ऊबे हैं, गोपाल, वंशमणि, नरोत्तम, हलधर आदि में ब्राह्मणी ही गरीबी से ऊबी मालूम पड़ती है। सुदामा-पत्नी का ऊबना ही अधिक स्वाभाविक है। इस प्रकरण के वर्णन में वंशमणि जितने स्वाभाविक हैं, नरोत्तम उतने ही अस्वाभाविक। वंशमणि में चतुर्मास आने पर एक दिन ब्राह्मणी सुदामा से धन प्राप्त करने का अनुरोध करती है। यह बड़ा स्वाभाविक है। जिन्हें न रहने के लिये घर और न खाने के लिए अन्न है, उनके लिए वर्षा ऋतु बड़ी दुःखदायिनी होती है। अतएव ऐसे समय में ब्राह्मणी को अपनी दीनता खलना सर्वथा स्वाभाविक है। इसके विपरीत नरोत्तम की ब्राह्मणी एक दिन अपने पति से यह सुनकर कि द्वारका के राजा कृष्ण उनके मित्र हैं, सुदामा से उनके पास जाने का अनुरोध करने लगती है। हलधर ने इस प्रसंग में कुछ नया ही चमत्कार दिखाया है। यहाँ ब्राह्मणी को यह अच्छा नहीं लगता कि सुदामा के दिन भिक्षाटन में बीतें, वह उनसे उद्यम करने का अनुरोध करती है।

द्वारका के लिए प्रस्थान करने पर गोपाल और वंशमणि के सुदामा को शुभ शकुन होते हैं जिनसे उनके मन में आशा बँधती है। यही नहीं, सुदामा के प्रस्थान करते ही कृष्ण को भी उनका आगमन ज्ञात हो जाता है। वंशमणि में सुदामा के कृष्ण के महल के निकट पहुँचने पर कृष्ण का दाहिना अंग फड़कने लगता है जिससे वे मित्र के आगमन का अनुमान करते हैं। यह अपेक्षाकृत अधिक स्वाभाविक है। हलधर के अतिरिक्त सबने सुदामा के द्वारा चावल की भेंट दिलवायी है, भेंट में चावल ले जाने की प्रथा नहीं है। हलधरदास ने फरुही की भेंट दिलवाकर इसे स्वाभाविक बना दिया है। ग्रामवासी आज भी अपने सम्बन्धियों के यहाँ जाने पर फरुही की भेंट ले जाते हैं। घर से द्वारका पहुँचने तक का वर्णन किसी ने नहीं किया है। हलधर, वीर, वंशमणि और गोपाल ने एकाएक सुदामा को द्वारका में ला खड़ा किया है। नरोत्तमदास के सुदामा रात में एक स्थान पर विश्राम करते हैं और प्रातःकाल उगने पर अपने को गोमती के तीर पर पाते हैं। कृष्ण के महल के द्वार पर द्वारपाल से सुदामा को जो पाला पड़ा है उस अवसर को सबने विशेष रूप से पकड़ा है। गोपाल और नरोत्तमदास ने प्रहरी की नृशंसता सामने नहीं लायी है। गोपाल का प्रहरी तटस्थ है। सुदामा के उसके पास पहुँचने पर बिना कुछ आनाकानी किये उनका संदेश लेकर कृष्ण के पास जाने के लिए तैयार हो जाता है। नरोत्तम का प्रहरी बड़ा विनम्र है। वह सुदामा को देख कर पहले ही उनका परिचय पूछता है और कृष्ण से जाकर कहता है। यही नहीं, नरोत्तम ने भगवान् के नगर के अन्य नागरिकों को भी बड़ा विनीत दिखाया है। सुदामा को देखकर उन्हें ब्राह्मण जानकर वे उनका पैर पकड़ लेते हैं और अत्यन्त मधुर वाणी में पूछते हैं कि आपका कैसे आना हुआ तथा वे ही लोग उन्हें कृष्ण के महल तक ले जाते हैं। वंशमणि वीर और हलधर का प्रहरी बड़ा अशिष्ट है। इनमें सबसे अधिक धृष्ट है वंशमणि का

द्वारपाल। कृष्ण के महल के निकट उसकी भव्यता से आतंकित सुदामा को वह पकड़ लेता है और यमदूत, चोर, आदि कहकर उनका बड़ा अपमान करता है। और कवि का द्वारपाल भी सुदामा को देखकर उनका बड़ा उपहास करता है। इन दोनों ने कृष्ण के प्रहरियों को स्वकालीन सरकारी सिपाहियों का प्रतिनिधि बना दिया है। हलधर के द्वारपाल का आचरण सबसे अधिक स्वाभाविक है। सुदामा को देखकर उसको दया आती है और जब सुदामा कृष्ण को अपना मित्र बताते हैं तो उसे हँसी आती है।

सुदामा को कृष्ण के महल में पहुँच कर भेंट में चावल लाने की बात कैसी लगी होगी, इसके अनुमान मात्र से अजीब कल्पनाएँ भर जाती हैं। इस स्थल पर सबका कवित्व अलौकिकता से दब गया है। गोपाल, वंशमणि और नरोत्तम के कृष्ण सुदामा के द्वारा चावल लाये जाने की बात जानकर उनसे चावल की पोटली छीन लेते हैं और उसमें से दो मुट्ठी लेकर फांक लेते हैं, तीसरी मुट्ठी फांकते समय रुक्मिणी उनका हाथ पकड़ लेती है। इस मनोहर प्रकरण को हलधरदास ने ही समझा है। केवल इसी स्थल को देखकर यह अनुमान हो जाता है कि हलधरदास सभी सुदामा-चरित्रकारों में अन्यतम थे। उन्हें मानव-प्रकृति की कितनी सूझ थी, इसका पता भी यही चल जाता है। यद्यपि हलधरदास का भक्त कवि यह कहे बिना नहीं रह सका कि भगवान् कृष्ण अंतर्यामी है तथापि इस प्रसंग का चित्रण उन्होंने बिल्कुल स्वाभाविक ढग पर किया है। कृष्ण यहाँ सन्देश छीनते नहीं बल्कि सखी का कुशल पूछते हुए यह भी पूछते हैं कि उसने कुछ संदेश भी भेजा है या नहीं।[1] इस मार्मिक स्थल पर कवि जम गया है। देर तक सन्देश के विषय में सुदामा और कृष्ण में बातें होती है और कृष्ण सुदामा से यह स्वीकार करा ही लेते हैं कि तुच्छ भेंट को संकोच के कारण ही वे आगे नहीं रख रहे हैं। स्वीकार कर लेने पर भी संकोच जब सुदामा को घेरे ही रहता है तो कृष्ण उनके कांख से फरुही की पोटली ले लेते हैं। कृष्ण जब फरुही फांकने लगते है तो सुदामा की दशा विचित्र हो जाती है। वे डरने लगते हैं कि सदा अमृत खाने वाले भगवान् को फरुही खाने से कुछ हो गया तो मैं कहीं का न रहूँगा। ऐसा सोचने पर उनकी आत्मा थर-थर कांपने लगती है और वे

१. सब घट के वे श्री गोपाल अंतरजामी हैं।
मित्र दीन ते सुमुख होई पूछत स्वामी हैं।
कहो मित्र गृह समाचार मम सखी कुशल हैं।
ज्यों पतिव्रत सर ताल-मध्य में दिव्य कमल हैं॥
द्वारावती जब ते बसे तब ते हम आशा रखी।
कहो मित्र संकोच कस कछु संदेश भेज्यो सखी। १५६ अंक

—सुदामा-चरित, हलधरदास,

अपने को खूब कोसते हैं।[1] इस पर कृष्ण-सुदामा को आश्वस्त करते हैं कि यह तो उन्हें अमृत से भी मीठा लगा है और उनके जन्म-जन्मांतर की भूख आज मिट गयी है। अन्यत्र तीसरी मुट्ठी खाने से रोकने पर कृष्ण चुप रह जाते हैं लेकिन यहाँ कृष्ण कहते हैं कि तुमने अपूर्व स्वाद में व्याघात उपस्थित कर दिया।[2] इस प्रसंग का जैसा स्वाभाविक वर्णन यहाँ हुआ, वह अन्यत्र दुर्लभ है।

इसके बाद सुदामा को सम्पत्ति-दान का प्रसंग भी ऐसा ही मार्मिक है। यहाँ भी हलधर ही सबसे बाजी मार ले गये हैं। गोपाल और नरोत्तम ने यह चर्चा ही नहीं की है कि कृष्ण ने सुदामा को कैसे सम्पत्ति दी। यहाँ अलौकिकता का चरम रूप है। वीर कवि ने यह दिखाया है कि कृष्ण के चावल मुंह में रखते ही समृद्धि दौड़कर सुदामा के घर चली गयी। वंशमणि और हलधर में यह दिखाया गया है कि किस तरह भगवान् ने सुदामा को अतुल सम्पत्ति दी। वंशमणि में कृष्ण विश्वकर्मा को बुलाकर कहते हैं कि सुदामा का महल तैयार कर उसे समृद्धि से भर दो। विश्वकर्मा रात में जाकर वैसा कर देता है, ब्राह्मणी यह जान भी नहीं पाती है। हलधर के कृष्ण विश्वकर्मा के साथ स्वयं जाते हैं। वे वहाँ जाकर ब्राह्मणी को दर्शन देते हैं और अपने सामने सुदामा का महल तैयार कराकर, उसे सम्पति से भरवाकर लौट आते हैं। हलधर की इस योजना में उनकी सूझ स्पष्ट है।

गोपाल, वंशमणि और हलधर के सुदामा दूसरे ही दिन विदा लेते हैं लेकिन वीर और नरोत्तम के सुदामा सात दिनों तक वहाँ ठहर जाते हैं। वीर के सुदामा कृष्ण के ही घर एक रात यह सोचने लगते है कि कृष्ण ने सत्कार तो इतना किया किंतु देने का कभी कुछ नाम नही लिया। वीर के कृष्ण ने सुदामा की बड़ी भद्दी विदाई दी है। सुदामा को जो उन्होंने रेशमी वस्त्र पहनने के लिए दिये थे, उसे जाते समय उतरवा लेते हैं और पुनः उनके फटे-पुराने कपड़े पहना देते हैं। इसे विनोद कह कर नहीं टाला जा सकता। इसके विपरीत गोपाल के कृष्ण सुदामा को विदा देते समय सुन्दर वस्त्र भेंट करते है। विदाई का यही स्वाभाविक और उचित रूप है। वंशमणि के कृष्ण ने सुदामा को भव्य मानवी विदाई दी है। वे अपनी सभी रानियों और उनकी सभी सहेलियों के साथ नगर के बाहर तक सुदामा को पहुँचाते हैं। इनमें से किसी ने यह नहीं दिखाया है कि सुदामा के द्वारा विदा

१. मुख समीप जब श्री गोपाल मुठिका लायौ हैं।
निरखि दीन के जीव मांह तब डर आयौ हैं।
लगे कहन जो कोउ दुष्टनी कंट सरन है।
तौ नृप सज्जन दंत खोदबे कंट न चाहै।
औ चाबत यह बाहुरी तनक दंत पीड़ा करै।
तौ नृप हो मम दंत पर सब करते पाहन परै।१६६।
—सुदामा चरित्र, हलधरदास,

२. हटकि रहैं हरि हंस हंसनि कहा करी है।
सुभग स्वाद में कहा कंतनी बांह धरी है।१७३।
—वही,

माँगने पर कृष्ण ने एक बार भी रुकने का आग्रह किया हो। मित्रों और सम्बन्धियों को आसानी से विदा नहीं मिल जाती। उन्हें पर्याप्त अनुनय-विनय करनी पड़ती है और तब कहीं जाकर अनिच्छा से ही उनका आग्रह स्वीकार होता है। हलधर के कृष्ण ऐसे ही आग्रही मित्र हैं। सुदामा जब विदा का नाम लेते हैं तो उन्हें बड़ा कष्ट होता है।[1]

कृष्ण से विदा लेकर सुदामा चल पड़ते हैं। राह में चलते हुए उनके मनोभावों के वर्णन करने का अवसर सभी कवियों ने निकाला है। जितनी बड़ी आशा लेकर और जैसी जगह पर सुदामा गये थे, वहाँ से लौटने पर उनके मन की प्रतिक्रिया जानने की जिज्ञासा बिलकुल स्वाभाविक है। गोपाल और नरोत्तम के सुदामा खीझते हुए लौटते हैं। नरोत्तम के सुदामा तो इतने क्रुद्ध होते हैं कि वे शाप देने की भी बात सोच जाते है।[2] वंशमणि, वीर और हलधर के सुदामा इतने तुनुकमिजाजी नही हैं। वंशमणि के सुदामा द्वारका की अपूर्व शोभा से अभिभूत उसी के विषय मे सोचते हुए राह चलते है। वीर के सुदामा पहले तो पछताते हैं कि कृष्ण ने कुछ नही दिया किन्तु फिर सन्तोष करते है कि अच्छा हुआ कि धन नहीं दिया।[3] इस तरह वीर मे खट्टे अंगूर कौन खाये वाली कहावत चरितार्थ होती है। हलधर ने इस प्रसंग को कुछ और ही चमत्कारी बनाया है। सुदामा को जो सम्मान कृष्ण ने दिया वह उनके लिए सर्वथा अप्रत्याशित था। जिस सुदामा को कृष्ण के दर्शन तक होने में शंका थी उससे कृष्ण गले मिले, अपने साथ सिंहासन पर बैठाया, रानियों से पैर धुलवाया, उसकी दी हुई फरुही खायी, उसे प्रभूत प्रतिष्ठा और अनंत आत्मीयता प्रदान की। सुदामा तो इस स्नेह-भार से दब गये, वे तो कृष्ण की इस अपूर्व प्रीति और अत्यन्त विनम्रता के अतिरिक्त कुछ सोच ही नहीं पाते।[4] यही भाव स्वाभा-

---

१. भरे दृगन्ह जल कह्यौ नाथ हो मित्र महा से।
कहा भाखियत बिरह बैन मम हृदय उदा से।
उदासीन हम सदा काल्हई ते सचु पाई।
आजु से पुनि प्रभु उदासीन की बचन सुनाई।
आधीनहिं प्रतिमानहि नही प्रभु उत्तर दे हठ परें।
प्रभु आये सामर्थ हो मन भावै सोई करें।२४१।

—सुदामाचरित, हलधरदास,

२. बालापन के मित्र हैं, कहा देऊं मैं साप।
जैसो हरि हमको दियौ, तैसौ पइहैं आप।

—सुदामा चरित्र, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र ५५,

३. ऐसे विविध विचार सो फिरि बहु आयो ज्ञान।
भली भई जो ना दई दौलत श्री भगवान।

—सुदामा चरित्र, वीर वाजपेयी, पृ० ८२,

४. कहत आपु सन जाहिं धन्य श्रीकृष्ण गोसांई।
नृपति भए पर प्रीति पाछली भली बुझाई।

विक है। क्रोध तो अपने बराबर वाले व्यक्ति से इच्छित वस्तु नहीं पाने पर होता है। और, सुदामा को तो कृष्ण ने कल्पनातीत सम्मान दिया था, वे भला उनकी कृपा को न सोचकर दूसरी बात कैसे सोचते। इस मनोभाव को कोई अन्य सुदामा-चरित्रकार नहीं पकड़ सके।

हलधर के सुदामा तो इतने गद-गद होते हैं कि वे सोचते हैं. ऐसे हितैषी मित्र से मिलने में आलस्य करना उचित नहीं और वे निश्चय करते हैं कि कभी-कभी फरुही का सन्देश लेकर मिला करूँगा।[1] मानव-मन की कवि की परख पर मन मुग्ध हो जाता है। जो हो, आखिर सुदामा के दिल में एक छोटी सी आशा भी थी और वह यह कि भगवान् की कृपा से उनके अभाव की कटुता कुछ कम होगी। सुदामा की यह आशा पूरी नहीं हुई। अगर इस पर उनका ध्यान नहीं जाता तो यही अस्वाभाविक होता। किंतु ऐसा सोचकर भी सुदामा इसके लिये कृष्ण को दोषी नहीं ठहराते, वे अपने दुर्दिन को ही दोष देते हैं।[2] इस स्थल पर यह कहना पड़ता है कि हलधरदास की मानव-मन में गहरी पैठ थी और अपनी इस क्षमता में वे हिन्दी के मूर्द्धन्य कवियों से किसी तरह पीछे नहीं हैं।

सुदामा ने अपने गाँव लौटने का प्रसंग भी अपनी मर्मस्पर्शिता में किसी से कम नहीं है। निर्धन सुदामा दो लोकों के राजा बन कर लौटे हैं। तदनुरूप उनका महल तैयार हो गया है और उनका गाँव सुसज्जित राजधानी बन गया है किंतु भग-

---

जैसेइ पृथा प्रसंसेउ ज्ञान बिमल चंपा कली।
तैसइ शील स्वभाव ते देखउ कृष्ण महाबली।२४४।
जैते धन संबूह तेतई शील बड़ाई।
जैते राजमहल मेरु तेते नबताई।
हमते उनतो अधिक प्रेम सौ भाव जनाई।
और कहा जो लघु संदेश फरुही उन पाई।
तैसई ज्ञान बिचच्छनी महाराज की रानियां।
तौ जपि जपि सब बस भए सकल भूत के ज्ञानियां।।२४५।।
—सुदामाचरित्र, हलधरदास,

१. अब न उचित अस मीद के मिलन मांह आलस गहौं।
ले सन्देश कुछ बाहुरी कबहिं-कबहिं आवत रहौं।।२५१।।
—सुदामा चरित्र, हलधरदास

२. जबहिं मीत जस भाषि मीत मन बोध करी है।
तबहिं तदीच्छन दशा आपनी देखि परी है।।
बोले भले नरेष राखउ भली मिताई।
तनिक निठुर होइ रहे नांहि कछु दियौ बिदाई।।
इहौ न उचित जो हम कहें नृपति निठुरताई धरी।।
कहौ-कहौ अबचक तनिक दुर्दिन दशा समुझि परी।।२५२।।
—वही

वह लीला की विचित्रता यह है कि उन्हें इसका कुछ पता नहीं है । ऐसे समय में व्यक्ति की क्या स्थिति होगी, इसकी कल्पना से रोमांच हो जाता है। सुदामा को तो ऐसा मालूम पड़ता है कि घूमकर फिर द्वारिकापुरी में ही वे आ गये । वीर कवि ने दिखाया है कि ऐसा भ्रम होने पर सुदामा को पुनः एक बार कृष्ण के दर्शन कर लेने की इच्छा हुई, किंतु यह सोचकर कि कृष्ण मुझे लालची न समझें, उनके दर्शन का विचार त्याग दिया गोपाल के सुदामा पौरजनों से पूछते हैं कि यह कौन सा नगर है और जब वे उसका नाम सुदामापुरी बताते हैं तो सुदामा खीझ उठते हैं। इसी समय उनकी पत्नी झरोखे पर से उन्हें देख लेती है और उन्हें बुलाकर ले जाती है। वंशमणि की ब्राह्मणी को शुभ शकुन होने लगते हैं और वह सुदामा का आगमन अनुमित कर उनके लिये रथ भेजती है। नरोत्तम के सुदामा को देखते ही पुरवासी दौड़कर आते हैं, उनका चरण-स्पर्श करते हैं और उन्हें उनके महल के पास ले जाते हैं। पर सुदामा तो अपनी टूटी झोंपड़ी खोजते हैं। पौरजन उन्हें समझाते हैं कि यह हरि की कृपा है। इसके बाद ब्राह्मणी अपनी सखियों के साथ उनकी अगवानी करने आती है और कहती है कि हे कांत यही अपना घर है तो सुदामा बिगड़कर कहते है कि मुझे कांत न कहो, मेरी टूटी झोपड़ी और गरीब ब्राह्मणी को दिखाओ।[1] यहाँ यह शंका उत्पन्न होती है कि पौरजनों को यह बात कैसे मालूम हुई कि सुदामा हरि के दरबार से लौट रहे हैं और यह उन्हीं की कृपा से हुआ है। दूसरे, जब पुरवासी सुदामा को यह बता ही देते हैं कि यह सब परिवर्तन हरि कृपा से हुआ है तो इसके बाद ब्राह्मणी के कथन पर सुदामा का शंका करना स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता।

वीर के सुदामा को किसी से पूछने की आवश्यकता नहीं हुई है । वे अपने रोपे हुए पेड़ को देखकर यह समझ जाते हैं कि यह मेरा ही गाँव है। पर ऐसा समझ लेने पर भी जब उनकी पत्नी उन्हें बुलाती है तो उन्हें शंका होती है कि कोई पर-नारि फँसा रही है। जब ब्राह्मणी उनका हाथ पकड़कर उन्हें महल के भीतर ले जाती है तब तो उनकी दशा जाल में फँसी मछली के सदृश हो जाती है।[2] हलधर के सुदामा को अपने गाँव पहुँचकर अपने नाम का डंका बजता हुआ सुनाई पड़ता है, पर उन्हें इस परिवर्तन का रहस्य समझ में नहीं आता। उन्हें अनुमान होता है कि मेरे द्वारका जाने पर किसी राजा ने अपनी राजधानी बसा ली और मेरी झोपड़ी को उजाड़कर मेरी पत्नी को हरण कर लिया। उनके मन में दूसरा विकल्प आता है कि राजा तो

---

१. हमैं कंत तुम जानि कहौ, बोलौ बचन संभारि ।
इहें कुटी मेरी हती, दीन बापुरी नारि ।
—सुदामाचरित्र, हलधरदास

२. अस कहि कस करि द्विजबर थर थर कपत बिपुल डर
फर फर अधर सुफरकत धर धर नर अति धरकत
तरल नयन चिल चितु करि निज तनु रद पट रिस भरि
सजल लखत नहि तिय तन कठिन समय सोइ गुनि मन ।
—सुदामाचरित्र, वीर बाजपेयी, पृ० ११

ब्राह्मणी की हरण जैसी अनीति नहीं कर सकता, हो सकता है कि राजा के शिकार खेलते समय उसके बाण से मेरी पत्नी मर गई। ऐसा सोचकर वे अपनी प्रिया के विरह में अत्यन्त आकुल हो जाते हैं और सभी देवताओं के विषय में एक-एक कर सोच जाते हैं कि किससे सहायता ली जाय। निष्कर्ष रूप में उन्हें ऐसा प्रतीत होता है कि अपनी पत्नी की पुनर्प्राप्ति में उन्हें किसी की भी सहायता सुलभ नहीं हो सकती। ऐसा सोचकर वे बन की राह लेते हैं इसी समय ब्राह्मणी झरोखे से सुदामा को देख लेती है और अनेक सखियों के साथ आकर उनकी अगवानी करती है। सुदामा को परनारी की शंका होती है। उनकी पत्नी भी भ्रम का निराकरण न कर उनके नीति वचनों को तर्क से खंडित करने लगती है जिससे सुदामा का भ्रम देर तक दूर नहीं हो पाता। अंत में ब्राह्मणी जब फरुही देने की बात कहती है तो सुदामा की भ्रांति का आवरण हटता है और वह भगवान् की कृपा के रहस्य को समझ जाते हैं।

वीर और हलधर ने प्रकृति-वर्णन के लिये भी अवसर निकाला है किंतु इन दोनों में से किसी में भी वह कथा का स्वाभाविक अंग नहीं है और उन वर्णनों में स्वाभाविकता का अभाव तो है ही। वीर कवि में तो ऐसा मालूम पड़ता है कि वर्णन को जानबूझ कर बढ़ाने के लिये वैसा किया गया है। यही नहीं, उन्होंने कहीं-कहीं श्रृंगार वर्णन के लिये प्रकृति को साधन बनाया है।[1] ऐसे स्थलों पर प्रकृति की स्वतन्त्र सत्ता नहीं रह गयी है। अन्यत्र कवि ने उसे स्वतन्त्र अस्तित्व दिया है किंतु वहाँ भी उनकी श्रृंगारिक प्रवृत्ति स्पष्ट है। ऐसा मालूम पड़ता है कि वीर कवि को भक्ति की इस पावन कथा में श्रृंगार का कोई अवसर ही नहीं मिला तो उनकी श्रृंगारिक दृष्टि भागकर प्रकृति की शरण गयी है।[2] हलधर ने संध्या[3] और प्रातः

---

१. लता ललित लपटीं तरु कैसे तियहिं सकाम कामिनी जैसे
कुसुमित सर सोहतीं चमेली मनों काम की रति की चेली
जाति जाति बेली वर फूली मन्मथ ऋद्धि सिद्धि सी तूलीं
गुंजत भ्रमर मत्त मधुकरगन मनहुं मनोज भूप बंदीजन
सानुराग कोकिल कल टेरें मनसिज आनि मनहुँ गज फेरें
कूजत पिक अति मधुर सुखारे मानिन मान मिटावन हारे
भाँति भाँति खगगण इमि गावहिं रति पति जय जनु जुगत सुनावहीं
—सुदामाचरित्र, वीर वाजपेयी, पृ० ८४

२. कहूं संग लीन्हों पिकादिक प्रियाको
करें मोद सों चुंबनादिक क्रियाको—
—वही, पृ० १६

३. करत बात तम्बोल पात यक जाम जामिनी।
गई बीत बिरहिन सभीत मैं चक्र कामिनी।
छपे तरनि मधुकरहिं बारिजन पुट गरास किय।
चितवत लगे चकोर चंद कमुदिनि प्रकास किय।
गगन सुभग तारा अलक भूवर घर दीपक वरै।
रोम रोम द्रिग दुहुन कैं स्याम रूप चितवन करै।२११।
—सुदामा चरित, हलधरदास

काल[1] के वर्णन का भी अवसर निकाला है। इनमें स्वाभाविकता का अभाव नहीं किंतु कहीं-कहीं तो केवल सूची प्रस्तुत की है।[2]

हलधर के अतिरिक्त सभी के 'सुदामा चरित्र' पूर्णतः अलौकिक काव्य हो गये हैं। गोपाल, नरोत्तम एवं वीर के 'सुदामा चरित्र' आद्योपांत दिव्यता से पूर्ण है। वंशमणि में एक ही स्थान पर सुदामा द्वारा चावल लाये जाने वाली बात जान लेने के स्थल पर कवि अलौकिकता के सामने झुकने से नहीं बच सका अन्यथा इसमें सर्वत्र मानवत्व का सफल निर्वाह हुआ है। एकमात्र हलधर ही ऐसे कवि हैं जो आदि से अंत तक सफलता के साथ अलौकिकता को बुद्धिसंगत बनाते रहे हैं। इसी से स्पष्ट है कि हलधरदास सभी सुदामा चरित्रकारों से अधिक शक्ति सम्पन्न थे। चरित्र-चित्रण की सूक्ष्मता, स्वाभाविकता और मनोरमता कवि की निजी काव्य-क्षमता पर निर्भर करती है। अतएव सभी सुदामा चरित्रकारों ने सुदामा, कृष्ण, ब्राह्मणी एवं कृष्ण की रानियों को विविध व्यक्तित्व प्रदान किये हैं।

वीर कवि को छोड़कर सबके सुदामा आत्म-संतोषी और हरिचरणों में अनुरक्त हैं। वीर के सुदामा ऐसे नहीं है। वे संसार में धन के महत्व से अवगत हैं और इसीलिए अपनी निर्धनता उन्हें खलती है।[3] यही नहीं, वे तो आजकल के

---

१. रमे रैनि रजनीस सैन लै गये भवन को।
प्रगटे जगत प्रचंड तेज रवि हेम दवन को।
चंचल द्रिगन चकोर चक्क चकई द्रिगराते।
जलज कोस ते उड़े भ्रिंग मधु के मदमाते।
सुक सारिका सुहंस पिक अग्निन रव बानी मनें।
सुभग द्वार सिंधुर घटा घनन घंटा रनें ॥२३८॥
—सुदामाचरित्र, हलधरदास

२. केसरि कुसुम गुलाब केतुकी मालती वेली।
सेवति सुभग नेवार कुंद नागेस चबेली ॥
चंपा करन बवंग वेलि लहरी अपराजित।
जूही मधुर सुगंध राज मुनि पुष्प सुबासित ॥
चंद्रकला श्रीमल्लिका औ बसंत सूरजमुखी।
सबै फूल फूले सुभग भ्रमर जूथ होते सुखी ॥
—वही

३. होत नहीं सम्पति सुमुखि सुनु जाके घर ताके नित शोच के समूह छाइयतु है
सम्पति ते दान सनमान परमान बढ़ै सम्पति ते मान को ठिकानो गाइयतु है
याही काज सम्पति के गाहक प्रवीण होत सम्पति ते सबही के मन भाइयतु है
—सुदामा चरित्र, वीर वाजपेयी, पृ० ४

ब्राह्मणों की तरह चाटुकार भी हैं।[1] द्वारका में कृष्ण के द्वारपाल के साथ उनकी बातचीत से यह बात स्पष्ट है। हलधर के सुदामा तो निर्धन रहना पसंद करेंगे लेकिन विधर्मी होना कभी नहीं चाहेंगे। भिक्षाटन और हरिभजन ही उनका धर्म है, इन्हें छोड़कर धन-संग्रह करना धर्म से विमुख होना है।[2] जब ब्राह्मणी आँखों से आँसू भर कर यह कहती है कि पत्नी के लिये किसने क्या-क्या किया तब जाकर कहीं उन्हें यह समझ में आता है कि उन्हें भी अपनी पत्नी के लिये कुछ करना चाहिए।[3] किंतु पत्नी द्वारा द्वारावती में कृष्ण के पास जाने की बात सुनकर वे कृष्ण की निंदा करना शुरू करते हैं। सच तो यह है कि कृष्ण के पास जाने में संकोच उन्हें रोकता है जिसे छिपाने के लिये वे कृष्ण की निंदा करते हैं। वे सोचते हैं कि द्वारकाधीश की निंदा सुनकर ब्राह्मणी उनके पास भेजने का विचार त्याग देगी। पर ब्राह्मणी उनके सारे तर्कों को काटकर उनके संकोच को पकड़ ही लेती है और उन्हें कृष्ण के पास जाने के लिये बाध्य कर देती है। हलधर के सुदामा भोलापन में सबसे बढ़े चढ़े हैं। द्वारका में कृष्ण के महल के निकट पहुँचकर जब उन्होंने हाथियों, घोड़ों और राजाओं की भीड़ देखी तब उन्हें यह समझमें आने लगा कि पत्नीने जानबूझ कर मरने के लिये मुझे यहाँ भेजा है। भला कौन ऐसा राजा होगा जो फरुही लेकर धन

---

१. आशिष दै दरबान कहँ फिर बोले द्विज बैन
कछु सकात डरते हियो कछु चित उपजत चैन
तेजवंत गुणवंत हौ सुंदर शील निधान
सुरपति से लखिये तुम्हें श्रीपति के दरबान
दयावंत अति देखिये सुंदर सकल सुभाइ
बेगि सुदामा आगमन कहिये हरि सौं जाइ
—सुदामा चरित्र, वीर वाजपेयी, पृ० ३२

२. धन कारन हरिभजन छांडि कै जाउं नृपतिपुर।
सुर पदवी लै शुक्र शुक्र पुनि भयो दैतगुरु ।।
चिंतामणि पद चित चितनो अपर कहा धन।
धन कारण हरि द्वारपाल जलचर बारन तन ।।
धर्म रहे निर्धन रहे धनिक भये नहिं धर्म रहु।
इहे दसा तिय मानि सुख चरण सरण गोविंद गहु ।।२७।।
—सुदामाचरित्र, हलधरदास

३. सुनि विलाप तिय बैन बारि पिय के दृग छाई।
कहेउ सत्य मम भवन भामिनी बसि दुख पाई ।।
विपति दाह में पुर्ष हेम जो धीर भले हैं।
तौं सोहागिनी सोहाग संग मिलि दोउ गले हैं ।।
बिनु धन पिय नहिं सुख लहै बिनु सुख पिय मोषै विपति।
जेहि उपाय ते धन मिलै कहहु सो नारि बिचारि मति ।।३८।।
—सुदामाचरित, हलधरदास

देगा ?[1] हलधर के सुदामा को अपनी सच्चरित्रता पर गौरव है। उन्होंने स्वप्न में भी कुपथ पर पैर नहीं रखा।[2]

नरोत्तम के सुदामा की आत्मतुष्ट हैं किंतु उन्हें ब्राह्मणत्व का दम्भ है। जो सम्पूर्ण संसार को शिक्षा देता है उसे उसकी पत्नी शिक्षा दे, यह सुदामा को सह्य नहीं हो सकता।[3] अपने इसी स्वभाव के कारण कृष्ण के यहाँ से निराश लौटने पर उनको शाप देने की भी बात सोचने लगते हैं। सर्वाधिक असहनशील सुदामा नरोत्तम के ही हैं।

वंशमणि, वीर और हलधर के सुदामा उदात्त चरित्र सम्पन्न हैं। इनमें कृष्ण के पास से लौटते हुए निराश सुदामा कृष्ण को कोसते नहीं। सर्वाधिक सहनशील सुदामा हलधर के हैं। वे मुक्त कंठ से कृष्ण के आतिथ्य की प्रशंसा करते हैं और उनके कुछ नहीं देने का कारण अपने दुर्दिन को ही बताते हैं। हलधर के सुदामा एक स्थान पर बड़ा अस्वाभाविक आचरण करते हैं। उनकी पत्नी भेंट के लिये फरुही तो ले जाती है किंतु उसे बाँधने के लिये उसके पास कपड़ा नहीं है। तब वह अपना अंचल फाड डालती है और उसी में फरुही बाँधती है। यह करुण दृश्य देखकर सुदामा अट्टहास कर उठते हैं।[4] इस हृदय-विदारक दृश्य पर तो उनकी आँखों से आँसू गिरने चाहिए। वीर और हलधर के सुदामा दानी भी हैं। दोनों द्वारका से लौटने पर दान करते हैं। हलधर के सुदामा तो सप्तदीप नौ खंड में सदाव्रत

१. अब जान्यो कछु तिय बिरोध हमते कीन्ही है।
तें अस दुर्ग नरेस जांचिवो मत दीन्ही है।।
हम तो सरल सुभाव नारि आयसु हिय भायो।
उन तो महा मतंग भीर मों मरन पठायो।।
जब फरुही सन्देस पर धन चाहति अज्ञान मन।
को अस नृप ममार मे लेहि बाहुरी देहि धन।।१००।।

—सुदामाचरित, हलधरदास

२. हम तो कबहिं न सपन में अनुगामी नहि कुपथ हैं।

—वही

३. सिच्छक हौं सिगरे जग को तिय ताको कहा अब देति है सिच्छा।
जे तप कै परलोक सुधारत संपति की तिनके नहिं इच्छा।।

—सुदामाचरित्र, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ३५

४. सुनत सुदामा कह्यो मानेउं तब उपदेसो।
प्रिया वसन एक देहु जाहि महं करौं संदेसो।।
तिय अंचल पट फारि बांधि बाहुरी दई है।
अट्टहास पिय हंसे तिया अज्ञान भई है।।
नित नूतन भूषन कनक पात्र जेहि असन में।
दे का लेहिं अब बाहुरी फटे पुराने वसन में।।८६।।

—सुदामाचरित, हलधरदास

करते हैं।[1]

सब में ब्राह्मणी विदुषी और चतुरा है। नरोत्तमदास में वह बहुत हलकी हो गयी है। अपने पति से कृष्ण की मित्रता के विषय में सुनते ही वह उनसे कृष्ण के पास जाने का सतत अनुरोध करने लगती है। यहाँ वह लालची मालूम पड़ती है। हलधर में सुदामा-पत्नी बड़ी तर्कशीला और विनोद-प्रिय है। उसकी तर्कशीलता सुदामा को द्वारका जाने के लिए प्रस्तुत करने और भगवान् द्वारा किये गये परिवर्तन को नहीं समझने पर उन्हें समझाने में देखी जा सकती है। यही नहीं वह शास्त्र-ज्ञान-सम्पन्ना भी है। जब सुदामा कृष्ण की निंदा करते हैं तो वह शास्त्रोक्त प्रमाणों से उनके तर्कों का खंडन कर देती है। उसकी विनोदप्रियता का प्रमाण वहाँ मिलता है जहाँ वह सुदामा द्वारा परनारी समझी जाने पर उनके भ्रम के निराकरण करने का प्रयत्न न कर यह सिद्ध करने लगती है कि वर-स्त्री-संग अनुचित नहीं है।[2]

हलधरदास के कृष्ण सबसे अधिक मर्यादाशील हैं। सपनों के कृष्ण सुदामा पत्नी के लिये 'भाभी' शब्द का प्रयोग करते है। वहाँ वे मित्रों की पत्नी से भाभी का सम्बंध जोड लेने वाले आधुनिक मित्रों के समकक्ष हैं। हलधरदास के कृष्ण ने ब्राह्मणी के लिए सदा 'सखी' शब्द का प्रयोग किया है जो बडा ही उचित है। उनकी मर्यादाशीलता ब्राह्मणी-मिलन मे भी देखी जा सकती है। ब्राह्मणी जब उनके चरणों पर गिर पड़ती है तो वे उसे 'महन बधु तिय' जानकर अंक मे उठा लेते हैं। ऐसा सोचने में उनकी मर्यादावादिता स्पष्ट है। हलधरदास के कृष्ण मे कृपालुता भी सबसे अधिक है। वे केवल सुदामा को ही अपने दर्शन से कृतार्थ नहीं करते, सुदामा के घर जाकर उनकी पत्नी को भी दर्शन देते हैं। उनमे परिहासप्रियता भी कम नही है। सुदामा से फरुही का संदेश मांगते हुए वे कहते है कि पहले तो तुम भोले थे, अब कदाचित् सखी ने तुम्हें चतुराई सिखा दी![3] वंशमणि के कृष्ण सबसे अधिक विनम्र हैं। वे अपनी सभी रानियो और उनकी सभी सहेलियो के साथ सुदामा को नगर के बाहर तक पहुँचाते हैं। सबसे अधिक हलके कृष्ण वीर के है जो सुदामा को बिदा देते समय उनके शरीर पर से अपने दिये हुए कपड़े भी उतार लेते हैं।

१. है मूरति के धर्मतरु लगे सुभग मेवा फरन।
सप्तद्वीप नौ खंड में सदाबर्त लगे परन ॥३६२॥
—सुदामाचरित, हलधरदास

२. बिहंसि बयन बोली बिचित्र मूरति महरानी।
को कुपंथ नहिं चढ़ै कंत सो कहहु बखानी ॥
भारद्वाज से रिषय उर्बसी देखि लोभाने।
पारासर मंत्सोदरी द्वोपायन जग जानही ॥
मुनिहिं कुपथ भौ सुपथ सुख कंत महादुख मानही ॥३२६॥
—वही

३. हम ते कबहिं न मित्र जीव कीन्ही चतुराई।
अब कदापि कछु सयन सेज पर सखी सिखाई ॥
—वही

हलधर को छोड़कर अन्य किसी सुदामाचरित्रकार ने सुदामा और कृष्ण के अतिरिक्त किसी अन्य पात्र के चरित्र की झाँकी नहीं दिखाई है। हलधर ने कृष्ण की रानियों में सत्यभामा के चरित्र को प्रकाशित किया है। वह गर्विता और विनोदप्रिय है। जब कृष्ण रानियों के समक्ष सुदामा का परिचय देते हैं तो सत्यभामा आँचल से मुँह ढँककर हँसती है और कृष्ण पर खूब व्यंग्य करती है।[1] इसी तरह फरुही खाने पर कृष्ण उसकी प्रशंसा करते हैं तो सत्यभामा वहाँ भी उनका मखौल उड़ाने से नहीं चूकती। रुक्मिणी की शालीनता को हलधर ने भी अक्षुण्ण रखा है।

सारे सुदामाचरित्रों को देखने पर केवल हलधर और वीर कवि ही प्रबंध लिखने की मुद्रा में जान पड़ते हैं। वीर कवि ने तो वर्णन का अप्रासांगिक विस्तार किया है जिससे अस्वाभाविकता आयी है और कथा के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा पड़ी है। कही-कहीं पर कथा जम जाती है और बहुत देर के बाद उसमें गति आती है। द्वितीय अंक में सुदामा द्वारका में पहुँचते हुए दिखाये जाते हैं और सम्पूर्ण अंक में वे द्वारिका की छवि ही देखते रह जाते हैं। वे वहाँ की प्रकृति को, नारियों को, समुद्र को, पनहारिनों को, घोड़ो को, हाथियों को, अट्टालिकाओं को देखते हैं। सम्पूर्ण द्वितीय अंक में इसी तरह 'वारिधि वर्णन', 'पनिहारिन वर्णन', 'गज वर्णन', 'वाजि वर्णन' आदि शीर्षकों से लम्बे-लम्बे वर्णन है, जिनसे कथा की स्वाभाविक गति अवरुद्ध हो जाती है। फिर इन वर्णनों में अप्रासगिकता और भौगोलिक ज्ञानहीनता तो देखी जा सकती है, यथा सुदामा द्वारा पनिहारिनो की छवि निहारने और समुद्र के वर्णनों में। सम्पूर्ण द्वितीय अंक में इसी तरह द्वारपाल और सुदामा का सम्वाद है।

हलधर के 'सुदामा चरित्र' में वर्णन-प्रधानता के कारण कथा की गति बड़ी मंथर है। इस पुस्तक की एक बड़ी विशेषता यह है कि सारी कथा सम्भाषण के रूप में कही गयी है। वंदना मे भी कवि तटस्थ वर्णन-कर्त्ता नहीं है। वहाँ भी वह मन को सम्बोधित करता है। सुदामा जहाँ अकेले हैं, वहाँ भी अपने मन से ही वार्तालाप करते हैं इसी शैली के कारण यहाँ कथा की गति में मंथरता आयी है। इस शैली का सफल निर्वाह यह बतलाने के लिए पर्याप्त है कि हलधरदास को मानव-मन की गहरी परख थी। इसी कारण वे सुदामा की बहिर्गत और अंतर्गत स्थिति को पूर्णरूपेण उद्घाटित करने में सफल हुए हैं। इस सम्वाद में कवि कहीं-कहीं इतना जम गया है कि वहाँ ऊब मालूम पड़ती है। प्रारम्भ में छेयासी छप्पयों में सुदामा की अपनी पत्नी के साथ वार्ता हुई है जिसे पढ़ने पर धैर्य छूटने लगता है। इसी तरह द्वारका से लौटकर आने पर उनकी पत्नी के साथ लम्बा सम्भाषण भी ऊबाऊ ही है।

---

१. सुनत मित्रको सुजस पाटबंधी हरषानी।
मुख अंचल दै तनक सत्यभामा मुसुकानी॥
नाथ कहै हम रहे दीन सो व्यर्थ बखानी।
नाथ दीनता नाथ मित्रहीं ते हम जानी।
जो पिय दीन तो नंदजू ओढ़न को कामरी दई।
बिन कामरि के ओट ते कंत वदन कारी भई॥१५०॥
—सुदामाचरित्र, हलधरदास

गोपाल, नरोत्तम और हलधर के 'सुदामा चरित्र' का प्रारम्भ कथात्मक है। वीर और बंशमणि ने प्रारम्भ को नाटकीय बनाया है। कथा को बाह्य ढंग से सुनियोजित करने का प्रयास वीर कवि में ही है। उन्होंने कथा को अंकों में बांटा है और अंकों के मध्य वर्णन-संकेत रखे हैं। हलधर के 'सुदामा चरित्र' में यह बाह्य विधान नहीं है, उसमें आंतरिक संगठन है।

नरोत्तमदास के काव्य में चमत्कार का अभाव है। वे पाठक के लिए कुछ नहीं छोड़ते, सारी बात स्वयं ही कह देते हैं। इससे पाठक को चमत्कृत होने का अवसर नही प्राप्त होता। जब सुदामा कृष्ण के यहाँ से विदा होते हैं तो यह कहकर कि 'दोनों हुतौ सो दै चुके, विप्र न जानी गाथ। चलती बेर गोपाल जू, कछू न दीन्हौ हाथ' कहकर सारे चमत्कार को नष्ट कर दिया है। ऐसे स्थल इनकी पुस्तक में अनेक हैं। इस दोष से अन्य सारे सुदामाचरित्रकार मुक्त हैं।

सभी 'सुदामाचरित' में चरमोत्कर्ष कथा के मध्य में है। सुदामा-कृष्ण का मिलन ही कथा का उच्चतम उत्कर्ष बिंदु है जिसके दोनों ओर कथा का तनाव समान है। पूर्वार्द्ध में सुदामा के द्वार तक पहुँचाने और उत्तरार्द्ध में सुदामापुरी लौटकर कृष्ण-कृपा का फलित रूप देखने का वर्णन चरमोत्कर्ष के दोनों पार्श्वों में संतुलन स्थापित करता है। पाठक धीरे-धीरे चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है और वहाँ से धीरे-धीरे फलागम पर उतरता है, इस तरह इसमें चढ़ाव और उतार दोनों हैं। यही कारण है कि इस प्रसंग के खंडकाव्य वस्तु-योजना एवं शिल्प-निर्माण दोनों दृष्टियों से खंडकाव्य के उत्तम उदाहरण हो गये हैं।

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र ने स्वसम्पादित नरोत्तम दास के 'सुदामाचरित' की भूमिका में लिखा है कि इसमें सख्य रस है जिसमें सुदामा आलम्बन और कृष्ण आश्रय हैं। अगर इसमें किसी रस का नाम देना आवश्यक ही हो तो सचमुच सख्य के अतिरिक्त किसी अन्य रस को इसका अंगी रस नहीं माना जा सकता। और, सभी सुदामाचरित्र' के साथ यही बात होगी। इसके अतिरिक्त सुदामा चरित्रकारों ने अन्य रसों का भी समावेश किया है। नरोत्तम ने द्वारका के वर्णन मे अद्भुत[1] और कृष्ण के यहाँ से सुदामा के लौट आने पर पत्नी के साथ बातचीत में शृंगार रस[2] की झलक दिखायी है। वीर कवि ने प्रकृति-वर्णन में ही संयोग शृंगार की योजना कर दी है।[3] हलधरदास ने अद्भुत, वियोग एवं संयोग शृंगार की योजना की है।

१. दीठि चकचौंधि गई देखत सुबर्नमई,
एक तें सरस एक द्वारका के भौन हैं।
—सुदामाचरित्र, पृ० ४४

२. करि सिंगार पिय पै गई, पान खाति मुसुकाति।
कहौ कथा सब आदि से, किमि दीन्ही यह भांति ॥१०७॥
—वही

३. कहूँ संग लीन्हें पिकादिक प्रिया को
करें मोद चुबंनादिक क्रिया को।
—सुदामाचरित्र, वीर वाजपेयी, पृ० १६

द्वारका-वर्णन में अद्भुत रस है।[1] द्वारका से लौटने पर अपनी पत्नी को खोजने में असमर्थ सुदामा से वियोग के मार्मिक शब्द कहलाये गये हैं।[2] यह वियोग-वर्णन सर्वांगपूर्ण है। इसमें सुदामा आश्रय और उनकी पत्नी आलम्बन है। चिंता[3], स्मृति[4], गुण-कथन,[5] आदि काम दशाओं की सुंदर अभिव्यक्ति हुई है। वीर,[6] गोपाल[7] और

---

१. सब गजरथ पर चढ़े सबै कर अत्र धरे हैं।
सबहीं के मणिगण प्रवाल ते भवन भरे हैं॥
कत नाहर कत सिंह द्वार सीकर बांधे हैं।
कत देखौं दुर्धर्ष बीर मुद्गर कांधे है॥
कतही लर गज मत्त सब माल जुद्ध होते कहीं।
तंह पठ्यौ तिय जांचनो जहां प्राण बांचे नहीं॥६६॥

—सुदामाचरित्र, हलधरदास

२. पानि ग्रहन जब ते हो राम तबते न जुदाई।
एक सुभाव तें जुगल आतमा दिवस गंवाई॥
अन्त समय यह नवन दोष लाग्यो हो सांई।
जासु जिवन एक ठौर तासु मरनो बिलगाई॥
अब नाहक रे मूढ़ मन सहसि समूह कलेस को।
अब कैसहुं यह तालते चलै हंस निज देस को॥३२०॥

—सुदामाचरित्र, हलधरदास

३. गई कंतौमी कुटी गये वै पुर समाज नर।

—वही

४. मम तिय रही पतिव्रता निसि छवि ससि अंधियार में।

—वही

५. कबहिं न तिय हमते बिकार मान्यौ मन माहीं।
और कबहिं नहिं कह्यौ कन्त भिक्षा कहुं जाहीं॥
जो द्रोनहु तिय रही कंत पद रज लपटानी।
तौं पति सो एक धेनु आनिबे हेतु रिसानी॥
हमहिं कबहिं तिय स्वप्न में साक आनिवे ना कही।
अस तिय बिनु पिय जीवनो पति न वज्र मूरत सही॥३१८॥

—वही

६. जय अनंत अव्यक्त व्यक्त अच्युत अविनाशक
जय जड़तादिक रहति रूपरेखादि विभागत
जय अनीह जय बुद्धि चित्त शब्दादि अनागत
जय ठौर ठौर व्यापक सतत परब्रह्म आनंदमय
सुखमानिधान भगवान जय सुविस्मित बपु गुणशील जय

—सुदामाचरित्र, वीर वाजपेयी, पृ० ११४

७. जै जै गोपाल गोप गोपी ब्रज मंडन।
गो द्विज सुरहित काज असुर कंसादिक खंडन॥

हलधर[1] ने कथा का अवसान शांत रस में किया है। इनमें सुदामा जब यह जान जाते हैं कि प्रकट रूप से कुछ नहीं देने वाले कृष्ण ने दो लोकों का राज्य ही दे डाला तो वे गद्‌गद होकर कृपानिधान भगवान् का जयजयकार करने लगते हैं। उनकी वाणी में शांत रस का उज्ज्वल स्रोत प्रवाहित हो रहा है।

अलंकरण प्रायः सबमें है। नरोत्तम और वीर वाजपेयी में यह प्रवृत्ति सबसे अधिक है। नरोत्तम-दास के प्रायः प्रत्येक छंद में कोई न कोई अलंकार है। वीर वाजपेयी ने उत्प्रेक्षा से बड़ा मोह दिखाया है, ऐसी पंक्ति खोजने ही पर मिलेगी जिसमें उत्प्रेक्षा न हो। बीरबल की अनुप्रासप्रियता के प्रमाण-स्वरूप मिश्रबंधुओं ने लिखा है कि 'इन्होंने छंदों में उपमाएँ बहुत अनूठी कही, और प्रायः उपमाओं के लिए छंद कहे'।[2] अन्य सुदामाचरित्रों में अलंकार स्वाभाविक रूप में ही आये हैं। वीर वाजपेयी में उत्प्रेक्षा,[3] मालोपमा,[4] उदाहरण,[5] अर्थालंकार संसृष्टि,[6] पूर्णोपमा,[7]

जलज नीर जल धरन वपुख बनमाला लसत पर ॥
तड़ित वरन पट पीत मुकुट शिर करहिं चक्रधर ॥
गोधरण धराधर कुधर धर सो कालिय विषधर मदहरन ॥
द्विज धरणी सहित कर जोर कह सु जै जै करुणा करन ॥१०३॥

१. हो काली फनि के मयूर मधुकर मधुबन के।
संजीवन ब्रज के उदार पारस निर्धन के।
हो पामर द्विज परे भूलि अग्यान मोह वन।
अन जाने मो बिगनाथ को कियौ कछुक सन।
अब सांचो अनुमानेउं भृगु अघदोष छमाकरन।
भजु रे मूढ़ मन हलधरा कृष्ण चरन संकट हरन ॥३६०॥
—सुदामाचरित्र, हलधरदास

२. मिश्रबंधु विनोद, पृ॰ २३८

३. सुंदर लसत विशाल भाल सिंदूर पूरवर
मनहुं मुदित गिरि उदित अरुण प्रतिबिंब सूरकर
—सुदामा चरित्र, वीर वाजपेयी, पृ० १

४. 'सोहति अरुधंती वशिष्ठ मुनि पास जैसे कश्यप के पास जैसे आदिति बखानिये
रेणुका सुहाइ यमदगिनि समीप जैसे अगिनि समीप जैसे स्वाहा पहिचानिये
जैसे कामदेव जू के राजत समीप रति शंकर समीप सदा सति सनमानिये
रूप गुण धामा शील सिंधु अभिरामा बीर तैसे ही सुदामा जी की बामा जग जानिये
—वही, पृ० ३

५. दारिद न रैहे यहि भांति सों विलैहै जैसे तिमिर समाज दिनराज के उदोत ही
—वही, पृ॰ १०

६. फरकि बारहिं बार द्विज की दाहिनी भुज भ्रुलता।
जनु बताये देत बिधिकी प्रीय पै अनुकूलता। —वही, पृ० १४

७. सबै काम की बाम सी रूपधारी तहाँ फूल फूलै सबै प्रीतिकारी —वही

आदि; नरोत्तम में लोकोक्ति,[1] विभावना,[2] परिकर,[3] स्वभावोक्ति,[4] चंचलातिशयोक्ति,[5] आदि; बीरबल में मालोपमा,[6] आदि और हलधर में दृष्टांत,[7] प्रतीप,[8] रूपक,[9]

---

१. जातहि दैहें लदाय लढ़ा भरि लैहों लदाय यहै जिय ठानी ।

—सुदामाचरित्र, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ ३७

२. पूरन पैज करी प्रह्लाद की खंभ सों बाँध्यो पिता जिहि बेरे ।
दौपदी ध्यान धर्‌यो जबहीं तबहीं पट-कोट लगे चहुँ फेरे ।
ग्राह तें छूटि गयंद गयो पिय है हरि को निहचैं जिय मेरे ।
ऐसे दरिद्र हजार हरें वे कृपानिधि लोचन-कोर के हेरे ।।१५।।

—वही, पृ० ३८

३. एक दीनबंधु, कृपा सिंधु, फेरि गुरु बंधु,
तुम सम कौन दीन जाको जिय जानि हैं ?

—वही, पृ० ४१

४. सीस पगा न झगा तन मैं प्रभु, जानै को आहि बसै केहि ग्रामा ।
धोती फटी सी लटी दुपटी अरु पाय उपानह् की नहिं सामा ।
द्वार खड़े द्विज दुर्बल एक रह्यो चकि सो बसुधा अभिरामा ।
पूछत दीनदयाल को धाम बतावत आपनो नाम सुदामा ।।३६।।

—सुदामाचरित्र, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० ४६

५. लोचन पूरि रहे जल सों प्रभु दूरि तें देखत हीं दुख मेट्यो ।
सोच भयो सुरनायक के कलपद्रुम के हिय माँझ खसेट्यो ।
कंप-कुबेर-हिये सरसो, परसे पग जात सुमेरु ससेट्यो ।
रंक तें राउ भयो तबहीं जबहीं भरि अंक रमापति भेट्यो ।।३८।।

—वही, पृ० ४७

६. रुद्र से महासिंगरी नारद से वीनधारी
रम्भा सी निरतकारी सुक से पढायवें ।
वैकुंठ निवासी आप भयो व्रजवासी
स्याम राधिका रमन कवि वरन सोई गाइवौ ।

—सुदामाचरित्र, बीरबल

७. मित्र बंधु परिवार कबहुं कोउ सुधि न गुन्यो है ।
सर सूषे ते कबहिं प्रीत पक्षी न सुन्यो है ।

—सुदामाचरित्र, हलधरदास

८. पूरण ब्रह्म समान किंचितो अधिक हरन हैं ।
सत्य लोक वैकुंठ धाम ते गरुव चरण हैं ।
राम चंद्र जश चंद्र स्वेत ताते अस उज्ज्वल ।
द्वादश कला कलेन्द्र तेजते तरुण तेज बल ।
दया दिगम्बर ते अधिक ब्रह्मज्ञान ते अचल है ।
देव देव गुरुदेव पद हल मधुकर को कवल है ।।१।। —वही

९. रे मन विषय भुजंग तूं मलय चरण गोविंद गहु ।।९।। —वही

उत्प्रेक्षा,[1] उदाहरण,[2] संदेह,[3] आदि अनेकानेक अलंकार द्रष्टव्य हैं।

इनमें हलधरदास उनके अनुकर्ता भूधरदास तथा आलम को छोड़ कर सबने विविध छंदों का प्रयोग किया है। हलधर और भूधर ने सारी कथा छप्पय में कही है और आदि—अंत में कुछ दोहे रखे हैं। आलम ने लखनी या ककुभ छंद का व्यवहार किया है। वीर कवि में तो छंद-ज्ञान दिखाने की प्रवृत्ति चरम सीमा को पहुँच गयी है। इन्होंने दोहा, सवैया, घनाक्षरी, चौपाई, हरिगीतिका, सोरठा, मौक्तिकदाम आदि पचास प्रकार के छंदों का प्रयोग किया है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि कथा-धारा इतस्ततः विकीर्ण शिलाखंडों से होकर प्रवाहित हो रही है। विविध छंदों के इस प्रयोग की प्रवृत्ति से प्रबंध-सौष्ठव नष्ट हो गया है। गोपाल ने दोहा, छप्पय, घनाक्षरी, सवैया और कवित्त; वंशमणि ने दोहा, दण्डक, सवैया और दोहारा तथा नरोत्तम दास ने दोहा, कवित्त, सवैया और कुंडलिया का प्रयोग किया है।

सभी सुदामा चरित्रकारों ने ब्रजी का व्यवहार किया है। गोपाल ने यथास्थान और आलम ने आद्योपांत रेखता का प्रयोग किया है। आलम और भूधरदास की भाषा में अवधी के प्रयोग भी वर्तमान हैं। वीर कवि की भाषा ग्राम्य प्रयोग से शून्य नहीं है।[4] हलधर ने तत्सम और तद्भव दोनों प्रकार के शब्दों का समान प्रयोग किया है। ब्रजी—क्षेत्र से बहुत दूर के निवासी होने पर भी उन्होंने साधिकार इसका प्रयोग किया है। उन्होंने कहीं-कहीं संस्कृत क्रिया का भी प्रयोग कर दिया है।[5]

कृष्ण प्रवास सम्बन्धी

कृष्ण की जिन लीलाओं को सर्वाधिक भक्तों को आकृष्ट करने का श्रेय प्राप्त है, उनमें सुदामा-प्रसंग के पश्चात् कृष्ण के प्रवास-प्रसंग का ही स्थान है। प्रथम में यदि

---

१. सुकीय सुदामा नारि कंत की सदा अधीनी।
भूषण वसन मलीन नयन कज्जल बिन दीनी।
बिनु परिमल तन तनय तेल बिनु चिकुर मलिन सन।
मानो मधुप समाज दीन हारे मधु बिनु तन।—सुदामाचरित्र, हलधरदास

२. कनिक भीख ते नाहिं धन अधिक मान आदर न रहे।
जौं महेश त्रिभुवन धनी तौं भिखारि संसार कह ॥२४॥
—वही

३. सची किधों सुरबधू साथ नभ ते संचरी है।
रती किधौं रतिपतिहिं जोहती भूलि परी है।
समुझि कह्यौ पीछे पुनिक पुराचीन सी भारती।
यह नवीन सोभा लसै नृप सुदाम रानी हुती ॥३२३॥
—वही

४. लसै पद्मिनी पत्र पै खंजताली दिये चुंच बैठी प्रिया प्रेमावली।
—सुदामाचरित्र, वीर वाजपेयी, पृ० ८४

५. किं करोमि हा राम काहि पहं करो पुकारी।
—सुदामाचरित्र, हलधरदास

भगवान् के दीन-वत्सल रूप का चरमोत्कर्ष है तो द्वितीय में उनके प्रेमी रूप की सीमा है। उद्धव-जैसे निर्गुण ब्रह्मवादी को अपने प्रेम का सजीव और उत्कृष्ट रूप दिखा कर उन्हें उससे प्रभावित कराकर अपने प्रेमी रूप की उत्कृष्टता दिखाई है।

मध्यकालीन कृष्णभक्त कवियों ने इस प्रसंग का निर्गुण मार्ग की व्यर्थता दिखाने के लिए खूब उपयोग किया है। किसी बात को उदाहरण-रूप में प्रस्तुत करने पर उसकी शक्ति बढ़ जाती है। अतएव इस प्रसंग के द्वारा कृष्णभक्त अपने प्रति-पक्षियों पर अधिक घातक प्रहार कर सके। मध्यकाल साम्प्रदायिक विद्वेष का काल है। निर्गुण पंथ की ज्ञानमार्गी शाखा ने सगुणोपासना पर बड़े कठोर आघात किये थे, बल्कि अगर यह कहा जाय कि यही उनका साध्य था तो अत्युक्ति न होगी। सगुणमार्गियों की ओर से इसके विरोध का संगठित प्रयत्न नहीं हुआ। इसका यह अर्थ नहीं कि उन पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी। यह प्रतिक्रिया कितनी तीव्र थी, इसका रूप गोस्वामी तुलसीदास में देखा जा सकता है जिन्होंने दो टूक शब्दों में उनकी भर्त्सना की थी।[1] किंतु रामभक्तों को सीधी बात कहने के अतिरिक्त दूसरा चारा नहीं था। और, आराध्य के गुणगान को ही चरम साध्य मानने वाले सगुण-मार्गियों को विरोधियों के खंडन के लिये अवकाश ही कहाँ था! यह सुयोग और ऐसा ही अमोघ अस्त्र कृष्ण-भक्तों के हाथ में था जिसका उपयोग करने में इन लोगों ने कोई कोर-कसर नहीं रखी।

इस परम्परा के खंडकाव्यों को देख कर ऐसा प्रतीत होता है कि कृष्णभक्तों ने प्रबंध काव्य की सर्वथा उपेक्षा नहीं की है। नंददास को छोड़कर इस परम्परा के सभी खंडकाव्यों में प्रबंध-निर्वाह पर समुचित ध्यान दिया गया है। नंददास का मुख्य उद्देश्य यहाँ निर्गुण-सगुण-विवाद को प्रस्तुत कर निर्गुण की व्यर्थता सिद्ध करना है, अतः कथा विन्यास पर उन्होंने कोई ध्यान नहीं दिया है। उनमें कथा का प्रारम्भ अत्यन्त नाटकीय है। उद्धव एक-एक गोपियों को पुकारते हुए मंच पर आ धमकते हैं। इस प्रसंग के अन्य खंडकाव्यों में उद्धव के व्रज-गमन का प्रस्ताव, कृष्ण का संदेश, उद्धव का व्रजगमन, नंद-यशोदा-मिलन आदि की जो अनुक्रमणिका है, उसका यहाँ अभाव है। नंददास का ध्यान कथानक के मूल बिंदु पर केंद्रित अवश्य है किंतु उसकी पृष्ठभूमि भी उनकी आँखों से ओझल नहीं है। अतः वे मात्र चार पंक्तियों में उस सारी प्रस्तावना को ध्वनित कर देते हैं। यह स्पष्ट है कि उद्धव केवल गोपियों के लिए ही संदेश लेकर नहीं आये थे, अपितु नंद, यशोदा आदि अन्य व्रजवासियों का संदेश कहते समय तुम लोगों से संदेश कहने का अवसर नहीं मिला।[2]

---

१. साखी, सबदी, दोहरा, कहि कहनी उपखान।
भगति निरूपहिं भगत कलि, निंदहिं बेद पुरान॥

—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, पृ० १२१

२. कहन स्याम-संदेश एक मैं तुम पै आयौ।
कहन समय संकेत कहूँ औसर नहीं पायौ॥
सोचत ही मन मैं रह्यौ कब पाऊँ एक ठाऊँ।

प्रागनि को छोड़कर अन्य सारे खंडकाव्यकारों ने गोपियों को उद्धव से वहां संदेश कहवाया है जहां नंद-यशोदा उपस्थित नहीं हैं। यह सर्वथा ही उचित है। माता-पिता के समक्ष युवक-युवतियों का प्रेमालाप अशोभनीय है। प्रागनि ने इस अनौचित्य पर ध्यान नहीं दिया है। उनके उद्धव नंद-यशोदा की उपस्थिति में ही गोपियों को कहने लगते हैं कि कृष्ण तो तुम्हारे ही हैं, तुम लोग उन्हें जहां बेचोगी वहां वे बिक जायेंगे। प्रागनि के उद्धव के इस हलकेपन की रक्षा गोपियों ने अपने मौन से कर ली है।

नंददास के 'भँवरगीत' में कथा साध्य नहीं होने के कारण अनेक असंगतियां आ गयी हैं। अठ्ठाईसवें पद तक उद्धव-गोपी का वार्तालाप चलता है। इसके बाद गोपियां स्वगत कथन करने लगती हैं और उद्धव मुँह ताकते रह जाते हैं। बयालिसवें पद तक यह निजोक्ति चलती है। इसी स्थल पर भ्रमर-प्रवेश होता है और वे भ्रमरों को ही सम्बोधित कर कहना शुरू करती हैं। इसी तरह उद्धव ब्रज से कब चल पड़ते हैं, इसकी सूचना कहीं नहीं दी जाती और एक बारगी कह दिया जाता है कि 'ऐसे मग अभिलाष करत मथुरा फिरि आयौ'। प्रबंध में नाटकीयता उतनी ही दूर तक अपेक्षित है जितने से कथा में गति आती है। नाटकोचित आकस्मिक दृश्य-परिवर्तन से प्रबंध काव्य में अस्वाभाविकता एवं अशृंखलता का सूत्रपात होता है। प्रागनि के 'भ्रमरगीत' में भी ऐसी छोटी-छोटी त्रुटियां है। गोपियों का उद्धव से एक बार तो उसी समय साक्षात्कार हो जाता है जिस समय वे नद-यशोदा से बातें कर रहे थे। लेकिन दूसरे दिन रास-स्थल के दर्शन करने जाते समय गोपियां उद्धव को देखकर उनका परिचय पूछती हैं! प्रागनि की गोपियों को इस बात की याद ही नहीं रही कि वे एक दिन पूर्व उद्धव से मिल चुकी हैं। यही नहीं, प्रागनि के वर्णन में काल के औचित्य का कोई ध्यान नहीं रहा है। ब्रज में पहुँचने के दूसरे दिन रास-भूमि के दर्शनार्थ जाते हुए उद्धव को गोपियां मिल जाती हैं और वहीं गोपियों से बातचीत चल ही रही थी कि उद्धव सोच उठते हैं,मैं तो तीन दिनों के लिए यहां आया था,और यहां छह महीने हो गये! ऐसा सोचकर वे प्रस्थान करने के लिये विदा माँगते हैं।

चाचा हितवृंदावनदास का 'भंवर गीत' भी वर्णन की त्रुटि से रहित नहीं है। मुक्तकों में एक ही दशा की विविध और पृथक्-पृथक् स्तरों पर अभिव्यक्ति दी जा सकती है किंतु प्रबंध काव्य में ऐसा सम्भव नहीं है। यहां तक दशा के विभिन्न स्तरों की अभिव्यक्ति होती है परन्तु वे स्तर एक मनोवैज्ञानिक क्रम में आबद्ध होते हैं, उनमें पार्थक्य और क्रम का अभाव नहीं होता। वृंदावनदास मनोवैज्ञानिक वर्णनों में प्रबंधकार की क्षमता नहीं दिखा सके हैं। उद्धव जब ब्रज पहुँच कर यशोदा से मिलते हैं तो वह कहती है कि उद्धव तुम यह कैसे कहते हो कि कृष्ण मथुरा में हैं!

कहि संदेश नंदलाल को बहुरि मधुपुरी जाऊँ ॥
सुनौ ब्रजनागरी!
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १५२

उसे तो मैं सदा अपनी आँखों के सामने ही पाती हूँ।'[1] जो भावना के इस धरातल पर पहुँच जायेगा, उसे तो विरहानुभूति होगी ही नहीं। किंतु ऐसा कहने के बाद यशोदा शीघ्र ही उद्धव से कृष्ण को बुला देने का अनुनय करने लगती है। भावनाओं का यह परिवर्तन अस्वाभाविक है।

बख्शी हंसराज और प्रेमदास में प्रतिपादन की त्रुटि दीख पड़ती है। इन दोनों में नवोन्मेषशालिनी प्रतिभा विद्यमान थी। अतएव वे दोनों कृष्ण को सर्वहारी, घट-घट वासी भगवान् के पद से उतारकर मनुष्यता के सामान्य धरातल पर ले आये। प्रेमदास के कृष्ण विरह-विदग्ध प्रेमी हैं तो हंसराज के कृष्ण कर्तव्य और प्रेम के द्वंद्व से पीड़ित एक साधारण मानव हैं। दोनों स्थानों पर कृष्ण ने उद्धव के द्वारा जो संदेश भेजा है, उससे उनका ऐसा ही व्यक्तित्व सिद्ध है। किंतु इन दोनों ने आगे चलकर योग और ब्रह्मज्ञान का समावेश करा ही दिया जिससे बचाकर ये दोनों अपने खंडकाव्यों को युगांतकारी बना सकते थे। वैसा तो नहीं ही हो सका, इससे कृष्ण के व्यक्तित्व को भी कोई सुस्थिर रूप नहीं मिला।

इस प्रसंग में विवेच्य खंडकाव्यों का कथा-विस्तार समान नहीं है। इनमें लघुतम कथा-वृत्त नंददास के 'भँवर गीत' का है। इसमें उद्धव द्वारा गोपियों के उपदेश से कथा शुरू होती है और उनके मथुरा प्रत्यागमन पर आकर समाप्त होती है। सगुण पंथ की स्थापना अभीष्ट होने के कारण इनका कार्य लघु कथा-तन्तु से ही चल गया है। 'भ्रमरगीत' (प्रागनि), 'स्नेह लीला' (मुकुन्द दास), 'विरह विलास' (रसनायक), 'भंवरगीत' (मुकुन्ददास), 'प्रेमतरंगिनी' (लक्ष्मी नारायण), और 'भंवरगीत' (वृंदावनदास) के कथा-पट भी नंददास कृत 'भंवरगीत' के आसपास ही हैं। नंददास से इनमें आधिक्य इतना ही है कि नंददास ने प्रस्तावना-भाग को संकेतित कर छोड़ दिया है, जब कि इन कवियों ने उकसा कर उसे कथा का अंग बना दिया है इन कवियों के ऐसा करने का कारण यह है कि इन लोगों के सामने प्रबंधत्व सर्वथा उपेक्षित नहीं था। अतएव प्रबंध को पुष्ट करने के लिए इन लोगों ने इन लघु प्रसंगों को एक पूर्ण कथा का रूप दिया और कथा के मध्य भी अनेक मार्मिक स्थलों की अवतारणा की।

'प्रेमसागर' (प्रेमदास), 'प्रेमरत्न', (रत्नदास), 'करुणा विरह' (सेवादास पाण्डेय) और 'विरह विलास' (बख्शी हंसराज) का कथा-पट अपेक्षाकृत पृथक् और बृहत्तर है। इनमें बृहत्तम कथा-पट बख्शी हंसराज के 'विरह विलास' का है जिसमें कृष्ण को ले जाने के जिए अक्रूर-आगमन से कथा शुरू होती है और उद्धव के व्रज जाने-आने के बाद कृष्ण द्वारा व्रजवासियों को दर्शन देने तक चलती है। इस दीर्घ वस्तु-पट को ग्रहण करने के कारण स्वभावतः ही इसका आकार भी इस परम्परा के खंडकाव्यों में दीर्घतम है, पंद्रह अध्यायों का यह खंडकाव्य है। इससे लघुतर कथा-पट

---

१. ऊधो ये रहें दृष्टि पथ आगे।
तुम जु कहत हम मधुवन छाँड़े मुहि ह्याँ से लागें।
कबहुँ कछुक माँगत से सूझै कबहुँ सचवि के मागें।
वृंदावन हित रूप लाड़िले कबहुँ सोम से जागे ॥८॥—भंवरगीत, वृन्दावनदास

सेवादास पाण्डेय के 'विरह विलास' और प्रेमदास के 'प्रेमसागर' का है। इसमें उद्धव के ब्रजगमन से लेकर उनके लौटने पर कृष्ण के कुरुक्षेत्र-गमन और आगमन तक की कथा वर्णित है। लघुतम-कथा पट रत्नदास के प्रेमरत्न का है। इसमें केवल सूर्यग्रहण के अवसर पर कृष्ण का कुरुक्षेत्र जाकर ब्रजवासियों को दर्शन देने की कथा कही गयी है। इस तरह प्रेमरत्न इस परम्परा के सभी खंडकाव्यों से भिन्न है। अन्य खंडकाव्यों की कथा जिस बिंदु पर जाकर समाप्त हो जाती है वही इस खंडकाव्य का प्रतिपाद्य है।

इस परम्परा के सारे खंडकाव्य वर्णन-प्रधान हैं। अतएव खंडकाव्यकारों ने चरित्र-चित्रण में तो अनेकानेक मौलिक उद्‌भावनाएँ की हैं किंतु कथा-प्रवाह में वक्रता अधिक नहीं है। प्रकरण-वक्रता के लिए इस प्रकार की कथावस्तु में अधिक अवकाश रहता भी नहीं है। फिर भी, इन खंडकाव्यकारों ने यथासम्भव चमत्कारी प्रकरणों की अवतारणा की है। नंददास की गोपियाँ अपने प्रिय का कुशल-क्षेम सुनते-सुनते चेतना शून्य हो जाती हैं।[1] यही उनके विरह की उत्कृष्टता है।

नंददास में भ्रमर-प्रवेश के प्रकरण की बड़ी सुंदर योजना है। इसके द्वारा कवि ने कई बातें ध्वनित करायी हैं। एक तो गोपियों के कोमल, रक्तिम चरण अरुण कमल का भ्रम पैदा कर रहे हैं जिन पर भ्रमर का बैठना स्वाभाविक ही है। किंतु यह भ्रमर परागपायी मधुधर्मी भौंरा नहीं है, यह तो उद्धव का मन-मधुकर ही गोपियों के चरण-कमल पर झुक रहा है। गोपियों के प्रेम को देखकर उद्धव का ज्ञान भाग जाता है और वे सोचने लगते हैं कि ये गोपियाँ वंदनीया हैं, इनकी चरण-धूलि शीश पर धारण करनी चाहिए।[2] और, उसी क्षण उद्धव का मन 'मधुप को भेष धरि' गोपिकाओं के पद-सरोज पर आकर बैठने लगता है। इस प्रसंग के काव्यों में भ्रमर-प्रवेश एक काव्य-रूढ़ि की तरह और अनपेक्षित रूप में हुआ है। यह नंददास ही हैं जिन्होंने इस रूढ़ि को प्रकरण में ऐसा फिट कर दिया है कि वह स्वाभाविक ही नहीं, बल्कि अद्‌भुत सौंदर्य का हेतु हो गयी है। कवि को उद्धव को झुकाना ही

---

१. सुनि मोहन-संदेस रूप सुमिरन ह्वै आयौ।
फुलकित-आनन कमल अंग आवेस जनायौ।
विह्वल ह्वै धरनी पड़ी ब्रज-वनिता मुरझाय।
दै जल छींट प्रबोधहीं ऊधौ बैन सुनाय।
सुनौ ब्रज नागरी।
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १५३

२. देखत इनको प्रेम नेम ऊधौ को भाज्यौ।
तिमिर भार आवेस बहुत अपने जिय लाज्यौ।
मन में कहि रज पाय की लै माथे निज धारि।
परम कृतारथ ह्वै रहौं त्रिभुवन-आनंद वारि।
बंदना जोग ए ॥४३॥
—वही पृ० १६०

अभीष्ट है किंतु अगर उन्हें आंगिक रूप से झुकाया जाता तो इसमें उद्धव-जैसे ज्ञानी और कृष्ण के सखा का मर्यादा-भंग होता। अतएव उद्धव की मर्यादा-रक्षा के लिए ही नंददास ने इस स्थल पर भ्रमर की कल्पना की है। इस तरह भ्रमर-प्रवेश यहाँ अकारण नहीं, बल्कि सकारण है।

भ्रमर-प्रवेश का प्रकरण सबमें नहीं है। प्रागनि, रसनायक, वृंदावनदास, सेवादास और बख्शी हंसराज द्वारा गृहीत कथा-वृत्त में भ्रमर-प्रवेश के लिए स्थान था किंतु इन कवियों ने उसकी उपेक्षा की है। रत्नदास-कृत 'प्रेमरत्न' के वस्तु-पट में इसके लिए कोई स्थान ही नहीं था। मुकुंददास ने 'सनेह लीला' में भ्रमर-प्रवेश तो नहीं कराया है लेकिन वहाँ गोपियों ने 'भ्रमर' शब्द का प्रयोग पहले उद्धव और बाद में कृष्ण के लिए किया है। प्रेमदास ने तो अपने 'प्रेमसागर' में दो-दो बार भ्रमर-प्रवेश कराया है। भ्रमरगीतकार मुकुंददास और लक्ष्मीनारायण ने भी भ्रमर-प्रवेश कराया है। इन सारे कवियों ने रूढ़ि-निर्वाहवश ही वैसा किया है, ये लोग नंददास के सदृश उसके उपयुक्त प्रकरण-निर्माण नहीं कर सके हैं।

नंददास को मनोभावो के चढ़ाव-उतार की पूर्ण परख थी। केवल 'भ्रमरगीत' ही उनकी इस क्षमता का प्रमाण है। 'भँवरगीत' में कथा के मोड़ के स्थान पर भावों का ही उतार-चढ़ाव है। इसमें मनोभावों के विविध स्तरों का बड़ा कलात्मक और सफल चित्रण हुआ है। जब हृदय की वेदना को कंठ का द्वार नहीं मिलता तो वह आँखों का मार्ग लेती है। गोपियाँ जब भ्रमर के व्याज से कृष्ण को उपालम्भ देते-देते थक गयीं तो वे अचानक फूट-फूट कर रो पड़ी।[1] यह गोपियों की विरह विह्वलता की चरम सीमा थी और इसका प्रभाव भी इनके अनुकूल ही पड़ा, उद्धव इस प्रेम-प्रवाह में बह चले।

राधा का उल्लेख सर्वत्र नही है। नंददास, मुकुंददास (सनेह लीला) मुकुंद दास (भंवरगीत) वृंदावनदास और सेवादास ने राधा का उल्लेख नहीं किया है। प्रागनि, प्रेमदास, रसनायक, रत्नदास, लक्ष्मीनारायण और बख्शी हंसराज ने राधा का उल्लेख किया है। रत्नदास और रसनायक को छोड़कर सबके कृष्ण राधा को पत्र भेजते हैं। 'प्रेमतरंगिनी' (लक्ष्मीनारायण) में कृष्ण राधा को पत्र भेजते हैं किंतु राधा न तो पत्र का उत्तर देती है और न कुछ बोलती ही है। गोपियों की बातों से जब उद्धव चिढ़ जाते हैं तो राधा उन्हें प्रिय वचन कहकर प्रसन्न करने का प्रयत्न करती है। 'प्रेमसागर' (प्रेमदास) में कृष्ण और राधा को परस्पर लम्बा पत्र भेजते हैं। 'बिरहविलास' (रसनायक) में कृष्ण तो राधा के प्रति मौन हैं परंतु राधा उद्धव के द्वारा उन्हें संदेश भेजती है। बख्शी हंसराज की राधा मुखर है। वह कृष्ण का पत्र

---

१. इहि बिधि सुमरि गोविंद कहत ऊधो प्रति गोपी।
भृंग संग्या करि कहत सकल कुल लज्जा लोपी।
ता पाछे एक बारही रोई सकल ब्रजनारि।
हा! करुणामय नाथ हो! कैसो कृष्ण मुरारि!
फारि हिय दुग चलौ।६०।
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १९३

पढ़कर उस पर सोच-विचार करती है और उत्तर में बहुत-कुछ कहती है। 'प्रेमरत्न' (रत्नदास) में तो राधा सत्यभामा से विवाद में उलझ गयी है।

सर्वथा भिन्न रूप में राधा का उल्लेख प्रागनि ने किया है। यहाँ कृष्ण राधा के लिए न कोई पत्र भेजते हैं, न कोई मौखिक संदेश। राधा भी पूर्णतः मौन है किंतु उद्धव ब्रज पहुँचकर दूसरे दिन प्रथम कार्य यह करते हैं कि वे राधा की दशा देखने जाते हैं। राधा का उद्धव के पास न आने में उसकी शालीनता ही नहीं, उसकी पीड़ा की गम्भीरता भी है। अतएव उद्धव का उसे देखने जाना सर्वथा उपयुक्त ही है। कृष्ण द्वारा बिना कुछ संकेत किये हुए उद्धव का राधा के पास जाना एक अस्वाभाविकता की सृष्टि करता है। कृष्ण के बिना कुछ कहे हुए उद्धव ने आखिर कैसे जाना कि राधा कौन है। यही नहीं, प्रागनि ने उद्धव को रास स्थल के दर्शनार्थ भी भेजा है। इसकी योजना में कवि की मौलिकता तो है किंतु उपयुक्त स्थल पर इसे नहीं योजित किया गया है। अगर कृष्ण द्वारा रचित रास की आध्यात्मिकता में उन्हें इतनी आस्था थी कि वे उस भूमि के दर्शन करने गये जिस पर वह रास सम्पन्न हुआ था, तब कृष्ण ने जिन गोपियों को ऐसा अलौकिक रास करने का अवसर दिया था, उनके प्रति तो उद्धव के मन मे पहले ही से श्रद्धा-भावना होनी चाहिए थी ! गोपियों के प्रेम से प्रभावित होने के बाद अगर इस प्रकरण की अवतारणा की जाती तो अधिक उपयुक्त होता।

कृष्ण की विरहाकुलता दिखाने के लिए प्रागनि ने एक बड़े ही मनोरंजक प्रकरण की उद्भावना की है। ब्रज से मथुरा लौटने पर उद्धव पहले कृष्ण के पास न जाकर अपने घर चले जाते हैं। कृष्ण को जब उद्धव के प्रत्यागमन का पता चलता है तो वे ब्रज का हाल जानने के लिए इतने आकुल हो जाते हैं कि दूत भेजकर उद्धव को बुलाते हैं।

प्रागनि के लिए प्रबंध-सौष्ठव सर्वथा उपेक्षणीय नहीं था। अतः दूसरे कवियों ने जहाँ प्रकृति की उपेक्षा की है वहाँ प्रागनि प्रकृति को भूले नही हैं। प्रातःकाल का बड़ा सजीव वर्णन इन्होंने किया है।[१]

मुकुंददास (सनेह लीला) के कृष्ण का ध्यान पहले नंद-यशोदा पर है, उसके बाद गोपियों पर। अतएव वे उद्धव को सीधे उपदेश देने के लिए नहीं भेज देते हैं बल्कि उन्हें अपना वस्त्राभूषण पहनाते हैं। वे उद्धव को अपना प्रतिरूप ही बनाकर भेजना चाहते हैं ताकि नंद-यशोदा के वात्सल्यपूर्ण हृदय को थोड़ी देर के लिए भी तो

---

१. भोर भये बोले पुर तमचुर मुकुलित बिपुल बिहंग।
सुबह सुबाहु कृष्ण की लीला कहत आपने रंग।
छूटे मधुप कंज कोसनि ते करत मधुर सुर गुंज।
मानहु बृजबासिन को वंदत भेष धरे मुनि पुंज।
गो दोहन मंथन औ धेनु रव लागो चहु दिसि होन।
प्रागनि गोपी गुन गोपाल के करत गान प्रति भौन।७।
—भ्रमरगीत, प्रागनि

आश्वासन मिलेगा। अन्य काव्यों में गोपियों से उद्धव की भेंट आकस्मिक है जो स्वाभाविक नहीं प्रतीत होता। 'सनेह लीला' में इस अस्वाभाविकता को बचाया गया है। यहाँ संध्याकाल नंद के द्वार पर रथ देखकर कृष्ण-आगमन के भ्रम में गोपियाँ एकत्र होती हैं।

रत्नदास ने 'प्रेमरत्न' में एक अत्यन्त मर्मस्पर्शी प्रकरण का समावेश किया है। कृष्ण सत्यभामा, रुक्मिणी तथा अन्य द्वारकावासियों के साथ कुरुक्षेत्र गये हैं। वहीं नंद-यशोदा, राधा आदि अन्य ब्रजवासी भी आये हैं। सब लोग मिलन-सुख में इतने विभोर हो गये कि छह महीने बीत गये और किसी को पता नहीं चला। जब प्रस्थान करने का समय निकट आया तो राधा और सत्यभामा परस्पर उलझ गयी। इधर सत्यभामा की शेखी और यह गर्व कि कृष्ण का एकान्त प्रेम उसे ही प्राप्त है। उधर राधा को भी यही गर्व कि कृष्ण को सर्वाधिक प्रिय वही है। कृष्ण इस समय बड़े संकट में पड़ जाते हैं। आखिर वे किसके साथ लौटे। वे दो रूप धारण कर ब्रज और द्वारका दोनो जगह जाते हैं। इस प्रकरण की योजना से अलौकिकता इस काव्य पर आसन मारकर बैठ गयी है किंतु यह अखरता नहीं है। कवि ने इस दिव्यता के मूल में एक सर्वथा स्वाभाविक मानव-सत्य को बैठा दिया है। सारे ब्रज-वासी, विशेषतः राधा जिस कृष्ण के लिए तड़प रहे थे उस कृष्ण को वे फिर अपनी आँखों के सामने से कैसे जाने देते। और, कृष्ण अगर ब्रज जाना चाहते तो सत्य-भामा राधा को यह गौरव देने के लिए क्योंकर तैयार होती। सेवादास पाण्डेय (करुणा विरह) न तो राधा तथा अन्य ब्रजवासियों के मनोभाव को पकड़ सके और न उन्होंने कृष्ण के संकट को पहचाना।

प्रागनि के 'भ्रमरगीत' मुकुंददास की 'सनेह लीला' वृंदावनदास के 'भ्रमर-गीत' और लक्ष्मीनारायण की 'प्रेम तरगिनी' में उद्धव ब्रज पहुँचकर सबसे पहले नंद-यशोदा से मिलते हैं। मर्यादा की रक्षा के लिए यही उचित है। प्रागनि और वृंदावन की यशोदा से मुकुंददास और लक्ष्मीनारायण की यशोदा अधिक भावना-मयी है। इन दोनों में यशोदा कृष्ण के संबंध में पूछताछ ही नहीं करती, बल्कि सिर धुन कर रोने लगती है। मुकुंददास की यशोदा इस समय बड़ा स्वाभाविक आचरण करती है। किसी प्रिय व्यक्ति के वियुक्त हो जाने पर उसके संबंध की छोटी-छोटी बातें भी याद बनकर सताने लगती हैं, विशेषकर उसको पहुँचाया हुआ हलका कष्ट भी वियोग में भीषण बनकर उसे सताने लगता है। कृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा को यह बात साल रही है कि उसने कृष्ण को उनके नटखटपन के लिए एक दिन ऊखल में बाँध दिया था।[1]

---

१. मोहि देषि कै रिस भर्व थोरे दधि के काम।
उषल सं आनंदघन मै बाधे गहे दाम ।।३२।।
ता दिन तै षटकत सदा मेरो यह अबवेक।
उधो हूत नौ संभवै सुत सुभोग न एक ।।३३।।
—सनेह लीला, मुकुंददास,

लक्ष्मीनारायण ने एक विचित्र प्रकरण की अवतारणा की है। उद्धव से बातें करते-करते गोपियाँ अत्यन्त विह्वल हो जाती हैं। कृष्ण वहाँ प्रकट होते हैं और रास होता है। उस रास में शिव भी स्त्री-वेष में सम्मिलित होते हैं। उद्धव का भी मन रास में शामिल होने के लिए ललच जाता है और वे उस मंडल में घुसना चाहते हैं किंतु गोपियाँ उन्हें अनधिकारी कहकर रोक देती हैं। बाद में उद्धव को आर्त्त देखकर गोपियों को उन पर दया आ जाती है, और वे उन्हें शामिल कर लेती हैं। फिर, कृष्ण अंतर्धान हो जाते हैं और गोपियाँ पूर्ववत् उनके विरह में तड़पने लगती हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि गोपियाँ जब बात से उद्धव को न समझा सकीं तो अपने प्रेम का साक्षात्कार करके ही दिखा दिया। इसके बाद भी उद्धव को गोपियों के प्रेम में शंका रह जाती, यह सम्भव नहीं था।

इन काव्यों के वर्णन-प्रधान होने के कारण सबमें चरित्र खूब उभरा है। गोपी, उद्धव तथा कृष्ण के चरित्र को सबने नवीन दीप्ति, नया सौन्दर्य, नयी भंगिमा प्रदान की है। गोपियों के चरित्र की विविध स्तरीय व्याख्या सबने की है। नंददास और मुकुंददास (सनेह लीला) की गोपियाँ उद्धव के साथ व्यवहार में बड़ी शिष्टता का परिचय देती हैं। नंददास की गोपियाँ उद्धव को अर्घासन देकर उनकी परिक्रमा कर तब उनसे कृष्ण का समाचार पूछती हैं।[१] मुकुंददास की गोपियाँ भी मस्तक झुका कर-बद्ध प्रणाम कर बात आरम्भ करती हैं।[२] प्रागनि की गोपियाँ बड़ी शालीन और विलक्षण हैं। उद्धव उन्हें नंद-यशोदा के समक्ष ही कृष्ण का सन्देश कहते हैं कि वे तो तुम्हारे ही हैं, जहाँ बेचोगी वहाँ वे बिक जायेंगे। गोपियाँ अपने मौन से इस हल्केपन का परिहार करती हैं। उनकी विलक्षणता इस बात में है कि वे उद्धव से पहले वंशी का और बाद में मोहन का कुशल बताने को कहती हैं।[३] गोपियाँ मुरली की ध्वनि पर बिकी हुई थी, अतः मोहन से भी अधिक उसी के कुशल के लिए उनका व्यग्र होना स्वाभाविक है। इस रूप में प्रागनि की गोपियाँ अद्वितीय हैं।

कृष्ण से योग का सन्देश दिलाने में कोई नहीं चूका है, इसीलिए निर्गुण-सगुण-विवाद न्यूनाधिक रूप में सर्वत्र आया है और, इसी कारण गोपियों का विवादिनी रूप भी मात्रा-भेद से सर्वत्र देखने को मिलता है। गोपियों का यह रूप

१. अर्घासन बैठाय बहुरि परिक्रमा दीनी।
स्याम-सखा निज जानि बहुरि हित सेवा कीनी।
बूझत सुधि नंदलाल की बिहँसत मुख ब्रजपाल।
नीके हैं बलवीर जू बोलत बचन रसाल।
सखा! सुनि स्याम के ॥४॥

—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १५२

२. गोपी उधौ पै गई कीयो बंदन पानि।
सीस नवाय आदर कियौ सखा कृष्ण को जानि ॥४६॥

—सनेह लीला, मुकुंददास,

३. बंसी की कुसल कहौ मोहन की पाछे।

—भ्रमरगीत, प्रागनि,

चरम उत्कर्ष के साथ नंददास के 'भँवरगीत' में मिलता है जहाँ वे उद्धव से किसी तरह अल्प ज्ञानिनी और बुद्धिमती नहीं प्रतीत होती हैं।[1] नंद की गोपियों के तर्क में ज्ञान और बुद्धि का चमत्कार है, भावना का जोर नहीं। किंतु उनके तर्क में भावुकता भले ही न हो, वे स्वयं भावुकता-शून्य नहीं हैं। यहाँ तक कि उनमें तर्क अधिक है या भावुकता, यह निर्णय करना भी कठिन है। उनकी बातों में तर्क अवश्य है लेकिन भावुकता तो उनके कार्यों में है। वे उद्धव का बड़ा भावुकतापूर्ण स्वागत करती हैं, उनके मन-मधुकर के अपने चरण-कमलों में झुक जाने पर उनकी उपस्थिति को भी भूल जाती हैं और कृष्ण के प्रति उपालम्भ देने लगती हैं। नंद की गोपियों की भावुकता तो वहाँ अपनी चरम अवस्था पर पहुँच जाती है जहाँ वे बातें करते-करते विह्वल होकर एकाएक रो पड़ती हैं।

आगनि की गोपियों के तर्क में बुद्धि का चमत्कार कम, भावना की शक्ति अधिक है। उद्धव द्वारा योग-संदेश सुनकर वे कहती हैं कि जिनको मलयज अनल के समान प्रतीत होता है उन्हें तुम गरल का प्रलेप करने को कहते हो, जो प्रेम के लिये तृषित है उन्हें तुम संयम-नियम का पाठ पढ़ा रहे हो, कुसुम पर तुम कुलिश रख रहे हो तथा जो विरह-वापी में पड़ी हुई है उन्हें तुम योग से मूँद रहे हो।[2] उद्धव के पास भला इसका क्या उत्तर हो सकता है। इस भावुकता के ही कारण आगनि की गोपियाँ वाचाल हो गयी हैं। उद्धव ने योग-युक्ति का नाम लिया नहीं कि गोपियाँ उन पर टूट पड़ीं। वे योग का मखौल उड़ाने लगीं तथा कुब्जा को कोसने लगीं। उद्धव बीच में कुछ बोलने का अवसर ही नहीं पा सके। बारह पदों में गोपियों का भाषण चलता रहा, तब कहीं जाकर उनका दम टूटा।

मुकंददास की 'सनेह लीला' में गोपियाँ केवल भावनामयी हैं, तर्कशीलता वे बिलकुल नहीं हैं। इसीलिए वे उद्धव को तर्क देकर परास्त करने का प्रयत्न नहीं

२. जो उनके गुन नाहि और गुन भये कहां ते।
बीज विना तरु जमे मोहि तुम कहौ कहाँ ते।
वा गुन की परछाँह री माया दरपन बीच।
गुन तें गुन न्यारे नहीं अमल बारि मिलि कीच।
सखा ! सुनि स्याम के॥२२॥
—नंददास ग्रंथावली, सं० व्रजरत्नदास, पृ० १५५

१. मधुकर मन से सोचि कहो।
देस काल आनो उर अंतर तुम सर्वज्ञ अहो।
जिन्ह के अंग लगावत मलयज लागति अनल समान।
तिनको कहत प्रलेप गरल को यह है कहा प्रमान।
संयम नेम कहा नारिन में प्रेम तृषारत आहि।
राखत हो कुसुमन पर कुलिसहि विहित विचारत नाहि।
थक हम परी विरह वापी में आगनि विरह असूझ।
सो मूंदत हो जोग जंत्र दे यहै तिहारी बूझि॥२१॥
—भ्रमरगीत, आगनि

करतीं अपनी अनुभूति के बल से झुकाना चाहती हैं। गोपियाँ पुनः पुनः कृष्ण की लीलाओं का उल्लेख करती हुई कहती हैं कि इसे हम लोगों ने देखा है, तुम क्या जानों ! फिर, वे अपने प्रेम का परिचय भी देती हैं। वे कहती हैं कि हम लोगों के नयन मधुकर हैं और हरि का आनन सरोज है, अतः हम दोनों का सम्बंध-विच्छेद होगा कैसे ? मोहन और गोपियाँ अनन्य हैं।[1] अन्यत्र कहीं भी गोपियाँ अपने अनन्य प्रेम का ऐसा और इस प्रकार परिचय नहीं देतीं। गोपियों की इस युक्ति से ऐसा प्रतीत होता है कि गोपियाँ समझती हैं, उद्धव अपने मन से हमारे और कृष्ण के प्रेम के बीच दखल देने आया है। गोपियाँ भूल गयी हैं कि उद्धव को उन्हीं के प्रियतम ने भेजा है ! उनके प्रेम की यह लीनता अन्यत्र दुर्लभ है। गोपियों के इस गूढ़ प्रेम का अनुमान उद्धव को भी हो जाता है। तभी तो वे स्वीकार करते हैं कि छह महीनों में भी मैं उनके प्रेम को नहीं समझ सका।[2]

वृंदावनदास की गोपियों में नंद की गोपियो का तर्क और मुकुंददास (सनेह लीला) की गोपियों की भावुकता दोनों हैं। कृष्ण के ब्रह्म-ज्ञान-संदेश के उत्तर में गोपियाँ कहती हैं कि उनका कथन है कि घट-घट में ब्रह्म है, किन्तु उन्होंने मथुरा में जाकर कंस को मार दिया, क्या उसमें उनको ब्रह्म न दीखा ?[3] कैसा तर्क है ! उद्धव को तो गोपियाँ निरुत्तर ही कर देती हैं। तर्क से उद्धव जैसे ज्ञानी तो हार नहीं सकते, अतः ऐसे समय गोपियों की भावुकता ही काम आती है। वे उद्धव से कहती हैं कि हम लोगों ने कब तुमसे योग के लिए विनय की कि तुम उसे हम लोगों के पास

---

१. नैन हमारे मधुकरा आनन कृष्ण सरोज।
   व्रज छाड़ी ब्रिह दिवस ते वैसी भये मनोज ॥६९॥
   मन मोहन यह नाव है मोहन नैन विसाल।
   मोहन मूरवि माधुरी मोहन बचन रसाल ॥७०॥
   सब अंग मोहन रूप है मोहन सब उनहारि।
   मोहन पै कछु मोहनी लै तोही व्रजनारि ॥७१॥
   —सनेह लीला, मुकुंददास

२. और गोपिन के प्रेम की महिमा कछू अनंत।
   मैं बूझी षट्मास लौं तौ हू न आवै अंत ॥१०८॥
   वैह चित ते टारत नहि स्याम राम की जोरि।
   मध लायक मुरली कहै मुरलि मधुर किसोर ॥१०९॥
   —वही

३. ब्रह्म जो घट-घट में हरि बूझै।
   मथुरा जाय कंस को मार्‌यो वामैं ब्रह्म न सूझ।
   हम में ब्रह्म नहीं हो कहा वा कुबिजा अरुझै।
   वृंदावन हित रूप पठायें हमें ज्ञान के गूझै ॥७१॥
   —भंवरगीत, वृंदावनदास

लाये हो ![1] गोपियों की भावुकता का अंत यहीं नहीं है। वे तो अब कृष्ण की निष्ठुरता के लिये उन्हें दोष नहीं देतीं, अपने को ही अपराधिनी ठहराती हैं। आखिर उन लोगों ने कृष्ण से प्रेम ही क्यों किया और किया भी तो अब तड़पती क्यों हैं ! वे सारा दोष अपनी ही बुद्धि को देती हैं जो उनकी बैरिन हो गयी।[2]

कहने के लिये वे चाहे जो कहें, अपने हृदय से प्रिय-मिलन की कामना को कैसे निकाल सकते हैं ! यह वह स्थल है जहाँ आकर हर प्रेमी हार जाता है। गोपियाँ बड़ी दीनता से पूछती हैं कि हे उद्धव ! हरि कितने दिनों में आवेंगे।[3] इन शब्दों में उनकी विवशता साकार हो उठी है। वृंदावनदास की गोपियाँ इस अर्थ में सबसे विलक्षण हैं कि वे अपने प्रेम का प्रदर्शन करके ही नहीं रह जातीं बल्कि उद्धव को उसी रंग में रंग जाने के लिए बाध्य करती हैं। गोपियों को हार मानते नहीं देखकर उद्धव जब अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं तो गोपियां पैंतरे बदलती हैं। अब वे व्यंग्य और उपालम्भ के अस्त्रों से आहत प्रतिपक्षी से अपना प्रभुत्व स्वीकार कराने लगती हैं। वे उद्धव को अपनी असमर्थता पर सिर धुनते हुए देखकर कहती हैं कि योग भी फल की इच्छा से ही किया जाता है। ज्ञान योग के द्वारा मुक्ति रूपी खारे फल की प्राप्ति होती है जबकि भक्ति के द्वारा कृष्ण रूपी कल्पतरु के दर्शन होते हैं। इस कल्पवृक्ष के मधुर फल का स्वाद गोपियाँ ही जानती हैं, निर्गुण रस का आस्वाद करने वाला उस सुख को क्या समझे ! इतना कहने के बाद गोपियाँ मानो उद्धव पर दया करती हुई कहती हैं कि अगर तुम्हारी बुद्धि में यह बात अटे तो

---

१. ऊधौ हम कब विनय करी।
निर्गुन ज्ञान हमें उपदेषौ पंडित स्याम हरी।
विन सरधा जो गरे चपेकौ तो कित गर्ज खरी।
हमरे कथा रूप रस लीला मन में सुमर मरी।
योग जुक्ति जो प्यारी लागत तो क्यों इतहि धरी।
वृंदावन हित रूप रावरी चितवनि हिये अरी ।।१६।।

—भंवरगीत, वृंदावनदास

२. ऊधौ सुनि बैरिन अपनी मति है।
काहे को कियो सनेह स्याम सौं काहे अब तलफति है।
यह तो भई नाद की कुरंगिनि बिसरि चलनि की गति है।
मोहन मोहन रूप दिखाय दृगनि अब डोलति भरति बिपति है।
पैरत सुभग स्याम सागर में खोई लज्जापति है ।।३०।।

—वही

३. ऊधौ हरि आवेंगे कै दिन में।
प्राननि नाथ कमल दल लोचन जीव बसत नित जिनमें।
सुनि हौ सखा साँच अब बोलो बार-बार हम बिनमें।
वृंदावन हित रूप रावरे मग हेरत छिन-छिन में ।।७७।।

—वही

हमारी बात स्वीकार कर लो। वृन्दावन की गोपियों के सामने उद्धव बच्चे-से लगते हैं !

बख्शी हंसराज के 'विरह विलाप' में गोपियों का यह उपदेशिका रूप और भी बढ़कर आया है। यहाँ तो गोपियाँ समझती हैं कि उद्धव को हम लोगों से भक्ति सीखने के लिये हरि ने भेजा है ![1] उद्धव को केवल कृष्ण ने ही प्रेम-पंथ पर चलने में असमर्थ नहीं पाया, गोपियाँ भी उन्हें कहती हैं कि हमारा प्रेम-पंथ सरल पंथ नहीं है, कुब्जा-पंथ को छोड़कर ही उस पर चला जा सकता है।[2] वृन्दावनदास की गोपियों की तरह बख्शी हंसराज की भी गोपियाँ सीखने के बदले सिखाने लगती हैं।

इस परम्परा के सभी काव्यों में विलक्षण गोपियाँ रसनायक की हैं। कुब्जा के प्रति सापत्न्य भावनाजनित व्यंग्य और कृष्ण को इसके लिये उपालम्भ, इनसे किसी की भी गोपियाँ मुक्त नहीं हो पायी हैं। और, इस तरह गोपियाँ वहाँ वासना से ऊपर नहीं उठ सकी हैं। सापत्न्य भावना प्रिय के साथ वासनात्मक सम्बन्ध होने के कारण ही उत्पन्न होती है, अन्यथा एक भक्त के लिए तो दूसरे भक्त को देखकर प्रसन्नता होना ही स्वाभाविक है। अतएव इस परम्परा के सभी काव्यों में निर्गुण-सगुण-विवाद के बावजूद गोपियाँ साधारण स्तर के ऊपर नहीं उठ सकी हैं। लक्ष्मीनारायण की गोपियाँ तो अपनी साधारणता स्वयं ही सिद्ध कर देती हैं। कृष्ण के प्रति बहुत कटु होकर उन्हें बुरा-भला कहती हैं। उद्धव को यह सुनकर खेद होता है और वे कहते हैं कि निममादि जिसे नेति नेति कहते हैं और जो हमारा सर्वस्व है उसे तुम लोग अपशब्द न कहो। इस पर गोपियाँ कहती हैं कि जिसे तुम योगी और ज्ञानी कहते हो, वह स्वयं भोगी और विलासी है। इसके समर्थन में गोपियाँ कृष्ण-कृत लीलाओं का उल्लेख करती हैं। यहाँ गोपियों की उग्रता और कृष्ण की लीलाओं के प्रति उनका दृष्टिकोण, उनकी साधारणता सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है।

रसनायक की गोपियाँ इन सबसे परे हैं। वे वासनामयी नारी नहीं, एक आदर्श भक्त हैं। इसीलिए वे कुब्जा को नहीं कोसती, कृष्ण को उपालम्भ नहीं देती। उनको केवल इसी की चिंता है कि भगवान् अपना 'विरह' भूल गये हैं। उनके कथन में ईर्ष्या का आभास भी नहीं है। उसमें भक्त-हृदय की आर्त्त पुकार जो प्रभु को उनके 'विरह' की याद दिलाकर ही उनके ध्यान को अपनी ओर आकृष्ट करना चाहती है।[3] इसीलिए भगवान् के भेजे हुए योग-मुक्ति के संदेश का खंडन

---

१. जब तुमरे उर प्रेम न आयो तब तुम कहं हरि इहां पठायो।
—विरह विलास, बख्शी हंसराज

२. हमारो पंथ कठिन अति भारी क्यों सुनिहो यह बात हमारी।
कुबिजा पंथ छाड़ि यह साधौ तो तुम सौ दुष पैहे माधौ॥
—वही

३. सोच न हमें हैं गुन औगुन किये को।
कछु सोच न हमें है दधि माखन उजारे को।
सोच न हमें है रसनायक अमोही भये सोच न हमें है।
कीन्ही कुबिजा भले ही प्यारे कछू मथुरा सिधारे को।

और उपहास न कर उसे सादर ग्रहण करती हैं। प्रभु का प्रसाद हर हालत में ग्रहणीय होता है, यह केवल रसनायक की गोपियाँ ही जानती हैं। यहाँ रसनायक की गोपियाँ भक्ति के जिस उच्च पद पर पहुँच गयी हैं, उसकी छाया भी अन्यों की गोपियाँ नहीं छू सकतीं। योग-मुक्ति का संदेश वे स्वीकार तो कर लेती हैं किंतु यह वस्तु उनके किसी प्रयोजन की नहीं है। वे उसे रखकर उसका क्या उपयोग करेंगी ! फिर, उद्धव स्वामी के संगी एवं उनके सम्मान्य अतिथि हैं। लोकरीत्यनुसार विदा के समय उन्हें कुछ भेंट दी जानी चाहिए। गोपियों के पास तो और कुछ है नहीं कि वे उद्धव को दें। और, अतिथि को साधारण उपहार कैसे दिया जा सकता है ? जीवन धन द्वारा प्रेषित उपायन उनके किसी काम का न होकर भी उनके लिये अत्यन्त मूल्यवान् है। अतएव वे योग-मुक्ति उद्धव को ही प्रस्थान करते समय समर्पित कर देती हैं ![1] अन्य कवियों द्वारा गोपियों से दिलाया हुआ सारा तर्क और उनसे दिखवायी हुई सारी भावुकता रसनायक की इस योजना के समक्ष हलकी पड़ जाती है।

रसनायक की गोपियों मे जो मर्यादा की भावना है उसका अन्यत्र नितांत अभाव है। सभी की गोपियाँ उद्धव के समक्ष ही कृष्ण-कुब्जा के सम्बन्ध को खोलकर रखने लगती हैं। उनको इसका तनिक भी ध्यान नही है कि आत्मीयों की अनुचित बातें भी दूसरों के सामने नही कहनी चाहिए, इससे कहने वाले की ही मर्यादा की हानि होती है। यह मर्यादाशीलता की भावना रसनायक की ही गोपियो में है। वे उद्धव के समक्ष इस प्रसंग की चर्चा न कर पत्र द्वारा ही अपनी पीड़ा व्यक्त करती हैं। रसनायक की गोपियों की विनम्रता भी द्रष्टव्य है। अन्यत्र गोपियाँ अपने को चतुरा मानिनी दिखाने का प्रयत्न करती है। वे अपने चातुर्य से उद्धव को परास्त कर देना चाहती हैं। रसनायक की गोपियाँ अपनी विनम्रता से उद्धव को लज्जित कर देती हैं। वे उद्धव से कहती हैं कि तुम्हारे निर्गुण को समझने वाला ब्रज में कोई नहीं है, यहाँ तो ग्वाले ही रहते हैं।[2] इस तरह रसनायक की गोपियाँ सभी की गोपियों से आगे है।

सोच न हमें है जोग ग्यान हिय धारै कौ।
गोपी नाथ वाजि गोपी रोवत ही छाँड़ी।
ताको सोच है हमारौ ऊधौ विरद बिसारै कौ ॥२८॥
—विरह विलास, रसनायक

१. मुकति कृपा करि साँवरे अलि उन भेजी सोहि।
लीनी सीसि चढ़ाय हम रीझ देत हैं तोहि ॥५५॥
—विरह विलास, रसनायक

२. मधुबन की मानिनी जितीं सुघर जानि है सार।
निर्गुन तहाँ लै जाहु अलि ब्रज ही बसत गँवार ॥१०२॥
—वही

इस परम्परा के काव्यों में गोपियों के बाद दूसरे प्रमुख व्यक्ति उद्धव हैं। कृष्ण तो यहाँ यवनिका के पीछे बैठे हुए हैं और मंच पर उद्धव तथा गोपियाँ ही हैं। जिस तरह गोपियों को सबने अपने-अपने ढंग से उपस्थित किया है, उसी तरह उद्धव भी एक ही नाम में भिन्न-भिन्न व्यक्तित्व हो गये हैं। उद्धव निर्गुण ज्ञान के प्रतिनिधि बनकर आये हैं जिसकी व्यर्थता दिखाना इन काव्यों का लक्ष्य है। अतएव सर्वत्र उनका गोपियों से प्रभावित होना दिखाया गया है। उद्धव के चरित्र की प्रधान रेखा यही है। किंतु इसके अतिरिक्त सबने उनके चरित्र को रूपाकार देने के लिए अन्य छोटी-छोटी रेखाएँ खींची हैं। नंददास के उद्धव ज्ञान-सम्पन्न विवादी हैं, किंतु इसके अनुरूप उनका व्यक्तित्व दृढ़ नहीं है। ऐसा कदाचित् इसलिए प्रतीत होता है कि उनके पास एक ही अस्त्र है तर्क जबकि गोपियों के पचास तर्क के अतिरिक्त एक अमोघ अस्त्र है भावुकता। उद्धव के तर्क को तो गोपियाँ अपने तर्क से काट देती हैं परंतु गोपियों के भावुकता के प्रहार का कोई प्रतिकार उद्धव के पास नहीं है।

प्रागनि के उद्धव कृष्ण के सखा नहीं, उनके सेवक प्रतीत होते हैं। मथुरा से प्रस्थान करते समय वे कृष्ण का चरण-स्पर्श करते हैं। यही नहीं, ब्रज में जब गोपियाँ उनसे परिचय पूछती हैं तो वे अपना यही परिचय देते हैं कि 'हों सेवक वसुदेव सुअन की जन ऊधो मोहि नाऊँ।' अपने इस सेवकत्व का ध्यान वे सर्वत्र रखते हैं। ब्रज के अंदर प्रवेश करने के पूर्व वे उसकी परिक्रमा कर लेते हैं। स्वामी की क्रीड़ा-भूमि के प्रति यह भक्ति भावना स्वाभाविक ही है। उद्धव तो यहाँ तक समझते हैं कि कृष्ण ने ब्रज भेजकर प्रेमालक्षणा भक्ति देखने का जो अवसर दिया उससे मैं तर गया। इसीलिए गोपियाँ यहाँ उद्धव के लिए हरि के समान ही वंद्य हैं।[1] अन्यत्र उद्धव और कृष्ण में सख्य सम्बंध होने के कारण उद्धव में कृष्ण के प्रति यह पूज्य भावना नहीं देखी जाती।

'सनेह लीला' के रचयिता मुकुंददास के उद्धव लोकरीति में पटु हैं। वे ब्रज में जाकर नंद-यशोदा से मिलने पर कृष्ण की ओर से पहले प्रणाम निवेदित करते हैं और तब कुशल-समाचार कहते हैं। इसी तरह मथुरा लौटकर कृष्ण से मिलने पर वे गोपियों का अभिवादन कृष्ण को कहते हैं। उद्धव में केवल लोक-व्यवहार की ही पटुता नहीं है, गोपियाँ-जैसी प्रेमी के सान्निध्य से वे प्रेमियों की भी गति पहचानने लग गये हैं। द्वारका लौटकर कृष्ण से वे कहते हैं कि गोपियों के प्रेम की महिमा अनंत है, मैं तो छह महीनों में उस अज्ञेय वस्तु को न समझ सका। गोपियों के प्रेम को समझ पाने में अपनी असमर्थता बताकर वे उनके विषय में कितना अधिक कह

१. गदगद ह्वौ गोपीन्ह सों दीन बचन भाखौ।
जैसो हौ उनको जनत्रे सोई तिहारो।
भक्ति प्रेमलक्षणा सिषाइ सठहि तारो।।
उनहू कृपा निधान बहुत कृपा कीन्ही।
जोग के सिखावन मिसु आज्ञा मोहि दीन्ही।
आबो सुभ सगुन साधि सम्यक सुधि पाई।
— भ्रमरगीत, प्रागनि

रहे हैं। इसी तरह नंद यशोदा के सम्बंध में वे कहते हैं कि उनके विषय में क्या कहूँ, वह तो वे ही जानते हैं या तुम जानते हो।[1] उद्धव द्वारा दिया हुआ ऐसा विदग्धता-पूर्ण संदेश अन्यत्र दुर्लभ है।

लक्ष्मीनारायण के उद्धव उनकी गोपियों के ही सदृश सामान्य धरातल पर उतर आते हैं। गोपियाँ जब कृष्ण को दिव्य पुरुष न मान कर भोगी-विलासी बताने लगती हैं तो उद्धव को कोई आधार नहीं मिलता है और तब वे कहते हैं कि निग-मादि जिसे नेतिनेति कहते हैं तथा जो हमारा सर्वस्व है, उसे तुम खरी-खोटी न सुनाओ। यहाँ वे ऐसे प्रतियोगी के समान मालूम पड़ते हैं जो अपने प्रतिपक्षी के तर्कों से हारकर कहने लगे कि ऐसा न कहो।

वृंदावनदास के उद्धव सबसे विलक्षण हैं। वे एक तटस्थ दूत नहीं, बल्कि एक शुभचिंतक गुरु हैं। वे गोपियों से तर्क कर उन्हें पराजित नहीं करना चाहते, उन्हें अज्ञानी जान कर समझाते हैं। वे उन्हें बार-बार समझाते हैं कि बिना सोचे-विचारे किसी वस्तु को बुरा कहना उचित नहीं, जरा सोच कर देख लो। किंतु गोपियाँ तो ऐसी हैं कि सुनना ही नहीं चाहतीं और समझना तो दूर! तब उद्धव को अपनी असमर्थता पर बड़ी खीझ होती है और वे कहते हैं कि मेरी तो सभी सभा-चातुरी यहाँ भूल गयी।[2] प्रतिद्वंद्वी के पराक्रम से हतप्रभ योद्धा पर वार करती हुई गोपियाँ ही उन्हें उपदेश देने लगती है और तब उद्धव उनके प्रेमी की महत्ता स्वीकार कर लेते हैं। इस तरह उद्धव यहाँ गोपियों के प्रेम से अभिभूत होकर उनके रंग में नहीं रँगते हैं, बल्कि हारकर उनकी बात मान लेते हैं। अतः सबसे दुर्बल व्यक्तित्व वृंदा-वनदास के ही उद्धव का है।

इन घटनाओं के सूत्रधार कृष्ण का चरित्र भी इन विविध खंडकाव्यकारों के हाथ में पड़कर विभिन्न हो गया है। अलौकिकता सभी के कृष्ण पर छायी हुई है। गोपियों के अद्भुत प्रेम से प्रभावित उद्धव जब कृष्ण के पास लौटकर उन्हें मानव-बुद्धि के अनुसार समझाते हैं तो कृष्ण अपने ब्रह्मत्व का वर्णन उनके समक्ष करते हैं। उनका मूल रूप यही है, फिर भी, उनके मुख-मंडल की छोटी-छोटी रेखाएँ उनके चरित्र को विविधरंगी दीप्ति प्रदान करती है। नंददास के कृष्ण एक सच्चे प्रेमी हैं जो प्रेमिका की विह्वलता जानकर स्वयं विह्वल हो जाते है। प्रागनि के कृष्ण भी एक आदर्श प्रेमी हैं। व्रज से लौटकर उद्धव जब सीधे उनके पास न जाकर अपने घर

---

१. नंद जशोधा दोउन की कहीयै कहा बनाय।
वै जानै कै तुम भले हमपै कहि न जाय ॥१०७॥
—सनेह लीला, मुकुंददास

२. सुनत सखा के बैन नैन आए भरि दोऊ।
बिबस प्रेम आवेस रही नाहिन सुधि कोऊ।
रोम रोम प्रति गोपिका ह्वै गई साँवरे गात।
काम तरोवर साँवरो व्रज बनिता ही पात।
उलहि अँग अँग ते ॥७३॥
—नंददास ग्रंथावली, स० व्रजरत्नदास, पृ० १६६

चले जाते हैं तो वे अपने प्रेम-पात्र का समाचार जानने के लिए अत्यंत व्याकुल हो उठते हैं और दूत भेजकर उद्धव को बुलाते हैं। कृष्ण यहाँ मर्यादाशील भी हैं। वे उद्धव से पहले नंद-यशोदा का और उसके बाद गोपियों का कुशल पूछते हैं। मुकुंददास की 'सनेह लीला' में कृष्ण का यह रूप और भी उभर कर सामने आया है। उद्धव को ब्रज भेजते समय उन्हें नंद-यशोदा का ही अधिक ख्याल है। उद्धव जब वहाँ एक कार्य से जा ही रहे हैं तो चलो, गोपियों को भी सान्त्वना के दो शब्द भेज दिये जायँ, यही रूप यहाँ कृष्ण का है। वे उद्धव को नंद-यशोदा को सुख देने के ही लिए भेजते हैं और कहते हैं कि पिता-माता से प्रीति तोड़ते हुए नहीं बनता। 'उद्धव को ब्रज भेजने का उद्देश्य यही है। इसी के साथ-साथ वे ब्रज-योषिताओं को पूरन ब्रह्म सुग्यान' का उपदेश भेज देते हैं।[1]

प्रेमदास और बख्शी हंसराज के कृष्ण इस परम्परा के सभी काव्यों के कृष्ण से भिन्न हैं। यहाँ वे वियोग-संतप्त एक साधारण मानव हैं और विरहाकुलतावश ही वे उद्धव को प्रेम-संदेश देकर भेजते हैं। बख्शी हंसराज के कृष्ण में यह भावना और भी पुष्ट है। यहाँ वे दर्पहारी भगवान् नहीं जो उद्धव के ज्ञान-गर्व को खंडित कराने के लिए उन्हें ब्रज भेजते है। कृष्ण यहाँ प्रेम और कर्तव्य के अंतर्द्वंद्व से पीड़ित एक साधारण मानव हैं। एक ओर नंद -यशोदा तथा गोपियों का प्रेम उन्हें ब्रज की ओर खींचता है तो दूसरी ओर मथुरा का पीड़ित लोक-समाज उन्हें वहाँ रहने के लिए बाध्य करता है। लोक-रक्षा का कार्य वे ही कर सकते हैं किंतु प्रेम-पात्रों को तो उनका दूत भी जाकर सांत्वना दे सकता है। अतः इसी द्विविधा की स्थिति में पड़े हुए कृष्ण उद्धव को ब्रज भेजते हैं। राधा को लिखे गये प्रेम पत्र में उनकी वेदना साकार हो गयी है।[2] इसी तरह प्रेमदास के कृष्ण द्वारा प्रेषित सम्वाद में एक विरही की कातरता द्रष्टव्य है।[3] रत्नदास के कृष्ण भी प्रेम-संकट को पहचानने वाले

---

१. एक समै व्रजवास की सुरत करी हरिराइ।
निज जन अपनौ जानि कै उद्धव लिये बुलाइ ।।१।।
श्रीकृष्ण वचन ऐसे कहै उद्धव तुम सुनि लेहु।
नंद यशोदा आदि दै व्रजै जाय सुष देहु ।।२।।
व्रजवासी वल्लभ सदा मेरे जीवन प्राण।
तातें नीमष न बीसरो मोहि नंदराय की आन ।।३।।
मैं उनसों एसें कही आमंगे रिपु जीति।
अब तोरे कैसे बने पिता मात सों प्रीति ।।४।।
उद्धव ते व्रज जोषिता उनकै मेरौ ध्यान।
तिनको जाइ उपदेश देहु पूरन ब्रह्म सुग्यान ।।५।।
—सनेह लीला, मुकुंददास

२. तुम्हरे विषम विरह की धारें लगती निसु दिन अंग हमारे ।।८२।।
—विरह विलास, बख्शी हंसराज

३ बूड़त विरह सोक के सागर कैंसहु निकरत नाहीं।
अब तुम हमें निकारौ प्यारी पकरि हमारी बाँही ।।१५।।
—प्रेमसागर, प्रेमदास

एक आदर्श प्रेमी हैं। जब कुरुक्षेत्र से प्रस्थान करने का अवसर आता है तो उनके समक्ष यह संकट उपस्थित होता है। वे सत्यभामा, रुक्मिणी आदि मथुरावासियों के साथ लौटें या राधा, नंद, यशोदा आदि व्रजवासियों के साथ! इस विकट प्रश्न के समाधान के लिए कृष्ण को अलौकिकता का आश्रय लेना पड़ा। वे दो रूप धारण कर व्रज और मथुरा दोनों जगह जाते हैं। ऐसे प्रश्नों का कोई सफल मानवीय समाधान होता भी नहीं है!

इस परम्परा के खंडकाव्यों में प्रबंध-विधान सर्वथा उपेक्षित नहीं है। इनमें केवल नंददास ही ऐसे हैं जिनका कथा-विन्यास पर कोई ध्यान नहीं है। कथा यहाँ दार्शनिक सिद्धांत के प्रतिपादन का साधन मात्र है। कथा यहाँ सरिता की तरह प्रवाहित नहीं, सरोवर के सदृश स्थिर है। वस्तुतः नंददास का 'भँवर गीत' काव्य नहीं, दर्शन है। रत्नदास के 'प्रेमरत्न' और लक्ष्मीनारायण की 'प्रेम-तरंगिनी' में प्रबंध को पुष्ट करने का विशेष प्रयास लक्षित होता है। इन दोनों ने मूल कथा शुरू करने के पूर्व प्रबंध को दृढ़ आधार देने के लिए पृष्ठभूमि का निर्माण किया है। लक्ष्मीनारायण, सेवादास पाण्डेय और बख्शी हंसराज ने कथा का अध्यायों में विभाजन भी किया है। लक्ष्मीनारायण की 'प्रेम तरंगिनी' में संघटन की एक असंगति दीखती है। इसमें उद्धव के समक्ष गोपियों के विह्वल हो जाने पर कृष्ण प्रकट होकर रास करते हैं और फिर अंतर्धान हो जाते है। यहाँ भाव गहन होते-होते मूर्त ही हो गया है। इसके बाद पुन: भाव-धारा का विकास अनावश्यक ही नहीं, खटकने वाला हो जाता है। किंतु उस अनौचित्य पर ध्यान नहीं देकर यहाँ कथा-सूत्र को आगे ताना गया है। आगे उद्धव का मथुरा-प्रत्यागमन और कृष्ण से गोपियों की विरहाकुलता वर्णित है जो सर्वथा अस्वाभाविक प्रतीत होता है।

इस परम्परा के खंडकाव्यों की वर्णन-प्रधानता के कारण इसमें कथा का उतार-चढ़ाव नही मिलता। इनमें कथा समतल मैदान की सरिता की तरह बिलकुल सीधी और अत्यंत मंथर चलती है। नंददास को छोड़कर सबके खंडकाव्यों का प्रारम्भ कथात्मक है और अंत तक यह कथात्मकता एक समान छायी रहती है।

रत्नदास के 'प्रेमरत्न' को छोड़कर प्रवासजनित विरह इस परम्परा के सभी खंडकाव्यों में है। किंतु इन सबके प्रतिपादन में अंतर है। नंददास के 'भँवरगीत', ग्वाल कवि के 'भ्रमरगीत', मुकुंददास की 'सनेहलीला', रसनायक के 'विरह विलास', मुकुंददास के 'भँवरगीत', लक्ष्मीनारायण की 'प्रेमतरंगिनी' और वृंदावनदास के 'भंवरगीत' का साध्य ही प्रवासहेतुक वियोग है। प्रेमदास के 'प्रेमसागर', सेवादास के 'करुणा विरह' और बख्शी हंसराज के 'विरह विलास' का मार्ग अवश्य ही प्रवासोत्पन्न विरह है लेकिन इनका साध्य तो कुरुक्षेत्र में घटित मधुर संयोग है। और, जैसे नंददासादि के खंडकाव्यों का केवल साध्य ही है और वह है प्रवास-सम्भव वियोग, वैसे ही रत्नदास के 'प्रेमरत्न' का भी मात्र लक्ष्य ही है और वह है प्रवासोपरांत मिलन। इस प्रकार रस-विधान की दृष्टि से इस प्रसंग के खंडकाव्य तीन प्रकारों में विभाज्य हैं। नंददासादि के खंडकाव्यों का जहाँ अंत होता है वहाँ से रत्नदास के खंडकाव्य का आरम्भ होता है। और, प्रेमदासादि के खंडकाव्य अपने

दीर्घतर कथा-वृत्त के कारण इन दोनों प्रकार के खंडकाव्यों को अपने अंदर सम्मिलित कर लेते हैं।

यहाँ आलम्बन रसिक-शिरोमणि श्री कृष्ण हैं, आश्रय गोपियाँ हैं, उद्धव का आगमन और उनका संदेश ही उद्दीपन है तथा इन विविध रसोत्पादनों से निष्पन्न होने वाले विप्रलम्भ का हेतु कृष्ण का मथुरा-प्रवास है। उद्धव से वार्तालाप के क्रम में गोपियों ने अपने विरह-संतप्त हृदय को निकाल कर रख दिया है। इस प्रसंग को लेकर अद्भुत विरह-काव्य की सृष्टि हुई है। यह काव्य वह स्टेथोस्कोप है जिसमें विरही-हृदय की प्रत्येक धड़कन सुनी जा सकती है। नंददास ने विरह की विह्वल स्थिति का बड़ा सुन्दर और मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है।[1] यह चित्र अनुभावों की रेखाओं से सजीव हो उठा है। स्मृति,[2] गुण-कथन,[3] आदि अनेक काम दशाओं तथा दैन्य[4] आदि संचारी भावों की योजना से विरह के विविध स्तरों की सांगोपांग अभिव्यक्ति हुई है। प्रागनि ने तो गोपियों को विरह की प्रतिमा ही बना दिया है। उनकी प्रेम-विह्वल स्थिति को देखकर उद्धव जैसे बुद्धिवादी भी असमंजस में पड़ जाते हैं कि इन्हें निर्गुण ब्रह्म का उपदेश कैसे दिया जाय।[5] यहाँ गोपियों की तन्मयता को उनकी चेष्टाओं या उक्तियों में न दिखाकर उद्धव की द्विविधा में दिखाना बड़ा मार्मिक है। प्रागनि की गोपियों ने कृष्ण को जो सन्देश भेजा है उसमें तो केवल यही कहना पर्याप्त नहीं है कि दैन्य संचारी है, बल्कि गोपियों की दीनता उसमें

---

१. सुनत स्याम को नाम बाम गृह की सुधि भूली।
भरि आनन्द रस हृदय प्रेम बेली दम फूली।
पुलक रोम सब अंग भए भरि आए जल नैन।
कंठ घुटे गदगद गिरा बोल्यो जात न बैन।
विवस्था प्रेम की ॥३॥
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १५२

२. वही।

३. जो मुख नाहिन हुतौ कहौ जिन माखन खायौ?
'पायन' बिन गोसंग कहौ को बन बन धायौ?
आँखिन में अंजन दियौ, गोबरधन लियौ हाथ।
नंद जसोदा पूत हैं कुंवर कान्ह ब्रजनाथ।
सखा सुनो स्याम के।—वही पृ १५४

४. हमकौं तुम पिय एक ही तुमकों हमसी कोरि।
बहुताइत के रावदे प्रीति न डारो तोरि ॥३२॥ —वही, पृ० १५८

५. कठिन परी ऊधौ को आनि।
उत आज्ञा ते कहो चाहत हैं इतै प्रेम की खानि ॥१२॥
—भ्रमरगीत, प्रागनि।

साकार हो गयी है।[1] मुकुंददास की 'सनेह लीला' में गोपियाँ रास-क्रीड़ा, जल-क्रीड़ा, चीर-हरण, गोवर्धन-धारण, आदि प्रसंगों का स्मरण करती हुई अपनी आकुलता व्यक्त करती हैं।[2] वृंदावनदास के एक पद में औत्सुक्य और दैन्य संचारियों का मिलित प्रभाव बड़ा चमत्कारपूर्ण है।[3]

इस प्रसंग के कुछ खंडकाव्य ऐसे भी हैं जिनमें गोपियों को आश्रय नहीं कहा जा सकता। प्रेमदास के 'प्रेमसागर' और बख्शी हंसराज के 'विरह विलास' में कृष्ण का रूप आश्रय का ही है। यहाँ वे प्रेम-विभोर होकर ही उद्धव के द्वारा प्रेम-सन्देश भेजते हैं। उस प्रेम-सदेश में उनके हृदय की तड़प देखी जा सकती है। प्रेमदास के कृष्ण की स्थिति तो बिल्कुल आश्रय की ही है।[4] वृंदावनदास के कृष्ण की स्थिति भी इससे भिन्न नहीं है। वे भी कुछ ऐसा ही सन्देश पत्र में लिखते हैं।

जिन खंडकाव्यों की कथा कुरुक्षेत्र में कृष्ण के जाने और ब्रजवासियों को दर्शन देने तक चली है, उसमें संयोग श्रृंगार का भी हल्का स्पर्श हो जाता है। वहाँ सम्भोग श्रृंगार पूर्णरूपेण निष्पन्न नहीं होता, क्योंकि यह मिलन दर्शन तक ही सीमित है।

---

१. हमको सपने मिलि न विसारो।
बिन अपराध तजी हम दासी कहा हमारो चारो।
मारग जात बिना श्रम सेवा कियो कुटिल को गारो।
अब ऊधो मधुवन कुब्जा सों स्याम अपनैपो हारो।
वास भविरथ कही वरषा रितु तब काहे गिरधारो।
तब राखी दावानल ते अब विरह अनल हिय जारो।
जो पै हुती यहै की वे वधु तवही क्यों न विचारो।
प्रागनि प्रभु सो कहिये उधौ यह सन्देश हमारो ॥३१॥
—भमरगीत, प्रागनि।

२. एक समय निस सरद की मोहन बैन बजाय।
बैन सैन दै ब्रज बधु लीनी सबै बुलाय ॥७३॥
अरस परस हम सू मिलै कुंजन करत विहार।
सो सुष नाहिन बीसरै सुमरत्त बारम्बार ॥७४॥
एक समै जल कै विषै करत केल असनान।
चीर चोरि तरु पै चढ़ै वे जशोधा के कान्ह ॥७५॥
हम तो नाहि न बीसरै भुजबल की उनहारि।
राषि लीयो ब्रजकुल सबै करपरि गिरवर धारि ॥७६॥
—सनेहलीला, मुकुंददास,

३. भँवरगीत, वृंदावनदास, पद-संख्या ॥७७॥

४. बूड़त विरह सोक के-सागर कैसहु निकरत नाहीं।
अब तुम हमें निकारौ प्यारी पकरि हमारी बाँही ॥१५॥
—प्रेमसागर, प्रेमदास,

संयोग एवं वियोग शृंगार के अतिरिक्त कुछ खंडकाव्यों में वात्सल्य रस की भी झाँकी मिल जाती है। उद्धव के ब्रज जाने पर यदि गोपियों का विरह उद्दीप्त हुआ तो नंद-यशोदा के हृदय में वात्सल्य के उद्बुध होने के लिए भी यह उतना ही सशक्त उद्दीपन है। किंतु इस स्थल को सभी खडकाव्यकारों ने नहीं पहचाना है। प्रागनि, मुकुंददास, (सनेह लीला), लक्ष्मीनारायण और वृंदावनदास ने यशोदा के उद्गार में वात्सल्य रस भर दिया है। प्रागनि के यशोदा के मन में यदि कृष्ण के लिए वात्सल्य उमड़ रहा है[1] तो कृष्ण को भी यशोदा के इस स्नेह का ख्याल है।[2] मुकुंददास की यशोदा को एक ओर तो इसकी चिन्ता है कि कृष्ण को वहाँ रोटी-घी कौन देता होगा, दूसरी ओर कृष्ण को ऊखल में बाँध देने का अविवेक साल रहा है।[3] वृंदावनदास की यशोदा की तो ऐसी स्थिति है कि कृष्ण सदा उसकी आँखों के सामने ही रहते हैं।[4]

इस परम्परा के सभी काव्य न्यूनाधिक रूप में अलंकृत है। प्रागनि ने रूपक

---

१ बूझी कुसल राम केसव की नयन नीर भरि आये।
छाड़ी कानि कन्हैया मेरी मनहु मधुपुरी छाये।
तीजेबत जंहु पूत चाहिए तहे तो दीन्ह विसारी।
धाइह के नाते नहिं प्रागनि लीन्ही सुद्धि हमारी।४।

—भ्रमरगीत प्रागनि,

२. ऊधो कुसल छेम तो आयो।
समाचार क्रम हीते कहियो दिन तो बहुत लगाये।
बाबानंद जशोदा मैया मो बिनु कहा करत है।
हौ कठोर पाहन ते ऊधो वै तो दिन न भरत है ।।४४।।

—वही,

३. वे तो भूखे होत है प्रातकाल की बानि।
वहा कहो को राखि है रोटि घृत सुसानि ।।२६।।
+ + +
मोहि देख के रिस भइ थोरे दधि के काम।
उखल सूं आनंद घन मैं बाधे गहै दाम ।।३२।।
ता दिन ते षटकत सदा मेरो यह अबबेक।
उधो दूत नो संभवै सुत्त सुयोग न एक ।।३३।।

—सनेहलीला, मुकुंददास,

४. ऊधौ ये रहें दृष्टिपथ आगे।
तुम जु कहत हम मधुवन छाँड़े मुहि ह्यां से लागे।
कबहुँ कछुक माँगत से सूझै कबहुँ मचलि के भागे।
वृंदाबन हित रूप लाड़िलै कबहुँ सोच से जागे ।।६।।

—भ्रमरगीत, वृंदावनदास,

के प्रति मोह दिखाया है। अन्य अलंकारों में उन्होंने उत्प्रेक्षा,[1] लोकोक्ति,[2] आदि योजित किये हैं। नंददास द्वारा योजित अलंकारों में परिकर[3] रूपक,[4] लोकोक्ति,[5] भ्रांतिमान,[6] यमक,[7] शब्दार्थालंकार संसृष्टि,[8] उदाहरण,[9] आदि उल्लेखनीय हैं। इस प्रसंग के खंडकाव्यों के सम्बन्ध में यह द्रष्टव्य है कि अलंकरण की प्रवृत्ति इनमें से किसी में भी नहीं है। सबका ध्यान कथ्य पर है, कथन की सजावट पर नहीं। इनमें से जो खंडकाव्य उत्तर मध्यकाल में लिखे गये उनमें भी युगोचित अलंकरण का अभाव है। ऐसा कदाचित् इसलिए हुआ कि यह प्रसंग निज में इतना रसपूर्ण है कि

---

१. बूझि कुसल राम केशव की नयन नीर भरि आये।
छाड़ी कालि कन्हैया मेरी मनहु मधुपुरी पाये ॥४॥

—भ्रमरगीत, प्राणनि,

२. अपै कंत कृपा करै सोइ सोहागिन नारी।

—वही,

३. ऊधो को उपदेश सुनो ब्रजनागरी।
रूप, सील, लावन्य सबै गुन आगरी।
प्रेम-धुजा, रस-रूपिनी, उपजावनि सुख पुंज।
सुन्दर स्याम विलासिनी, नव वृंदावन कुंज।
सुनो ब्रज नागरी ।१।

—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १५२

४. ता पाछे फिर मधुप यह लायौ जोग भुअंग ॥५८॥

नन्ददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १६३

५. निर्गुन गुन जो पाइयें लोग कहैं यह नाहिं।
घर आए नाग न पुजै बांबी पूजन जाहिं ॥१८॥

—वही, पृ० १५५

६. ताही छिन एक भँमर कहूँ तो उड़ि तँह आयौ।
ब्रज-बनिता के पुंज माँझ गुंजत छबि छायौ।
बैठ्यो चाहै पाय पर अरुन कमल दल जानि।

—वही, पृ० १६०

७. ताहि बताओं जोग जोग ऊधो जेहि पावो।

वही, पृ० १५४

८. गोकुल में जोरी कोऊ पावत नाहिं मुरारि।
मनों त्रिभंगी आपु हैं करी त्रिभंगी नारि।
(यमक और उत्प्रेक्षा की संसृष्टि)

—वही, पृ० १६२

९. उनमैं मोमैं हे सखा छिन भरि अन्तर नाहिं।
ज्यों देख्यौ मो माँहि वे हौं हूँ उनहीं माँहि।
तरंगिनी वारि ज्यों ॥७४॥

—वही, पृ० १६६

कवियों ने सीधे शब्दों में जो कुछ कह दिया वह रस-निर्भर हो गया, उसे अलंकृत करने की आवश्यकता नहीं हुई।

छंद-प्रयोग की दोनों प्रवृत्तियाँ इस परम्परा के खंडकाव्यों में देखी जाती हैं। प्रागनि, रसनायक, लक्ष्मीनारायण, सेवादास और बख्शी हंसराज ने अनेक छंदों का प्रयोग किया है। इनमें प्रबंधोपयुक्त छंद-योजना हंसराज की ही है जिन्होंने दोहा-चौपाई की मंथर गति छंद-शैली अपनायी है। नंददास, मुकुंददास (सनेह लीला), मुकुंददास (भंवरगीत), और वृंदावनदास ने आद्योपांत एक ही छंद रखा है। वृंदावनदास और नन्ददास एवं उनके अनुकर्ता मुकुंददास को छोड़कर दोहे का प्रयोग सभी ने किया है। किंतु नन्ददास भी दोहे से बिल्कुल मुक्त नहीं है। उन्होंने दोहा और रोला के मिश्रण से ही 'भँवरगीत' का छंद बनाया है जिसके अन्त में दस मात्राओं की एक पंक्ति रहती है। मुकुंददास की 'सनेह लीला' तो आद्योपांत दोहे में ही है। प्रबन्ध-रचना के लिए पद सर्वथा अनुपयुक्त होता है। उसका आकार ऐसा होता है कि उसमें कोई भाव चित्र अथवा किसी कथा का अंश एक पूर्ण रूप में आ जाता है। अतः पदों में प्रबन्ध-रचना करने पर कथा में प्रवाह न होकर उसमें टूट मालूम होती है और द्विरुक्ति तो प्रायः हो ही जाया करती है।

सभी खंडकाव्यों की भाषा ब्रजी है। भाषा के शिल्पी नन्ददास का तो कुछ कहना ही नहीं है, रसनायक और वृंदावन की भाषा भी बड़ी सशक्त है। वृंदावन दास की भाषा मुहावरेदार है तो रसनायक की भाषा प्रसाद गुणयुक्त और प्रवाह-पूर्ण है। प्रागनि की भाषा भी मुहावरेदार है इनकी भाषा में अधिकता तद्भव शब्दों की है किंतु तत्सम शब्दों का सर्वथा अभाव नहीं है। 'सनेह लीला' के रचयिता मुकुंददास की भाषा साधारणतया साफ है किंतु उसमें विकृत शब्दों का अभाव नहीं है। (नाम), चारत (चराते), कुवज्या (कुब्जा), रजध्यानि (राजधानी), जैसे प्रयोग मिल जाते हैं। 'भँवरगीत' के रचयिता मुकुंददास ने वस्तु, छंद और शैली, सबमें नन्ददास का अनुकरण किया है। भाषा का अनुकरण ये कैसे करते। अतः इसकी भाषा में लचरता स्पष्ट है। रत्नदास की भाषा अवधी, ब्रजी और खड़ी बोली की खिचड़ी है। सेवादास पाण्डेय ने ठेठ ब्रजी का प्रयोग किया है जिसमें विदेशी शब्द भी हैं।

कृष्णभक्ति मूलक विविध खंडकाव्य

ये सारे खण्डकाव्य चार कोटियों में विभाज्य हैं। प्रथम कोटि के खंडकाव्यों में राधा और कृष्ण द्वारा परस्पर एक-दूसरे की परीक्षा लेना वर्णित है। इस कोटि में उदय-कृत 'जोगलीला' और 'कृष्ण परीक्षा' तथा बाल-कृष्ण-रचित 'प्रतीक परीक्षा' उल्लेखनीय हैं। दूसरी कोटि के खंडकाव्यों में कृष्ण द्वारा कालीनाग के नाथने की कथा है। इस कोटि में सांवा जी का 'नागदमण' और गंगाधर की 'नागलीला' विवेच्य हैं। तीसरी श्रेणी के खंडकाव्यों में कृष्ण-द्वारा चीरहरण की कथा वर्णित है। इसमें उदय कवि के दो खंडकाव्य 'चीरहरण' और 'चीरचिंतामणि' विवेचनीय हैं। चौथी कोटि में एक ही खंडकाव्य—उदय-लिखित 'गिरिवरधर लीला' है जिसमें कृष्ण द्वारा गोवर्धन-धारण की कथा कही गयी है।

काव्योत्कर्ष की दृष्टि से इस अध्याय के खंडकाव्य अत्यंत साधारण ही हैं। इसका कारण कदाचित् यही है कि ये लीलापुरुषोत्तम की साधारण लीलाओं पर आधृत हैं। वस्तु की साधारणता के कारण ये खंडकाव्य उत्कर्ष से वंचित रह गये हैं। इन चारों कोटियों में प्रथम कोटि के खंडकाव्य अपेक्षया अच्छे हैं। उदय-कृत 'जोगलीला' में कृष्ण का छद्म वेष धारण कर बरसाने जाने और राधा का सम्भोग-सुख प्राप्त करने की कथा कही गयी है। इसके नाम का औचित्य यही है कि कृष्ण योगी वेष बनाकर बरसाने जाते हैं और अपनी वांछा पूरी करते हैं। वे एक बाग में जाकर धूनी रमाकर बैठ जाते हैं। बरसाने की सुंदरियाँ योगी का आगमन जान एकत्र होने लगती हैं। छद्म योगी उन्हें देखकर पद्मासन लगा लेता है। और आंखें बन्द कर लेता है। राधा एवं अन्य सखियां इस स्वांग को समझती हैं और मन ही मन मुसुकाती हैं।[1] ऐसा कहकर स्वांग की स्वाभाविकता को नष्ट कर दिया गया है। इसके बाद गोपियां योगी से आँख खोलने और राधा का ताप हरने की प्रार्थना करती हैं।[2] यहाँ दूसरी बार स्वाभाविकता भंग होती है गोपियाँ पहले ताप हरने की प्रार्थना कर चुकी हैं और तब योगी का साधारण व्यक्ति-जैसा परिचय पूछती हैं और उसके रूप पर निछावर होने की बात कहती हैं।[3] कृष्ण योगी बनकर आये हैं, अतः आध्यात्मिक भाव की रक्षा तब तक होनी चाहिए थी जबतक कि यह रहस्य एकदम खुल नहीं जाता।

जो हो, कृष्ण के स्वांग का उत्तर स्वांग से दिया जाता है। सखियाँ राधा को संकेत करती हैं और राधा योगिन बनकर आ जाती है। योगिन-योगी के पास आती है और वही वार्तालाप आरम्भ करती है। वह योगी से परिचय पूछती हुई कहती है

---

१. राधा अरु सब सखी लषि गति मोहन मन की।
जानत हैं सब जतन जुगति या जोगी जन की।
आपस में मुस्की सबै करि कीरति की कांन।
याते प्रगट करे नही अंनर की पहिचानि।
पियारे मित्रकी ॥१०॥
—जोगलीला, उदय

२. कहन लगी कर जीरि कुवरि की सषी सयानी ॥
दृग खोलौ महाराज षडी वड गोप घरानी ॥
कृपा दृष्टि करि कै अवै हरौ सबै संताप ॥
गोप राजरानी इतै जोग राज हौ आप ॥
ताप त्रिय कौ हरौ ॥११॥
—जोगलीला, उदय

३. तव कीरति नें कही कहां ते हो तुम आये ॥
कहा पिता कौ नाम कौंन जननी के जाये ॥
जोग लियौ किहि कारनें कहा तिहारौ नाउ ॥
इतनी अब सबही कहौ सांच वात वलि जाउं ॥
तिहारे रूप की ॥१३॥
—वही

कि यहाँ तुम क्यों भूल पड़े, यहाँ तो जो योगी आता है वह यहाँ से कान पकड़कर लौटता है।[1] किंतु यह योगी साधारण योगी नहीं है, यह तो भस्म कर देने की क्षमता रखता है[2] राधा भी यहाँ भोली नहीं पूर्ण चतुरा है। वह सफलता के साथ अपनी माता की आँखों में धूल झोंक कर मिलन का अवसर निकाल लेती है। कृष्ण अपने योग का प्रभाव दिखाने के लिए उस पर अभिमंत्रित भस्म फेंकते हैं। राधा उसके प्रभाव को सिद्ध करने के लिए झूठ-मूठ बेहोश हो जाती है।[3]

'जोग लीला' पर नंददास के 'भँवरगीत' का पूर्ण प्रभाव है। उसी प्रभाव-स्वरूप यहाँ भी निर्गुण-सगुण-विवाद की योजना की गयी है। छद्म वेषधारी कृष्ण और बरसाने की रमणियों में निर्गुण-सगुण को लेकर विवाद होता है। युवतियाँ सगुण का पक्ष लेती हुई कहती हैं कि निर्गुण ब्रह्म कठोर है जबकि सगुण सर्व-सुलभ तथा सुखपुंज है। निर्गुण से कुछ नहीं होता है, सगुण सब कुछ देने वाला है। निर्गुण की उपासना रिक्त कोठी को धोना है।[4]

इस कोटि के खंडकाव्यों में 'जोगलीला' के उपरांत उदय की 'कृष्ण परीक्षा' और बालकृष्ण की 'प्रतीति परीक्षा' शेष रह जाती हैं। वस्तु की दृष्टि से ये दोनों परस्पर विपरीत हैं। बालकृष्ण की 'प्रतीति परीक्षा' में कृष्ण ने राधा की प्रतीति की परीक्षा ली है तो उदय की 'कृष्ण परीक्षा' में राधा ने ही कृष्ण-प्रेम की परीक्षा ली है। उल्लेखनीय है कि दोनों में परीक्षित पात्र सफल हुए हैं। कृष्ण और राधा दोनों

---

१. जो जोगी आवै यहां कान पकरि घर जाहि ॥
कहा भूले फिरौ ॥३२॥ —जोगलीला, उदय

२. जोगी को घर दूरि जोग की जुगत न पाई।
बीरा की चठक न नई गई जोगिन वनि आई ॥
लाज न मारत भेष कों भस्म बांध घर धार।
बाद करै मत साध सौं मारैगो फटकार ॥
—भस्म है जाहुगी ॥३६॥
—वही

३. यह सुनि लई बिभूति सनक चुटकी भरि तानी।
जोग जंत्र करि मंत्र मौद माया भरमानी ॥
रूप दिवानी राधिका लषि सांवलि अवभूत।
बालबाल ह्वै गई तुरत ही परी न काहू कूत ॥
कपट ता नकंटी ॥४८॥
—वही

४. निर्गुन निपट कठोर सुलभ सगुन सुखरासी।
जोगानंद उदास प्रेम आनंद निवासी ॥
निर्गुन मैं नाहिन कछू सगुन सौं सब होइ।
कहा पोट बाधै कोऊ थाल कोठी धोइ ॥
नाथ हाथ न धरै ॥२१॥
—वही

परस्पर ली गई परीक्षा में खरा उतरते हैं। उदय के कृष्ण ने तो स्पष्ट कहा है कि राधा और मैं एक मन दो तन हूँ, राधा मेरे रोम रोम में बसी हुई है।[1]

कृष्ण-काली-युद्ध से सम्बंधित खंडकाव्य अत्यन्त साधारण कोटि के ही हैं, सांया जी का 'नागदमण', गंगाधर की 'नागलीला' की अपेक्षा उत्कृष्टतर है। इसमें कालीय-युद्ध के साथ सब पृष्ठभूमि-स्वरूप कृष्ण की किशोरावस्था वर्णित है जिसमें वात्सल्य एवं शृंगार रस का हलका स्पर्श है। भाषा में प्रसाद तथा ओज गुण द्रष्टव्य है।

तीसरे और चौथे वर्ग में उल्लिखित उदय के खंडकाव्य सभी दृष्टियों से अत्यन्त साधारण ही हैं और प्रकार-भेद के कारण ही उल्लेखनीय हैं।

इन सारे खडकाव्यों में अलकरण भी सामान्य ही है। इन खंडकाव्यकारों में उदय ने ही कतिपय अलंकारों की योजना की है। इनके द्वारा प्रयुक्त अलंकारों में उत्प्रेक्षा[2], अनुप्रास,[3] रूपक,[4] अर्थालंकार ससृष्टि[5], आदि उल्लेख्य हैं। बालकृष्ण, गगाधर और सांबा जी के खंडकाव्य अलंकरणविहीन हैं।

उदय की 'कृष्णपरीक्षा', 'चीरहरणलीला', 'जोगलीला', 'गिरिवरधरलीला' में आद्यंत एक ही छंद प्रयुक्त हैं। 'कृष्णपरीक्षा' में रोला तथा 'जोगलीला' और 'चीर हरण' मे रोला और दोहा के मिश्रण से बना हुआ छंद जिसके अंत में दस मात्राओं की एक पंक्ति रहती है, का व्यवहार हुआ है। बालकृष्ण की 'प्रतीतिपरीक्षा' में भी आद्योपांत रोला का प्रयोग हुआ है। सांया जी के 'नाग दमण' में भुजंग-प्रयात दोहा और छप्पय का व्यवहार हुआ है।

---

१. राधा मेरा देह मै राधा देही ॥
येक प्रान मन तन उभै पन प्रम सनेही ॥११९॥
रोम रोम मे रमि रहै राधा मो मन माहि ॥
कोटि कपट कोऊ करो नैकों न्यारे नाहि ॥१२०॥
—कृष्णपरीक्षा, उदय

२. लषी एक लषि गई कही कीरति ने जाई।
तषसी आयो एक बाग मे अव देषियै आई।
कानन मे मुद्रा महा झलकत रूप अपार।
मानहु भोग वियोग बर धर्‌यो जोग अवतार।
—जोगलीला, उदय

३. लीला ललित लाल गिरिधर की बाल ख्याल सुख सोहैं।
नैन बैन मुख स्रवन प्रान मन सुरनर मुनि जन मोहैं।
— गिरवरधर लीला, उदय

४. मन मोती परषं विना वनिक लेई।।६।।
—कृष्णपरीक्षा, उदय

५. सुष सुषमा की सीम है मुसिकनी सुहाई।
कमल कोस में मनहुं चपला चमकाई ॥६१॥
—वही

इन खंडकाव्यों में उदय के सारे खंडकाव्यों, बालकृष्ण की 'प्रतीतिपरीक्षा' और गंगाधर की 'नागलीला' की भाषा ब्रजी है। उदय की भाषा भी साफ-सुथरी है जिसमें प्रसाद गुण विद्यमान है। साँया जी के 'नागदमण' की भाषा डिंगल है जिसमें डिंगल-सुलभ ओज गुण तो है ही, प्रसाद गुण का भी अभाव नहीं है। डिंगल की कर्णकटुता से 'नागदमण' मुक्त है।

(ख) शैव परम्परा

इस संदर्भ में गोस्वामी तुलसीदास का 'पार्वती मंगल' और दयाराम का 'शिव-विवाह' विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 'पर अपवाद-विवाद-विदूषित बानिहि। पावनि करउं सो गाइ भवेस-भवानिहि।' का उद्देश्य होने के कारण गोस्वामी तुलसीदास ने अलौकिक पुरुष की अलौकिक कथा कही है। इसके विपरीत दयाराम के 'शिव-विवाह' में अलौकिक पुरुष की लौकिक कथा कही गई है। दयाराम के गौरा का वर वैसे ही खोजा जाता है जैसे किसी साधारण लौकिक नारी का। यहाँ दम्पति द्वारा गौरा के विवाह का निश्चय किये जाने पर एक ब्राह्मण इस कार्य के लिए भेजा जाता है। वह घूमते फिरते शिव के पास पहुँचता है और उन्हीं को हिमवान की कन्या के उपयुक्त समझता है। वह लौटकर राजा-रानी से शिव की महिमा का वर्णन करता है और दम्पति अपनी पुत्री के लिये ऐसे वर को पाकर प्रसन्न होते हैं। यहाँ गोस्वामी तुलसीदास के 'पार्वती मंगल' की तरह न तो नारद का इस प्रसंग में उल्लेख होता है न पार्वती को शिव की प्राप्ति के लिए तपस्या करनी पड़ती है और न सप्तर्षियों की सहायता ही यहाँ अपेक्षित होती है।

इसके आगे की घटनाओं में भी दयाराम ने कोई अलौकिकता का सन्निवेश नहीं किया है। शिव अपने वेष में ही निजी संगियों के साथ विवाह के लिए जाते हैं। गोस्वामी तुलसीदास के 'पार्वती मंगल' में भी शिव इसी रूप में परिणयार्थ चलते हैं किंतु उनके साथ सभी देवता अपने अपने समाज को लेकर बरात में चलते हैं और शिव अपना तथा अपने गणों का रूप-परिवर्तन भी करते हैं। दयाराम के 'शिव-विवाह' में शिव के बराती केवल भूत-प्रेतादि ही हैं, देवता नहीं और यहाँ उन्होंने अपना वेष-परिवर्तन नहीं किया है। हिमाचल की रानी दोनों जगह शिव के पागल रूप को देखकर बिगड़ उठी है और दोनों जगह हिमवान् ने उसे समझाया है।

पात्रों में भी थोड़ा अंतर है। 'पार्वती मंगल' में हिमाचल की पत्नी का नाम मैना है जबकि 'शिव विवाह' में हिमाचल की पत्नी का नाम चंद्रावती है।

कथा-योजना में इस साम्य-वैषम्य के अतिरिक्त दोनों काव्यों में आकाश-पाताल का अंतर है। 'पार्वती-मंगल' काव्य-कला-प्रवीण, सर्व शास्त्र-निपुण महाकवि की अत्यंत कलात्मक कृति है, 'शिव विवाह' अत्यंत साधारण प्रतिभा के कवि की पद्य-योजना मात्र है। 'पार्वती मंगल' का कथा-संघटन अपने ढंग का अनोखा है। इसमें कथा सरिता की तरह वक्र गति से प्रवाहित नहीं होती बल्कि वह काष्ठ खंड पर बैठी हुई लोहे की लाइन जैसी है जिसमें जोड़ स्पष्ट मालूम पड़ता है। इसमें कथा मोड़ नहीं लेती है, नाटकीय ढंग से दृश्य-परिवर्तन होता है। शिव के स्मरण करते ही सप्तर्षि प्रकट होते हैं, हिमाचल के घर विवाह की तैयारी का दृश्य देखते-देखते

अचानक शिव के यहाँ ब्रह्मा लग्न पढ़ते हुए देखे जाते हैं। किंतु यह नाटकीयता इस प्रकार से योजित है कि इसमें अस्वाभाविकता तो नहीं आने पायी है, उसमें चारुता आ गयी है और कथा में बहा ले जाने वाली गति आ गयी है। पुस्तक आरम्भ करते ही पाठक एक प्रवाह में बह चलता है और अंत तक वैसे ही बहता रहता है। इसीलिए डा० माताप्रसाद गुप्त[1] और चंद्रबली पाण्डेय[2] ने 'पार्वती मंगल' के प्रबंध-सौष्ठव को तुलसीदास के अन्य प्रबंध काव्यों से श्रेष्ठतर बताया है। 'शिव-विवाह' की कथा-योजना में कोई चमत्कार नहीं है। वर्णन चलता है। कवि वर्णन के लिए कहीं रुका नहीं है जिससे वस्तु-पट भी अत्यंत संकुचित हो गया है।

शिवा और शिव दोनों का चरित्र 'पार्वती मंगल' में अपेक्षया अधिक उभरा है। तुलसीदास की पार्वती दृढ़ व्रतधारिणी है। वह शिव की प्राप्ति के लिए जो कठोर तपस्या करती है वह योगीश्वरों के लिए भी दुष्कर है। सतीत्व का तो उसमें चरम रूप देखा जाता है। शिव जब ब्रह्मचारी वेष में उसके समक्ष उपस्थित होकर अपनी निंदा करते हैं और उसे अपने को वर-रूप में पाने का विचार-त्याग करा देने तथा तप से विरत करा देने का प्रयत्न करते हैं तो वह उन्हें बहुत फटकारती है। वह अपनी सखियों से कहती है कि शीघ्र ही इस बटुक को यहाँ से विदा करो। इस अवसर पर वह अपने सतीत्व का दृढ़ परिचय देती है। पतिव्रता के लिए पर-पुरुष-दर्शन एवं सम्भाषण निषिद्ध है, अतः पार्वती सीधे वेषधारी शिव को न कहकर उनकी ओर से मुँह फेरकर सखियों से कहती है।[1] दयाराम की गौरा का चरित्र तो 'शिव-विवाह' में प्रस्फुटित नहीं हुआ है किंतु एक स्थान पर उसकी विचारशीलता की झलक मिलती है। शिव के पागल-रूप को देखकर जब उसकी माता क्रुद्ध होती है तो उसके पिता हिमाचल उसे समझाते ही हैं, गौरा भी अपनी माता को समझाती है।

विवाह से सम्बंधित इस परम्परा के खंडकाव्यों में शृंगार रस का कहीं लेश नहीं है। कामारि के इस प्रसंग के वर्णन में शृंगार रस का साहस किसी कवि को न होना स्वाभाविक ही है। दयाराम के 'शिव-विवाह' में एक स्थान पर हास्य रस की झलक आ गयी है। शिव की बरात को देखकर सब लोग पूछते हैं कि यह बरात कहाँ से आयी और कहाँ जायगी। जब शिव यह बताते हैं कि वह हेमाचल की पुत्री को ब्याहने आये हैं तो लोगों को हँसी आ जाती है। वे लोग शिव को समझाते हैं कि

---

१. रामचरितमानस में शिव-विवाह उसके बालकांडों में कहा गया है, किंतु उसका कथा-प्रबंध इससे भिन्न है। यदि यह पूछा जाय कि दोनों में अधिक सुंदर कौन-सा है तो यह कहने में सम्भवतः किसी को संकोच न होगा कि 'पार्वती मंगल' का कथा-प्रबंध अधिक उत्कृष्ट है।

—पार्वती मंगल, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, भूमिका पृ० १०

२. इनमें प्रबंध अथवा वस्तु विन्यास की दृष्टि से 'पार्वती मंगल प्रधान है।

—तुलसीदास, चंद्रबली पाण्डेय, पृ० १००

१. बोली फिरि लखि सखिहि काँपु तनु थर-थर।
'आलि विदा करु बटुहि बेगि, बड़ बरबर'।६६।

—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, सभा, पार्वती मंगल, पृ० २६

ऐसा न कहो अन्यथा राजा सुन लेंगे तो तुम्हें प्राण-दंड भुगतना होगा।[1] 'शिव-विवाह' में अलंकरण खोजना तो व्यर्थ ही है 'पार्वती मंगल' की भी शैली स्वाभाविक गति पर ही चली है। फिर भी, 'पार्वती मंगल' में स्वाभाविक रूप से ही अनेक अलंकार आ गये हैं। इन अलंकारों में उत्प्रेक्षा,[2] उपमा,[3] लोकोक्ति,[4] परिकर,[5] उदाहरण,[6] आदि उल्लेखनीय हैं। इनमें से उत्प्रेक्षा का प्रयोग प्रचुर हुआ है।

इस प्रसंग के सभी खंडकाव्यों में एक से अधिक छंदों का प्रयोग हुआ है। गोस्वामी तुलसीदास के 'पार्वती मंगल' में अरुण और हरिगीतिका, दयाराम के 'शिव-विवाह' में दोहा और कवित्त और लखपति के 'शिव-विवाह' में दोहा और छप्पय का प्रयोग हुआ है। इनमें से खंडकाव्योपयुक्त छंद योजना 'पार्वती मंगल' की है। अरुण छंदों के बीच-बीच में हरिगीतिका छंद की योजना नहर के बीच-बीच में बनी हुई पानी को रोकने वाले बाँध के समान प्रतीत होती है।

'पार्वती मंगल' की भाषा संस्कृतनिष्ठ अवधी है जिसमें कहीं-कहीं संस्कृत क्रिया पदों का भी प्रयोग मिलता है।[7] दयाराम लखपति और मधुलाल ने ब्रजी का प्रयोग किया है। दयाराम की भाषा ठेठ है। लखपति और मधूलाल की ब्रजी परिष्कृत और परिनिष्ठित है।

(ग) जैन खंडकाव्य

१. चरितात्मक

इस संदर्भ में मनरंगलाल की 'नेमिचंद्रिका' और झुनकलाल का 'नेमिनाथ जी

---

१. अरे बौरे जोगी हम पूछत हैं तोको तूतौ करे हाँसी गलफाँसी पर जावैगी।
अबहीं तेरी चर्चा जाय पहुँचेगी नग्र बीचि महलो में रांनी चंद्रावति सुनि पावैगी।
दौरि लोग आवैगे राजा हेमाचल के जाहू के पास दोऊ हाथ जो लगावैगी।
तूतौ है भूषा कोई टूका क्यों न मागि षाय पड़ैगी भीड भीष हाथ हू न आवैगी।
—शिव विवाह, दयाराम

२. पितु, मातु, प्रिय परिवार हरषहिं निरखि पालहिं लालहीं।
सित पाख बाढ़ति चंद्रिका जनु चंद्रभूषन भालहीं ॥६॥
—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, सभा, पृ० २५

३. अवसि होई सिधि, साहस फलै सुसाधन।
कोटि कल्पतरु सरिस संभु-अवराधन ॥२२॥ —वही पृ० २६

४. जौ बर लागि करहु तपु तो लरिकाइय।
पारस जौ घर मिलै तौ मेरु कि जाइय ? ॥५१॥ —वही, पृ० २८

५ सुमुखि सुलोचनि! हर मुख पंच तिलोचन।
बामदेव फुर नाम, काम-मद-मोचन ॥५८॥ —वही, पृ० २०

६. जैसे जनम दरिद्र महामनि पावइ।
पेखत प्रगट प्रभाउ प्रतीति न आवइ ॥७८॥ —वही, पृ० ३०

७. बदति जननि 'जगदीस जुवति जिनि सिरजहिं' ॥२५॥
—तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, सभा, पृ० २६

के कवित्त' उल्लेखनीय हैं नेमिनाथ जैन धर्मावलम्बियों के अत्यंत लोकप्रिय चरित्रों में से एक हैं। अनेकानेक जैन कवियों ने इनके वैराग्य की कथा कही है। अन्य धार्मिक कवियों की तरह जैनियों का भी ध्यान मुख्यतया धार्मिक उपदेशों और धार्मिक चरित्रों के गुणगान पर रहा है, काव्य इनके लिए भी सदा गौण रहा है। किंतु इनमें से जिनमें कवित्व था उनकी कृति स्वभावतः ही उत्कृष्ट हो गयी है।

मनरंगलाल की 'नेमिचंद्रिका' जैन चरितात्मक खंडकाव्यों में श्रेष्ठतर है। यह काव्योत्कर्ष युक्त एक सुंदर खंडकाव्य है। इसमें नेमिनाथ के जन्म से लेकर वैराग्य-प्राप्ति तक की कथा कही गयी है। नेमिनाथ का वैराग्य ही खंडकाव्य का चरम लक्ष्य है और इस तरह इसका वस्तु-पट खंडकाव्य के लिए बहुत ही उपयुक्त है। कवि ने वर्णनीय स्थलों को पहचाना है और वहाँ काफी देर तक रुका है। द्वारावती नगर, नेमिकुमार से विवाह के लिए वचन लेने के हेतु कृष्ण की पटरानियों का सज-धज के साथ उनके पास जाने और आग्रह करने, बरात की तैयारी, बरात को देखने के लिए जूनागढ़ में एकत्र भीड़, राजुल के विलाप, आदि अवसरों का चमत्कारपूर्ण वर्णन कर मनरंगलाल ने प्रबंधकार की क्षमता दिखायी है।

धार्मिक कृति होते हुए भी इस पर रीतिकाल का प्रभाव गहरा है। द्वारावती के नरनारियों का वर्णन करते हुए धार्मिक कवि को उनका कोई गुण नहीं दीख पड़ा है, कवि ने उनकी काम-कला-निपुणता ही देखी है।[1] यह कवि की श्रृंगारिक मनोवृत्ति का सूचक है।

समुद्रविजय की रानी का रूप वर्णन भी बिल्कुल रीतिकालीन नख-सिख-वर्णन के समरूप है।[2] यह रूप-चित्रण मात्र वर्णनात्मक और चमत्कार से रहित है। कृष्ण की

---

१. नर नारी सोहत तह ऐसे। कामदेव की रति रानी जैसे।
सब विधि कामकला चतुराई। मनहु विधाता आपु सिषाई।
—नेमिनाथचंद्रिका, मनरंगलाल

२. तासु गेहे पतनी सुभ नाम। सिव देव्या राजत सुषधाम ॥२६॥
हंस गमन नष दुति चंद्राभ धरत, सदा मन सुक्रीत लाभ ॥२७॥
कोमल कदली गरभ समान। जंघा सुभ आकृत दुतिवान्।
कटि देषत केहरि मनु लाजै। नाभि जासु गभीर विराजै ॥३०॥
श्रीफल सम उरोज जुग गाये। वक्षस्थल के मधि सुहाये।
कर दो कमल पत्र उन हारा। अति कोमल कहि लहन न पारा ॥३१॥
भुज विलास सोहत सुन जैसे। जिमि मृणाल कोमल छवि जैसे।
ग्रीवा कंब केहरि सुघराई। जिती लीन्ह कछु कहिय न जाई ॥३२॥
अधर विंब फलकि अरुनाई। लज्जीत कीन्ह परम छवि छाई।
दसन पांति हीरण भी मानौ। वचन कोकिला इम बुध जानौ ॥३३॥
गोल कपोल उन्नताधरी। नासा जासु किड़ छवि हरी।
लसत सितासित रक्त सुनेत्रा। आनन चंद समान पवित्रा ॥३४॥
भृकुटी अति सुंदर सुगनीया। मतन कुडंऽजनहु रमनीया।
आठौ अंग सभा आकारा। सोहत भले कलाकित सार ॥३५॥
—नेमिनाथ चंद्रिका, मनरंगलाल

पटरानियों को नेमिकुमार के पास विवाह करने का वचन लेने के लिए भेजते हैं। रानियाँ अपनी सभी सखियों के साथ नेमिकुमार के पास जाती हैं और उनके मन में काम-संचार करने के लिए बड़ा निर्लज्ज आचरण करती हैं।[1]

यहाँ कृष्ण दुष्ट और द्वेषी हैं। जब नेमिकुमार की शक्ति के सामने उन्हें झुकना पड़ता है तो उनके मन में एक दुष्ट और ईर्ष्यालु के समान ही प्रतिक्रिया होती है। वे नेमिकुमार को विवाह-बंधन में फँसाकर उनके पराक्रम को नष्ट कर देने का प्रयत्न करते हैं। इसके विपरीत नेमिकुमार का चरित्र बड़ा उदात्त है। अहिंसा के प्रति जैन धर्मोचित निष्ठा उनके मन में है। पशुओं का रुदन सुन लेने वाला सम्वेदनशील और साधु हृदय नेमिकुमार ने पाया है। पशुओं का विलाप उन्हें विचलित कर देता है और वे सारा राग-भोग छोड़कर वन की ओर चल देते हैं। राजुल भी तदनुरूप एक सती-साध्वी तथा पति-प्रेम में निष्ठा रखने वाली नारी है। उसके ललाट का प्रथम सिंदूर मलिन भी नहीं हुआ था कि उसे पति-वियोग सहना पड़ा। उसके माता-पिता आश्वासन देने के लिए कहते हैं कि तुम्हारा दूसरा विवाह कर दिया जायगा। इसका वह विरोध करती है। सचमुच ही पतिव्रता के लिए इससे कष्टकर बात और क्या हो सकती है ? वह विरह की आग में जल-जल कर मरने वाली नारी नहीं है। वह भी अपने पति के पास गिरनार पर्वत पर चली जाती है और नेमिकुमार के साथ जप-तप में समय यापन करती है। इस तरह राजुल अर्द्धांगिनी शब्द को चरितार्थ करने वाली आदर्श नारी है।

इस खंडकाव्य का कोई एक अंगी रस नहीं है किंतु शांत, वात्सल्य और विप्रलम्भ शृंगार की मार्मिक व्यंजना हुई है। नेमिकुमार ने वैराग्य लेते समय माता को जो उपदेश दिये हैं उसमें शांत रस[2], उस समय माता के विलाप में वात्सल्य रस[3]

---

१. किन्ही ही जाय बांह जिन गही। किनही जाय दामन गही।
किनही मुष चुंबन करि लीन्हा। किनहि हसि हसि तरि दीन्हा।
केई रंग भरि पिचकारी। मारण लगी सम्हारि सहनारी।
कई गुलाल लगावै चला। गावै गारी परम विसाला।
— नेमिनाथचंद्रिका, मनरंगलाल

२. काकी माता कौन को तात। काको पुत्र कौन को भ्रात।।
मिथ्या रीति जगत की सदा। याते सुष पावत नहि कदा।।
अचिर वस्तु जितनी जग माही। उपजत बिनु संसय नाही।।
स्वारथ पाय सकल हित करै। विन स्वारथ कोउ हाथ न धरै।।
—वही।

३. महा विलाप करें मैं माता। हनत उर स्थल धरत न साता।।
अहो पुत्र ऐसी कह कारी। तनक न दया चित मो धारी।।
अहो पुत्र मैं भई निरासा। सुन्या हमारो भयो अवासा।।
कहो आस काकी गरि रहो। इह दुष कहो पुत्र क्यों सहो।।
—वही

और राजुल के व्यग्र प्रलाप एवं उसकी दीन दशा के वर्णन में विप्रलम्भ शृंगार[1] मूर्त हो उठा है।

इसमें अलंकरण का अभाव भी नहीं है। उदाहरण अलंकार तो पग-पग पर है।[2] अन्य अलंकारों में उत्प्रेक्षा की प्रचुरता है।[3] इसमें रीतिकालोचित विविध छंदों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी है। दोहा, सोरठा, चौपाई, भुजंगप्रयात, पद्धरी गीतिका, अड़िल्ल, नाराच, दोहरा, गीता छंद, त्रोटक और छप्पय, ये बारह प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं।

नेमिनाथ चंद्रिका की भाषा ब्रजी है जो खड़ी बोली के अति निकट है। भाषा साफ-सुथरी और प्रसाद गुण सम्पन्न है। भुनकलाल ने अवधी का प्रयोग किया है।

२. कथात्मक

इस प्रसंग के खंडकाव्य मध्यकालीन खंडकाव्यों में दिशा-भेद के सूचक हैं और इनके साथ प्रबन्ध की एक नवीन धारणा का सूत्रपात होता है। सत्रहवीं शताब्दी में भैया भगवतीदास ने खंडकाव्य के क्षेत्र में जो प्रयोग किया था उसे ही बीसवीं सदी में जयशंकर प्रसाद ने विस्तार और गहराई देकर कामायनी—जैसे महाकाव्य के रूप में प्रस्तुत किया। साध्य एवं साधन दोनों दृष्टियों से भगवतीदास के खंडकाव्य और कामायनी एक ही परम्परा के हैं। अंतर मात्र इतना ही है कि भगवतीदास की कृतियाँ सीमित लक्ष्य के कारण खंडकाव्य हुई वहाँ प्रसाद की कृति उद्देश्य की महत्ता के कारण महाकाव्य हो गयी, भगवतीदास के खंडकाव्य जैन दर्शन पर अवलम्बित हैं तो प्रसाद जी की कामायनी शैव दर्शन पर आधृत है। किंतु इन भिन्नताओं में भी एक साम्य है और वह यह कि दोनों महाकवियों की कृतियाँ प्रबंध काव्य हैं और दोनों ने व्यक्तिगत जीवन में जिस दर्शन को अंगीकार किया था उसे काव्य का मनोरम रूप प्रदान किया। भगवतीदास की प्रतिभा पर आश्चर्य तो तब होता है जब हम देखते हैं कि वे उस भाषा (खड़ी बोली) के निकट चले गये हैं जिसे उनके प्राय: तीन शताब्दी बाद काव्य-भाषा का गौरवमय पद प्राप्त हुआ। इस दूरदर्शिनी दृष्टि के कारण भगवतीदास महाकाव्य की रचना न करने पर भी महाकवि के गौरवभागी हैं।

---

१. कंखो सकल सरीर तसु। रोम रोम फहराय॥
घूमि गिरि भूपर तुरत। भई अचेतन भाय॥
पीय वियोग सूरय ज्यो। किरनि सही अति जोर॥
रमति रूप कमोदनी। मुरझानी लषि भोर॥
—नेमिनाथचंद्रिका, मनरंगलाल

२. जयनालय सोहत तहा ऐसे।
सुर्ग विमान बिराजत जैसे॥
—वही

३. सब विधि काम कला चतुराई। मनहु विधाता आपु सिषाई॥
—वही

भगवतीदास के ये दो खंडकाव्य हैं 'चेतनचरितभाषा' और 'शत अष्ठोत्तरी'। इन दोनों में मानव भावनाओं को ही व्यक्तित्व प्रदान किया गया है। दोनों में नायक चेतन है। माया अथवा मोह ही मनुष्य के सारे अनर्थों की जड़ है, अतएव दोनों खंडकाव्यों में चेतन का माया या मोह से संघर्ष दिखाया गया है। 'अष्टोत्तरी' की कथा जहाँ समाप्त हो जाती है यहाँ से 'चेतनचरित्र' प्रारम्भ होता है। 'चेतनचरित्र' में जैन दर्शन के अनुसार मानव मन के सूक्ष्म स्तरों का उल्लेख है जबकि 'शत अष्टोत्तरी' में स्थूल भावों का संक्षिप्त वर्णन है। 'अष्टोत्तरी' की कथा को अधिक रोचक बनाया गया है और यहाँ संघर्ष की सूचना मात्र दी गयी है, उसका वर्णन नहीं किया गया है। 'चेतनचरित्र' में संघर्ष का विस्तृत वर्णन है। 'शत अष्टोत्तरी' की कथा में काव्यत्व अपेक्षाकृत अधिक है।

जो हो, दोनों में रूपक का सफल निर्वाह हुआ है और एक स्थूल कथा के माध्यम से कवि मन के अदृश्य स्तरों का परिचय देने में सफल हुआ है। 'अष्टोत्तरी' में चेतन अपनी दो रानियों सुबुद्धि और माया में से माया में आसक्त हो जाने के कारण संकटग्रस्त हो जाता है। अनुरक्ति के कारण राजकाज में उसकी रुचि कम हो जाती है और फलस्वरूप उसका सेनापति मोह, कोतवाल क्रोध, मंत्री लोभ, काजी कर्म, निजी सचिव कामदेव और प्रबंधक ईर्ष्या-घृणा बन बैठता है तथा ये सब के सब स्वेच्छाचार और स्वार्थ साधन में लग जाते हैं। इन भावनाओं के प्राबल्य होने पर सद्भावनाएँ तो तिरोहित हो ही जाती हैं, इनमें भी परस्पर वृद्धि के लिए द्वंद्व चलता है। यही हालत चेतन के कर्मचारियों की भी है। राजा चेतन के सच्चे आमात्य ज्ञान, दर्शन, सुख और वीर्य भाग गये हैं। चिंता प्रधान मंत्री-पद को पाने के लिये प्रयत्नशील है तथा लोभ और कामदेव में भी परस्पर एक-दूसरे को पराजित करने के लिए संघर्ष चल रहा है। मनुष्य के मन पर जब माया अथवा मोह का नियंत्रण हो जाता है तो अपनी इंद्रियों पर मानव का वश नहीं रह जाता है, वे सब स्वतंत्र होकर मनुष्य को नाना प्रकार के कष्ट देती हैं। चेतन राजा की भी यही स्थिति है। वह नाम मात्र के लिए राजा है, शासन कार्य में उसका कुछ चलता नहीं है। इस अवस्था में मायासक्त मन को अपनी स्थिति का कुछ ज्ञान नहीं होता। माया या मोह ही उसके सारे कार्यों का संचालन करने लगता है। चेतन राजा की भी रानी माया शासन-सूत्र को अपने हाथ में लेने का स्वप्न देख रही है और इसलिये वह राजा को सतर्क करने के बदले उसके दुष्ट कर्मचारियों को षड्यंत्र करने के लिए उभारती है ताकि राजा की शक्ति क्षीण होने पर शासिका वह हो सके। प्रत्येक क्रिया की कुछ न कुछ प्रतिक्रिया अनिवार्य है। माया के अत्याचार का अतिरेक हो जाने पर सुषुप्त सद्विवेक जागता है और मनुष्य माया जनित दुर्भावनाओं से मुक्त होने का प्रयत्न करता है। चेतना राजा की सुबुद्धि रानी जब अपनी सपत्नी माया के कुचक्र को देखते-देखते ऊब जाती है तो वह चेतन को वस्तुस्थिति से अवगत कराती है। चेतन की आँखें खुलती हैं और उसे अपने पौरुष का ज्ञान होता है। वह अपने दुष्ट कर्मचारियों को मार भगाता है और ज्ञान, दर्शन आदि सच्चे सहकर्मियों को बुलाकर उसके सहयोग से मोक्ष-प्राप्ति की ओर अग्रसर होता है। इस तरह

मोक्ष-प्राप्ति की दिशा में मनुष्य के भीतर होने वाले संकल्पों-विकल्पों की सुन्दर कहानी इसमें कही गयी है।

'चेतनचरित्र' में यही कथा विस्तार से कही गयी है। कथा-विस्तार के कारण कवि के मन के सूक्ष्म स्तरों तक गया है। यहाँ पात्रों की भीड़ है, जैसे व्यक्ति के अंदर उत्पन्न होने वाले सुभावों-कुभावों की भीड़-सी होती है। यहाँ मनोवृत्तियों का द्वंद्व सूचित नहीं, कथित है। मनुष्य के आंतरिक संघर्ष में भावों का उत्थान-पतन बड़ी स्पष्टता से दिखाया गया है। 'शत अष्टोत्तरी' में मायासक्त चेतन के सुबुद्धि रानी द्वारा जगाये जाने तक की कथा वर्णित है और आगे की कथा संकेतित है, 'चेतनचरित्र' में चेतन के जगने के पश्चात् कथारम्भ होता है। यहाँ सुबुद्धि द्वारा चेतन के सचेत किये जाने पर चेतन की दूसरी रानी कुबुद्धि क्रुद्ध हो जाती है और सुबुद्धि तथा कुबुद्धि के दलों में घोर संग्राम होता है। सम्पूर्ण 'चेतनचरित्र' में इसी युद्ध का वर्णन किया गया है। इस युद्ध में अंततः कुबुद्धि के सहायक मोह का पराजय होता है तथा सुबुद्धि एवं उसके सहायक ज्ञान की जीत होती है। यह युद्ध-वर्णन बड़े स्वाभाविक रूप में मनोविज्ञान की रक्षा करते हुए किया गया है। किसी युद्ध में एक पक्ष की विजय दूसरे पक्ष के सेनापति तथा योद्धाओं की मृत्यु पर ही सम्भव है। 'चेतनचरित्र' में वर्णित युद्ध में भी पराजय दिखाई गयी है किंतु किसी योद्धा की मृत्यु यहाँ नहीं हुई है। यहाँ एक पक्ष के योद्धा के मूर्च्छित हो जाने पर ही दूसरे पक्ष की विजय होती है। कारण, यहाँ भाव ही पात्र हैं, कोई भाव सदा के लिये मरता नहीं है। सद्भाव के जोर से दुर्भाव दबे रहते हैं और दुर्भाव के प्राबल्य पर सद्भाव मंद पड़ जाता है। इस तरह युद्ध का सफल वर्णन करते हुए भी कवि ने मनोविज्ञान को किंचित क्षत नहीं होने दिया है।

संघटन की दृष्टि से 'चेतनचरित्र' में द्रष्टव्य है कि दो स्थलों पर कथासूत्र टूट गया है। कवि वहाँ युद्ध वर्णन को छोड़कर प्रत्यक्ष उपदेश देने लगा है और काफी जम कर उपदेश दिया है। 'शत अष्टोत्तरी' का कथा-सूत्र भी अत्रुटित नहीं है। यहाँ भी कवि प्रसंग से हटकर संसार की असारता आदि का वर्णन करने लगा है। इससे कथा के स्वाभाविक प्रवाह में बाधा पड़ी है। इसकी कथा का प्रकार रास लीलापरक खंडकाव्यों के समान है जिसमें कथा सरिता की तरह प्रवाहित नहीं होती, उदधि की लहरों के सदृश तरंगायित होती है। 'शत अष्टोत्तरी' का कलेवर कथात्मक है और 'चेतनचरित्र' का नाटकीय। 'शत अष्टोत्तरी' का आदि और अंत दोनों कथात्मक हैं। उसमें चरमोत्कर्ष के बाद भी, बहुत थोड़ी दूर तक ही सही, कथा चली है। 'चेतनचरित्र' का प्रारम्भ नाटकीय है और चरमोत्कर्ष पर जाकर कथा-प्रवाह एकाएक समाप्त हो गया है।

'पंच इंद्रिनी चौपाई' और 'मधुबिंदु की चौपाई' में एक-एक कल्पित कथा के माध्यम से मनुष्य को एक-एक उपदेश दिया गया है। प्रथम में यह प्रतिपादित किया गया है कि मनुष्य के सारे दुष्कर्मों का हेतु मन ही है तथा आत्मा और परमात्मा तत्वतः भिन्न नहीं है, राग-द्वेष से मुक्त हो जाने पर आत्मा ही परमात्मा हो जाती है। 'मधुबिंदु की चौपाई' एक अन्योक्ति-कथा है जिसमें लोभ को दुष्परि-

णाम दिखाया गया है। एक व्यक्ति वन में जंगली हाथियों के द्वारा खदेड़ा जाकर एक वृक्ष की डाल से लटक गया। उस पेड़ पर मधुमक्खी का छत्ता था जिससे मधु की बूँदें उसके मुख में टपक रही थीं। किंतु उसके नीचे एक अंधकूप था जिसमें चार अजगर मुँह बाये उसके गिरने की प्रतीक्षा कर रहे थे। दूसरी ओर उसका पीछा करने वाला हाथी उस वृक्ष के तने को झकझोर रहा था और वह जिस डाल को पकड़े हुए था उसको श्वेत और श्याम वर्ण के दो चूहे काट रहे थे। उसकी इस भयानक स्थिति पर दया कर आकाश-मार्ग से जाता हुआ एक विद्याधर उसकी रक्षा के लिए आया पर वह लोभी व्यक्ति मधु के लालच में देर करता गया। हार कर विद्याधर चला गया और वह व्यक्ति अंधकूप में गिरकर अजगर के उदर में चला गया। इस कथा में वन संसार का अंधकूप भ्रमका, गज काल का, वृक्ष की शाखा आयु की, दो चूहे रात और दिन के, मधुमक्खियाँ रागादिक की, चार अजगर चार गतियों के, मधु बिंदु विषय-सुख का तथा विद्याधर सद्गुरु का प्रतीक है। इसमें शुष्क उपदेश को बड़े मनोरंजक रूप में प्रस्तुत किया गया है।

इन चारों खंडकाव्यों में से 'चेतन चरित्र' में ही रस-विधान स्पष्ट है। इसका अंगी रस वीर है किंतु वीर रस की यह क्रीड़ा शांत रस के ही क्रोड़ में होती है। स्थान-स्थान पर शांत रस की उज्ज्वल घटा दीख पड़ती है।[1]

इन खंडकाव्यों में वर्णन की स्वाभाविक शैली का ही प्रयोग हुआ है, अलंकरण प्रायः नहीं ही है। फिर भी, 'चेतन चरित्र' में उदाहरण अलंकार स्थान-स्थान पर आ ही गये हैं।[2] 'शत अष्टोत्तरी' में निरोष्ठ अलंकार की एक स्थान पर बड़ी सुंदर योजना हुई है।[3]

चारों में अनेक छंदों का प्रयोग हुआ है। 'चेतन चरित्र' में दोहा, चौपाई, सोरठा, अड़िल्ल, पद्धरी, बेसरी, करखा और मरहटा छंदों का, 'शत अष्टोत्तरी' में दोहरा, छप्पय, सवैया, कवित्त, इक्तुलिया, कुंडलिया और अड़िल्ल, 'मधुबिंदु की

१. माया मृषा निदान ये सुनि भाई रे।
तीनों शल्य निवार चेत मन भाई रे॥
क्रोध मान माया तजो सुन भाई रे।
लोभ•करो परिहार चेत मन भाई रे॥
—चेतनचरित्र, भगवतीदास

२. मो आगे अरि यों नशि जाय रवि ऊगत ज्यें तिमिर पलाय।
—वही

३. सुनु रे सयाने नर कहा करै घरु घरु तेरो जु सरीर घरु घरी ज्यो तहरु है।
छिन छिन छीजै जाय जल सौं ज्यौ घरी जाय ताहू कोइ लाज कछू उरहूं धरतु है॥
आदि जै सहे हैं तेतो यादि कछू नाहि तोहि आगें ह्वं है कहा गति काहे तु लरतु है।
घरी एक देखो ख्याल घरी की कहा है चाल घरी घरी घरियाल सोर यों करतु है॥
—शतअष्टोत्तरी, भगवतीदास

चौपाई' में दोहा, चौपाई, सोरठा और दोहरा तथा 'पंचइंद्रनी चौपाई' में दोहरा, चौपाई और गोहा का व्यवहार हुआ है।

चारों की भाषा ब्रजी है जिनमें से 'चेतन चरित्र' की भाषा को खड़ी बोली कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।[1] कहीं-कहीं सर्वनाम ब्रजी के भी आ गये हैं। ख्याल, हकीकत, यार, कमान, दगा, फौज जैसे विदेशी शब्दों का भी 'चेतन चरित्र' में अभाव नहीं है। अन्य खंडकाव्यों की भाषा साफ-सुथरी परिनिष्ठित ब्रजी है। 'शत अष्टोत्तरी' और 'पंच इंद्रिनी चौपाई' में एक-एक छंद गुजराती भाषा का भी है।

प्रसिद्ध भक्तों के जीवन से सम्बंधित खंडकाव्य

प्रह्लाद विषयक

इस संदर्भ के सारे खंडकाव्य एक ही आकार-प्रकार के हैं। शैली, छंद-योजना वस्तु-विन्यास सभी दृष्टियों से ये एक ही प्रवृत्ति की सूचना देते हैं। सब में प्रह्लाद के जन्म से लेकर उसके कष्ट-सहन और अंत में भगवान् नृसिंह द्वारा उसके पिता हिरण्यकशिपु के वध के उपरान्त उसकी इंद्रासन-प्राप्ति तक की कथा कही गयी है। किंतु इस मूल कथा को इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि यह हिरण्यकशिपु के उत्थान-पतन की कहानी हो गयी है। कथा हिरण्यकशिपु के घोर तप और फलतः वरोपलब्धी से आरम्भ होती है और नृसिंह द्वारा उसकी हत्या के बाद समाप्त हो जाती है। मध्य की कथा को भी वही आगे बढ़ाता है, वह अपने पुत्र प्रह्लाद को हरि-भक्ति-विमुख करने के अनेक प्रयत्न करता है। इस तरह इन काव्यों में नायक हिरण्यकशिपु है और उसका पतन दिखाना ही इनका उद्देश्य होने के कारण सब-के-सब खंडकाव्य हैं।

ये सारे खंडकाव्य इतिवृत्तात्मक हैं और जीवन की ओर झुके हुए हैं। इनमें प्रबंधकाव्य के कलात्मक गठन का अभाव है। सबमें वर्णन की सरलता द्रष्टव्य है।

रैदास को छोडकर सबने प्रबंध काव्योचित दोहा-चौपाई की शैली अपनायी है। रैदास ने केवल दोहे का प्रयोग किया है।

रैदास और गोपाल की भाषा ब्रजी है। रैदास की भाषा तो साफ सुथरी है किंतु गोपाल की भाषा में विकृत रूपों की भरमार है। इसमे पिछाणों (पहिचानों) अस्वर (असुर) रिष्य (ऋषि)-जैसे प्रयोग अनेकानेक हैं। देवसिंह की भाषा अवधी है और साधारणतया साफ है। सहजराम लोकीदास की भाषा भी अवधी ही है।

ध्रुव विषयक

ध्रुव-विषयक खंडकाव्य भी उसी पद्धति पर रचित हैं जिस पर प्रह्लाद-विषयक खंडकाव्य निर्मित हुए हैं। ये सभी भाषा, छंदयोजना और वस्तु-विन्यास की दृष्टि से समान ही हैं। सब में बालक ध्रुव का अपनी सौतेली माता द्वारा अप-

---

१. वह मिथ्यापुर का है नरेश। जिन घेरे अपने सर्वदेश ॥७०॥
जिसके संग शूरा है अनेक। अज्ञान भाव सब गहैं टेक ॥
मंत्री जिसके दो राग द्वेष क्षण में सब सेना करे शेष ॥७१॥
—चेतनचरित्र, भगवतीदास

मानित होने पर तपस्या करना और अचल राज्य-प्राप्त करना वर्णित है। गोपाल को छोड़कर अन्य सभी ने मूल कथा पर ही दृष्टि केंद्रित रखी है। गोपाल ने इस कथा को सीधे न कह कर एक प्रसंग में फिट कर दिया है। यहाँ शुकदेव ऋषि ने परीक्षित को यह कथा सुनाई है। सब में ध्रुव की निष्ठा के साथ साथ सपत्नी के द्वेष पर प्रकाश डाला गया है। गोपाल में ध्रुव एक मातृ-भक्त के रूप में प्रस्तुत किया गया है। उर्वशी का उसकी समाधि भंग करने के लिए उसकी माता का रूप धारण करना इसका प्रकरण है।

ये सारे खंडकाव्य भी प्रह्लाद-विषयक खंडकाव्यों की तरह इतिवृत्तात्मक हैं। कथा-विन्यास सीधा और सरल तथा उसमें चमत्कार पैदा करने वाले मोड़ों का अभाव है।

सबमें एक से अधिक छंदों का प्रयोग हुआ है। गोपाल ने चौपाई, दोहा, और हरिगीतिका; सुंदर ने दोहा, कवित्त, सोरठा और चौपाई; सोमनाथ ने दोहा, सोरठा और पद्धरि तथा मधुकरदास ने दोहा, रौला और चौपाई का व्यवहार किया है। प्रह्लाद-विषयक खंडकाव्यों की तरह ध्रुव-विषयक खंडकाव्यों में अनेक छंदों का प्रयोग तो हुआ है लेकिन प्रथम की दोहा-चौपाई वाली छंद-योजना प्रबंध के लिए उपयुक्ततर है।

इस प्रसंग के सभी खंडकाव्यों की भाषा ब्रजी है। भाषा की दृष्टि से भी इनमें से कोई प्रौढ़ रचना नहीं प्रतीत होती। गोपाल के 'ध्रुव चरित्र' की भाषा उनके 'प्रह्लाद चरित्र' की भाषा के समान विकृत प्रयोगों से भरी हुई है। कुंख (कोख) क्युं (क्यों) स्यंघ (सिंह), पुध्या (क्षुधा), सति (सत्य) ज्यूं (ज्योंश्र) सिष्या (शिक्षा), स्यौ (शिव) जैसे प्रयोग भरे पड़े हैं।

भरथरी-सम्बंधी

इस प्रसंग में गोपाल का 'भरथरी चित्रण' उल्लेख्य है। यह खंडकाव्य कथा-काव्य की ओर झुका हुआ है। किन्तु इसका लक्ष्य जड़भरथ की शाप-मुक्ति में केंद्रित होने के कारण यह खंडकाव्य है। इसमें दोहा, चौपाई की प्रबंधात्मक शैली का प्रयोग हुआ है। इसमें इतिवृत्त-कथन मात्र है इसकी भी भाषा विकृत प्रयोगों से भरी हुई ब्रजी है।

नरसीमेहता-सम्बंधी

इस प्रसंग के खंडकाव्य भी साधारण कोटि के ही है। सब में इतिवृत्त-कथन मात्र है। द्रष्टव्य यह है कि इन खंडकाव्यों को प्रबंधकाव्य का रूप देने का प्रयत्न किया गया है। मीरादास और रतनोखाती दोनों के खंडकाव्य अध्यायों में विभाजित हैं। रतनोखाती ने तो प्रबंधकाव्योचित दोहे-चौपाई की छंद-योजना भी रखी है। मीरादास ने सोरठा, दोहा और चौपाई का प्रयोग किया है। मीरादास और रतनोखाती की भाषा साधारण ब्रजी है।

(२) वीरतामूलक खंडकाव्य

(क) पौराणिक

इस संदर्भ में प्राणनाथ का 'बभ्रुवाहन' और सबलसिंह का 'महाभारत

चक्रव्यूह' विशेष रूप से विवेच्य हैं। ये दोनों साधारण श्रेणी के खंडकाव्य हैं। कथा-संघटन में ये दोनों इतिवृत्तात्मक और चमत्कारशून्य हैं किंतु वर्णन में काव्यत्व का नितांत अभाव नहीं है। सबलसिंह ने कृष्ण के चरित्र को विचित्र रूप में प्रस्तुत किया है। अर्जुन का पुत्र-शोक मिटाने के लिये उपदेश देते हुए कृष्ण उसका पैर पकड़ लेते हैं।[1] अर्जुन का चरित्र भी कुछ भिन्न रूप में प्रस्तुत किया गया है। वह अत्यंत कातर व्यक्ति है और व्यथा-भार से घबराकर वन में चला जाता है। 'बभ्रुवाहन में अर्जुन और बभ्रुवाहन के युद्ध का व्यापक प्रभाव दिखाया गया है। धरती पर होने वाले इस दो उद्भट वीरों के संग्राम को देखने का लोभ देवगण सम्वृत नहीं कर पाये हैं।[2]

दोनों का अंगी रस वीर है। सबलसिंह ने अभिमन्यु-दुर्योधन के युद्ध-वर्णन[3] में एवं प्राणनाथ ने बभ्रुवाहन द्वारा अर्जुन के वध की प्रतिज्ञा[4] में इसका उत्कृष्ट रूप उपस्थित कर दिया है। वीर रस के अतिरिक्त सबलसिंह में करुण और शांत

१. वन मह अर्जुन मिले मुरारी
गही न चून कहा गिरधारी
आरजुन सोक छाड़ी अब दीजै
नीरमल ग्यान चीत मह लीजै
—महाभारत चक्रव्यूह, सबलसिंह

२. यह चरित देषहि देवगन लरि जुगल भट भूतल परे।
—बभ्रुवाहन, प्राणनाथ

३. जोर जो धन सैन संग भारी तीस सहस्र छत्र कै धारी
ते सब वीर कै आनी छोरावा मारु मारु जोर जो घन धावा
रथ पर सर वरखत हैं कैसे मंदर उपर विरस्टी जल जैसे
महारंथ जल मेघ समाना अखत वान वृंद सब जाना
धनुख चकोर मेघ जस अजे धुन पूटे दामीनी जे तरजे
संक्रीत सुल वीरीनी के छुटही मानहु वजर गगन ते छुटही
गज फंदही सेवहु वीथी राजही मानहु घटा वगुपती वीराजही
माहामारी छत्री कीवौ अभीमन क्रोध अर्ती भयौ
जो सर आरजुन आपु सीधाऐ तेही वानन्ह कह कअर चलऐ
—महाभारत चक्रव्यूह, सबलसिंह

४. वचन अचल करी मन मोरो
जो नहि समर पुरा तुम कह पेरो
कोटि विप्र हत पातष मोही
जो नहि परथ मरो तोही
जे अघ तोहि पिता गुर मारे
चढ़ाहि जे अघसिस हमारे
जो न तोर सिर अवनी गीरावौ
तौ मय क्षत्रिय गति नहि पावौ
—बभ्रुवाहन, प्राणनाथ

तथा प्राणनाथ में केवल शांत रस द्रष्टव्य है। अभिमन्यु के हत होने पर उत्तरा के विलाप में करुणा मूर्त हो उठी है।[१] सबलसिंह ने सांसारिक सम्बंधों की क्षणिकता[२] और प्राणनाथ ने हरि के महत्व[३] का वर्णन कर शांत रस के दर्शन कराये हैं।

दोनों में अलंकरण भी समान ही है। दोनों ने उत्प्रेक्षा और उदाहरण का प्रचुर प्रयोग किया है। 'बभ्रुवाहन' में तो कहीं-कहीं लगातार पंक्ति-पंक्ति में उत्प्रेक्षाएँ हैं और उत्प्रेक्षा की यह लड़ी दूर तक चली है।[४] उत्प्रेक्षा के अतिरिक्त 'बभ्रुवाहन' में उदाहरण अलंकार भी द्रष्टव्य है।[५] सबलसिंह ने भी उत्प्रेक्षा,[६] उदाहरण,[७] और उपमा[८] का पर्याप्त प्रयोग किया है।

सबलसिंह ने प्रबंधकाव्य के उपयुक्त दोहे-चौपाई की छंद-योजना रखा है। प्राणनाथ की छंद-योजना भी प्रबंध के अनुकूल ही है बल्कि इसमें उन्होंने अपनी मौलिकता भी दिखायी है। दोहा-चौपाई का मेल प्रबंधकाव्यकारों में लोकप्रिय है। प्राणनाथ ने चौपाई और सोरठे का मेल किया है और इसमें जगह-जगह हरिगीतिका देकर कथा-प्रवाह को मर्यादित किया है।

सबलसिंह और प्राणनाथ दोनों की भाषा अवधी है।

---

१. कहा गऐ प्रीतम सुख दाऐक चकरावुह ना भेदे लाऐक
जुधे खेत जगत जस लीन्हा जैमाला सुर धन्धा कीन्हा
तुम सुरपुर सुख वीलासहु भाइ मोही अनाथ कै सुख वीसारी
हैं सामी मोही दरसन दीजै ना तो संग अपने सो लीजै
—महाभारत चक्रव्यूह, सबलसिंह

२. पुत्र नही काहु कै कीजै हृदै वीचार
समल सीध चौहान कहै मुरख है संसार —वही

३. हरि थापन हरि उथना हरि जाचक हरि दानी
हरि विसारि सुष चहत जन वाडो अचरज मानी
—बभ्रुवाहन, प्राणनाथ

४. पारथ मथ पारयो जब धरनि रोवहि नभ मंडल सुरधरनि
जुगल मौलि भल भ्राजत कैसे मनहु जुगुल विभाकर जयसै
जनु रतीरथ जानी उजगर भंजनहित अगत दिन नागर
रुधिर नदि बाढ़हि विकरारा रंजित करिवर रुड करारा
वाहत चर्म छबि परमाल हाही मनहु करल कमठ उतरही
नाना जुध मनहु जलचरी कंवध सेवर कहुह भरी -बभ्रुवाहन, प्राणनाथ

५. पारथ सुत रथ थिरकि मिनाही जिमि जग जन्मी चराचर जाही
+ + +
विन वृषकेत होत दल कैसे करि विन कर फनि मनि विनु जैसे—वही

६. देके हाथ वीकल घर धावा मानो धार धन माह घहरावा
—महाभारत चक्रव्यूह, सबलसिंह

७. गहा घाव ले भीम भयंकर प्रलै काल मह जैइसे संकर —वही

८. धनुख टकोर मेघ जस गजे धुन छुटे दामिनी जे तरजे —वही

(ख) ऐतिहासिक

१. **चरित्रपरक** इस संदर्भ में पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर विरुदावली', जटमल की 'गोरा बादल की कथा' और चंद्रशेखर वाजपेयी का 'हम्मीर-हठ' उल्लेखनीय हैं। इन तीनों के एक संदर्भ में विवेच्य होने पर भी 'गोरा-बादल की कथा' का कलेवर शेष दोनों से किंचित् भिन्न है। इसका कलेवर कथात्मक है और 'हम्मीर-हठ' तथा 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' का वर्णनात्मक। 'गोरा बादल की कथा' नामानुरूप कथा-काव्य की ओर झुका हुआ है। किंतु इसका पर्यवसान युद्ध-वर्णन-जन्य वीर रस में हुआ है और उस युद्ध-वर्णन में गोरा और बादल दो वीर चरित्रों को प्रस्तुत किया गया है। अतएव सारी कथा के ऊपर गोरा-बादल का अलाउद्दीन के विरुद्ध युद्ध-वर्णन बैठा हुआ है और, इस वर्णन का उद्देश्य चरित्र-वर्णन ही है। 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में घटनाओं का अभाव है। आरम्भ में हिम्मतबहादुर के संक्षिप्त परिचय के उपरांत युद्ध-वर्णन शुरू हो जाता है और हिम्मतबहादुर के प्रतिपक्षी अर्जुन सिंह की मृत्यु के साथ कथा समाप्त हो जाती है। 'हम्मीर-हठ' इन दोनों के मध्य में है। इसमें घटना और वर्णन दोनों हैं और इस तरह इसमें प्रबंध काव्यात्मकता अपेक्षाकृत अधिक है।

चंद्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीर-हठ' में प्रबंध-विधान की कुछ असंगतियाँ खटकने वाली हैं। प्रथम युद्ध में अलाउद्दीन की हार होती है और वह दिल्ली लौट जाता है। इसके बाद कथा-सूत्र को तानना अस्वाभाविक प्रतीत होता है। इसके बाद हम्मीर के भाई को द्वेष होता है और वह अपने पुत्र रणमल्ल को दिल्ली भेजकर अलाउद्दीन को पुनः रणथम्भगढ़ बुलवाता है। अलाउद्दीन से पुनः संघर्ष होता है और इसमें भी हम्मीर की ही विजय होती है। अतएव यह दूसरी बार विजय दिखाने से कोई इष्ट साधन तो हुआ नही, बल्कि इस क्रम में अन्य अवांछित प्रकरण भी समाविष्ट हो गये। इस सिलसिले मे यह दिखाया गया है कि हम्मीर की कन्या उनसे अनुरोध करती है कि मुझे सुलतान को देकर उससे संधि कर लीजिए।[1] यह क्षत्रियोचित शान के सर्वथा प्रतिकूल है और हम्मीर—जैसे वीर पुरुष की कन्या के लिए तो यह और भी अशोभनीय है। दूसरे, हम्मीर में व्यक्तिगत रूप से वीरता का चरम रूप दिखाया गया है, उसे तद्वत् वीरोचित परिवेश नहीं मिला है। उसकी पुत्री अपने को देकर संधि कर लेने के लिए तो कहती ही है उसके पक्ष के अन्य लोग भी उसे संधि कर लेने के लिए समझाते हैं। पराजय के भ्रम में क्षत्रानियों का जौहर-व्रत लेना भी अस्वाभाविक ही है। विजय-नाद करते हुए हम्मीरगढ़ की ओर लौट रहे थे तो रानियों ने सोचा कि शत्रु ही जीत कर चले आ रहे हैं। अतएव शत्रु के हाथ में पड़ जाने की अपेक्षा उन लोगों ने मृत्यु को वरण करना ही श्रेयस्कर समझा। जौहर का रूप भी जौहर का न होकर आत्महत्या का है। कोई छुरी, खड्ग या कटार से आत्मघात करती है, कोई आग में जल मरती है तो कोई कुएँ में डूब मरती है।

१. कर जोरि कहै देवल कुँवरि मो विनती चित मै धरौ।
दै देहु मोहिं सुलतान कौं अचल राज गढ़ पर करौ॥२५५॥
—हम्मीर-हठ, सं० जगन्नाथदास, रत्नाकर, पृ० ४५

किसी को कुछ नहीं मिलता है तो घर में ही सिर फोड़ कर मर जाती है। जौहर व्रत का यह रूप नहीं है, यह तो घबराहट में जैसे-तैसे मर मिटना है। किंतु इस सामूहिक आत्महत्या के पूर्व की स्थिति घबराहट की बिलकुल नहीं है। सभी रानियाँ करणीय कार्य के विषय में परस्पर विचार करती हैं, स्नान और दान करती हैं। ऐसी अवस्था में तो चंदन की चिता भी तैयार हो सकती थी और उसमें दस हजार क्षत्रानियाँ अपने को एक साथ स्वाहा कर सकती थीं।

'हम्मीर की निस्संकता एवं निर्भीकता को प्रकट करने के लिए वर्णन का आश्रय न लेकर कवि ने एक सुंदर प्रकरण द्वारा उसे व्यंजित किया है। गढ़ के बाहर हम्मीर तथा अलाउद्दीन की सेना में भयंकर संघर्ष चल रहा है, किंतु हम्मीर निश्चिंत हैं जैसे उनके लिए यह इतनी साधारण बात है कि वे नाच-रंग को छोड़कर उसकी ओर ध्यान ले जाने की भी आवश्यकता नहीं समझते। मृदंग की ध्वनि पर प्रवीण नर्तकी नृत्य कर रही है और हम्मीर वहाँ बैठे हुए यह उन्मद नर्त्तन देख रहे हैं।[१]

कुछ विद्वानों ने चंद्रशेखर पर यह आरोप लगाया है कि उन्होंने हम्मीर के प्रतिपक्षी अलाउद्दीन में वीरता का वह रूप नहीं दिखाया जो हम्मीर जैसे वीर के विपक्षी में होना चाहिए। अलाउद्दीन घर में एक चूहे को देखकर डर जाता है। पर 'हम्मीर-हठ' में अलाउद्दीन का चरित्र सम्पूर्ण रूप में पराक्रम से शून्य नहीं है। उसका युद्ध-अभियान तथा हम्मीर से युद्ध एक पराक्रमी सम्राट् के अनुकूल ही है। उसकी सेना के प्रयाण से धरती काँपने लगती है, भास्कर धूल से छिप जाता है, उसका प्रताप द्वितीय सूर्य के ही समान है। वह अस्सी लाख की अजेय सेना का अधिपति है।[२]

सभी खंडकाव्यों में वीर रस का उच्छल स्रोत प्रवहमान है किंतु इनमें वीर रस की यह व्यंजना युगीन प्रवृत्ति के अनुरूप अधिकतः शब्दगत है, अत्यल्पतः भावगत। उत्साहजनित भावों की अभिव्यक्ति न कर द्वित्व एवं कर्कश वर्णों की योजना, शस्त्रास्त्रों की चमक-दमक, वीरों की उछल-कूद और रुंड-मुंड के गिरने के वर्णन से वीर भाव की अभिव्यंजना कराने का प्रयत्न किया गया है। 'हिम्मत

२. होत जुद्ध अति क्रुद्ध ह्वै, लरत सुभट रनधीर।
तहँ निसंक चहुँआनपति देखत नाच हम्मीर ॥१७०॥
बाजति ताल-मृदंग-धुनि, नाचति नटी नवीन।
लसत बीर हम्मीर तहँ, राग-रंग-रस-लीन ॥१७१॥
—हम्मीर-हठ, चंद्रशेखर वाजपेयी, सं० जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ ३२-३३

१. देस दुनी-पति दीनपति, दिल्ली तखत-नसीन।
दूजौ सूरज सो तपै, साह अलाउद्दीन ॥८॥
थर थर कंपै मेदिनी, रविरथ झंपै धूरि।
साह अलाउद्दीन जब सहज चलत कछु दूरि ॥९॥
असी लक्ख दल बल सजे जिहि दिसि देखत बंक।
तिहिं दिसि कोप्यौ काल जनु होत राव सब रंक ॥१०॥
—हम्मीर-हठ, सं० जगन्नाथदास 'रत्नाकर', पृ० २

बहादुर विरुदावली' में तो वीर रस मात्र शब्द-योजना तक सीमित है[1] चंद्रशेखर में कृत्रिमता इतनी नहीं है। उनमें शब्द-जाल उतना नहीं है जितना पद्माकर में, इसीलिए भाव यहाँ उतना दबा हुआ नहीं है। पद्माकर की 'विरुदावली' में तो भाव शब्द-शिला के नीचे दबकर लुप्तप्राय हो गया है। चंद्रशेखर में भाव इतना गौण नहीं पड़ा है। युद्ध वर्णन में कर्ण-कटु वर्णों के प्रयोग की प्रवृत्ति इनमें पद्माकर की अपेक्षा कम है, वर्णों को द्वित्व करने की प्रवृत्ति इनमें भी सामान्य रूप में है। इस तरह युगीन प्रवृत्ति से पूर्णतया मुक्त तो चंद्रशेखर नहीं हैं किंतु वे सहजता की ओर उन्मुख अवश्य हैं। मीर मंगोल की रक्षा के लिए हम्मीर की प्रतिज्ञा में वीर रस का सहज प्रवाह देखा जा सकता है।[2]

वीर रस के अतिरिक्त वीभत्स और भयानक रस की भी योजना इन खंडकाव्यों में हुई है। पद्माकर ने तदनुरूप शब्द-योजना द्वारा वीभत्स रस को साकार कर दिया है।[3] चंद्रशेखर वाजपेयी ने भी वीभत्स की ऐसी ही योजना की है।[4]

---

२. तहँ हुक्का-हुक्की मुक्का-मुक्की ढुक्का-ढुक्की होन लगी।
रन इक्का-इक्की भिक्का-भिक्की फिक्का-फिक्की जोर लगी।
काटत चिलता हैं इमि ग्रस बोहैं तिनहि सराहैं बीर बड़े।
टूटे कटि फिलमैं रिपु रन बिलमैं सोचत दिल में खड़े-खड़े।१८६॥
ढालन के ढक्के लागत पक्के इतउत थक्के थरकत हैं।
इक इक्कनि टक्के बँधे झमक्के तननि तमक्के तरकत हैं।
ललकत फिरि लपटे छत्तिन छपटे करि ग्ररि चपटे पेरत हैं।
भट भुजनि उखारत छिति पर डारत हँसि हुङ्कारत हेड़त हैं।१६०।
—पद्माकर ग्रंथावली, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २७

१. उवै भानु पच्छिम प्रतच्छ दिन चंद प्रकासै।
उलटि गंग बरु बहै काम रति प्रीति बिनासै।
तजै गौरि अरधंग अचल ध्रुवआसन चल्लै।
अचल पौन बरु होइ मेरु मंदर गिरि हल्लै।
सुरतरु सुखाइ लोमस मरै मीर संक सब परिहरौ।
मुख बचन बीर हम्मीर को बोलि न यह बहुरौ टरौ।६२।
—हम्मीर हठ, चंद्रशेखर वाजपेयी, सं० जगन्नाथ रत्नाकर, पृ १३

२. किल किलकत चंडी लहि निज खंडी उमड़ि उमंडी हरषति है।
संग लै बैतालनि दै-दै तालनि मज्जा-जालनि करषति है।
जुग्गिननि जमातीं हिय हरषातीं खद-खद खातीं मासन को।
रुधिरन सों भरि-भरि खप्पर धरि धरि नचतीं करि-करि हासन को।२०८।
—पद्माकर ग्रंथावली, सं० विश्वनाथ प्रसाद मिश्र, पृ० २६

१. चुंचनि चुत्थें गृद्ध मांस जबुंक मिलि भच्छैं।
चाटैं चरबि पिसाच प्रेत गहि हाड़ प्रतच्छैं।
मषैं मोद भरि भूत रुंड भैरव लै भज्जैं।
गहि कपाल रत पान करत चंडी गल गज्जैं॥
—हम्मीर-हठ, चंद्रशेखर वाजपेयी, सं० रत्नाकर, पृ० ५८-५६

इन्होंने हम्मीर में रौद्र रस को साकार कर दिया है। जब उनकी पुत्री कातर होकर अपने को देकर अलाउद्दीन से संधि कर लेने का अनुरोध करती है तो हम्मीर देव रौद्र की मूर्ति बन जाते हैं।[1] भयानक रस के अनुभावों का भी बड़ा सजीव वर्णन चंद्रशेखर ने किया है।[2] इनके 'हम्मीर-हठ' में वीर रस के ऊपर करुणा मिश्रित शांत रस बैठा हुआ है। क्षत्रानियों के आत्मघात को जानकर हम्मीर के द्वारा विधि विधान के आत्मचिंतन में शांत रस है[3] जिसमें क्षत्रानियों तथा हम्मीर के आत्मघात से उत्पन्न करुणा मिली हुई है।

अलंकरण सभी खंडकाव्यों में है और अनुप्रास को छोड़कर अन्य सभी अलंकार सहज ही में आये हैं। पद्माकर की 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में अनुप्रास का अतिरेक है जिसमें स्वाभाविकता की सीमा का अतिक्रमण है। चंद्रशेखर की भाषा भी अत्यंत अनुप्रासमयी है किंतु इसमें सहजता जनित मनोरमता भी है। अनुप्रास की अतिशय योजना के कारण पद्माकर की भाषा जहाँ कृत्रिम हो गयी है वहाँ चंद्रशेखर की भाषा की स्वाभाविकता अक्षुण्य है। इसके अतिरिक्त पद्माकर ने

---

१ करौं घोर घमसान घेरि दल बल दहपट्टौं।
मुंड निरहित बितुंड मुंड सम सेरनि कट्ठौ।
उठैं रुंड रन रुधिर कुंड भरि भूत उमत्थें।
बधौं जुत्थ निज हत्थ लुत्थ पर लुत्थ उलत्थें।
अलाउद्दीन मारौं पकरि देहुँ पठै जमलोक कौं।
बेटि न बोलि काँचौ बचन यह समयो नहिं सोक कौ।२५७।
—हम्मीर हठ, चंद्रशेखर वाजपेयी, सं० रत्नाकर, पृ० ४६

२. सर मैं लिख्यौ मीर को जौन। बाँच्यौ पातसाह जब तौन।
भयो सपेद बदन दृग झंपे। डोलत दंत गात सब कंपे।२०१।
करत बिचार और सब ठाढ़े। खरभर परी सोच मन गाढ़े।
पीर मनाइ कहत कर जोरी। बच्यौ साह साहब गति तोरी।२०२।
—वही, पृ० ३८

३. गावत गुन आगम-निगम, निसिदिन लहत न अंत।
तीन काल जुग चारि मैं, है भावी बलवंत।३७५।
हानि लाभ जीवन मरन, चर अरु अचर समान।
बिधि प्रपंच प्रगट जगत, भावी बस सब जान।३७६।
है हरता करतार प्रभु, कारन करन अखेद।
यह विचारि चौहुआन के, मन मन उपज्यो निरबेद।३७७।
—वही, पृ० ६४

उत्प्रेक्षा,[1] संदेह,[2] उदाहरण,[3] आदि अलंकारों की भी योजना की है। चंद्रशेखर के हम्मीर-हठ में उत्प्रेक्षा,[4] उदाहरण,[5] लोकोक्ति,[6] मालोपमा,[7] आदि के उदाहरण मिलते हैं। इनमें से उत्प्रेक्षा और उदाहरण का कवि ने पुष्कल प्रयोग किया है।

सबमें वीर रसोपयुक्त विविध छंदों का प्रयोग हुआ है। 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' में छप्पय, हरिगीतिका, हनूफाल, डिल्ला, भुजंगप्रयात और त्रिभंगी, 'गोराबादल की कथा' में दोहा, सोरठा, छप्पय, चौपाई, छंद रसावलो, कुंडलिया और मोतीदाम तथा चंद्रशेखर के 'हम्मीर-हठ' में दोहा, कवित्त, सोरठा, चौपाई, सवैया, झूलना त्रिभंगी, भुजंगप्रयात, छप्पय, पद्धरि, त्रोटक और मोतीदाम प्रयुक्त हुए हैं।

पद्माकर और चंद्रशेखर की भाषा ब्रजी है तथा जटमल की राजस्थानी। पद्माकर और चंद्रशेखर दोनों की भाषा प्रौढ़ है। चंद्रशेखर की भाषा में स्वाभाविकता अधिक है। इन्होंने अरबी, फारसी के शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग किया है किंतु इसकी भाषा पात्रोचित है। मुसलमान पात्रों के कथन में ही विदेशी शब्दों की अधिकता दीख पड़ती है।

१. घटनापरक

इस संदर्भ के खंडकाव्य स्वरूप की दृष्टि से अन्य सारे खंडकाव्यों से भिन्न हैं। इनके आरम्भ एवं अंत में कथा का उतार-चढ़ाव नहीं है। एकाएक मूल बिंदु से कथा शुरू होकर निष्कर्ष पर पहुँचकर अचानक समाप्त हो जाती है। ये सब ऐति-

---

१. चढ़ी आसमानै छई बेप्रमानैं मनो मेघमाला गिले आसमानैं ॥६४॥

—पद्माकर ग्रंथावली, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, पृ० [illegible]

२. किधौं ये विमानन्न की चक्र झुंडैं परी टूटि हैं कै विराजै भसुंडे ॥६८॥ —वही

३. जहँ और फौजन कोन सपनेहु चित्त जैबे को चलै।
तहँ नृपति बीर अनूपगिरि पैठो हरषि हाँकत दलै।
जिमि राम रघुवर दौरिके निरसंक लंका पर गयौ।
हिम्मतबहादुर बीर त्यों रन-चीर धावत तहँ भयौ।८५।

—वही, पृ० १२

४. करैं पौन के संग में गौन रूरै मनौ बाज छूटे क्लाकोटि सीखे।

—हम्मीरहठ, चंद्रशेखर वाजपेयी, सं० जगन्नाथदास रत्नाकर, पृ० १

५. साहँ निरखि सबनि सुख ऐसें। चंदहि चाहि चकोरिन्हि जैसे।

—वही, पृ० ६

६. दोऊ भाँति बात यह ऐसी। साँप छछूँदर की गति जैसी ॥१३१॥

—वही, पृ० १२७

७. रचित रुचिर मनि मंदिर में रच्यौ रंग,
गावति सुगंध बार अंगना निहारी है।
मंजु मेनका सी मंजुघोषा सी सुरस भरी,
रंभा सी अनूप रूप भूषन सँवारी है।

—वही, पृ० ३३

हासिक काव्य ही नहीं, काव्यबद्ध इतिहास ही हैं। तथ्य के अतिरिक्त एक बात भी अधिक कहने का अवकाश कवि को नहीं होता। इन खंडकाव्यों में कवि ने पुस्तक का प्रणयन-काल नहीं दिया है किंतु युद्ध-काल अवश्य दिया है। इसकी तथ्यपरकता का एक प्रमाण यह भी है। साथ ही, इससे यह भी पता चलता है कि खंडकाव्य रचने के लिए इन्होंने युद्ध-वर्णन नहीं किया, अपितु युद्ध-वर्णन अपना उद्देश्य आप है। इसकी कथा-योजना में न तो प्रबंधौचित्य के निर्वाह की आवश्यकता होती है और न प्रकरण-वक्रता का नियोजन ही अपेक्षित होता है। इन सबमें वर्णित युद्ध प्रायः कवि का आँखों देखा होता है, अतएव अपनी चाक्षुष शक्ति एवं स्मृति पर भरोसा कर कवि तद्वत् वर्णन कर देता है। इनमें नायक का अभ्युदय और प्रतिनायक की पराजय दिखाना कवि को उद्दिष्ट नहीं होता। इस कारण इस परम्परा के किसी-किसी खंड-काव्य में नायक की पराजय भी दिखायी गयी है। सदानंद के 'रासा भगिवंतसिंह' में नायक भगिवंतसिंह की मृत्यु हो जाती है।

प्रबंध-विधान के आवश्यक उपकरणों से रहित होने पर भी ये काव्यत्व से शून्य नहीं हैं, अन्यथा ये कृतियाँ पद्यबद्ध इतिहास हो जातीं। इसका सारा काव्यत्व वर्णन में ही सिमटा हुआ है। सदानंद ने सेना के अभियान का गतिमय चित्र खींच दिया है।[1] इस शब्द-चित्र की सरसता द्रष्टव्य है 'रणमल्ल छंद' में भी युद्ध के ओज-सम्पन्न चित्र दर्शनीय हैं।[2] 'रणमल्ल छंद' के युद्ध-वर्णन में तदनुरूप शब्द-योजना और ओजोत्पादक भाव-व्यंजना दोनों है। आगे चलकर कवियों की वीर-भाव-व्यंजना शब्द-योजना ही सीमित रह गयी है। सदानंद ने वीर और भयानक रस का बड़ा सुंदर विधान किया है। भगिवंतसिंह की सेना के वीरों ने युद्धाह्वान के उत्तर में जो कुछ कहा है उसमें वीर रस साकार हो उठा है।[3] इसी तरह भगिवंतसिंह ने जो

---

१. उठि प्रात चूम चतुरंभ तुरंग चली। सब लोक ससंकित भूमि हिली।
ताको दल व्यौमन नेकु थिरै। अहिराजन कैसे धीर धरै।
अति रोर विसाल सुमेरु हले। थलको तजि दिग्गज भाजि चलै।
धर रेनु उहीन भजाइ छई। तम सूर छिप्यो जनु रैनि भई।
तब ही सर छाड़ि मराल गये। चकई चकवा बहु सोक लये।
अति हर्ष उलूकन नेत्र खुले। सकुचे जलजात कुमुंद फुले।।१५।
—रासा भगिवंतसिंह, सदानंद

२. डम डमइ डमडमकार डंकर ढोल ढोली जंगिया।
सुर करहि रणसरणाइ समुहरि सरस रस समरंगिया।
कलकलहि काहल कोडि कलरवि कुमल कायर थरथरइ।
संचरइ शकसुरताण साहण साहसी सवि संगरइ।।२३।।
—रास और रासान्वयी काव्य, पृ० २४६

३. वीर कहैं भगिवंत सु यों रनभूमि में पांऊँ कवौं नहिं टारौं।
छोड़ि गयंद तुरंगन के पति भूलि कबौ पश्ते नहिं मारौं।
मुंड अनेक गिरैं धर में भरमैं नहि वग्ग दऊ कर झारैं।
ज्वानन कै हुलसै बिरचै रन सादत षान को आनन फारौं।।८६।।
—रासा भगिवंतसिंह, सदानं·

भयानक युद्ध मचाया है उसका ऐसा भयोत्पादक चित्र प्रस्तुत किया गया है कि उसे पढ़कर सचमुच भय का संचार होने लगता है।[1]

सदानंद का वर्णन अलंकृत भी है। उन्होंने उत्प्रेक्षा,[2] मालोपमा[3] आदि अलंकारों की योजना की है।

छंद-योजना में इन सबकी प्रवृत्ति विविध छंदों के प्रयोग की है। वीर रसोपयुक्त विविध छंदों के द्वारा युद्ध में प्रतिपल बदलते रंगों को सफलता के साथ अभिव्यक्ति दी गयी है। 'रणमल्ल छंद' में आर्या, चुप्पई, सारसी, दूहू, दूहा, सिंहविलोकित, पंचचामर हांढकी, दुमिला, भुजंगप्रयात और छप्पय; 'हिम्मत-बहादुर विरुदावली' में छप्पय, हरिगीतिका, हाकल, डिल्ला, भुजंगप्रयात और त्रिभंगी; 'जंगनामा' में दोहा, तोमर, हरिगीतिका, पादांकुल, अधमा, छप्पय, मधुभार, भुजंगप्रयात, अर्धक, गीता, हुलास, हीर और कवित्त तथा 'रासा भगिवंतसिंह' में दोहा, पद्धरी, मत्तगयंद, त्रोटक, भुजगप्रयात, कवित्त, छप्पय, कुंडलिया, गीतिका, लीलावती छंद, चंद्रकला, त्रिभंगी, शशिवंदना, शंखनारी, रुपघना और सर्वकल्याण दंडक प्रयुक्त हुए हैं। इस तरह इतने प्रकार के छदों का प्रयोग किसी अन्य प्रसंग के खंडकाव्यों में नही हुआ।

'रणमल्ल छंद' प्रस्तुत शोध का प्राचीनतम खंडकाव्य है। अतएव इसकी भाषा भी अत्यंत प्राचीन है। आरम्भ की दस आर्याएँ संस्कृत में हैं। शेष छंदों की भाषा में अपभ्रंश और अवहट्ट काल के उपरात की आरम्भिक हिन्दी ही है जिसमें एक ओर संज्ञाओं तथा क्रियाओंके प्राचीन प्रयोग सुरक्षित हैं तो दूसरी ओर फारसी के शब्दों की भरमार है इसकी भाषा पर विचार करते हुए डा० शिवप्रसादसिंह ने लिखा है कि श्रीधर व्यास की भाषा चारण शैली से घोर रूप में रँगी हुई है। भाषा प्राय: पृथ्वीराज रासो की तरह ही है। कही-कही तो भाषा बिलकुल सूदन की भाषा की तरह है।[4] 'जंगनामा', 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' और 'रासा भगिवंतसिंह' की भाषा ब्रजी है। 'जंगनामा' की भाषा प्रातीय एवं विदेशी शब्दों से भरी हुई तथा

---

१. नृप भगिवंत जब लीन्ही है कृपान कर निपटि अडोल बोर तेउ ऊठे डौलि डौलि ॥
कीन्हो है धरा में अति भारत धवल महा गहै वाट वारी सिर जया बरै
तौलि तौलि ॥
भारे भट मारे घाय घूमै मतवारे चले श्रोवित पनारे ज्यों अटाके दये
घोलि घोलि ।
जोगिनी सुचित भरि खप्पर बचत नहि गान न रचत बहुमुंड ऊठत बोलि
बोलि ॥७६॥
—रासा भगिवंतसिंह, सदानंद

२. धर धेनु उहीन अजाइ छइ।
तमसूर छिप्पी जनु रैनि भई। —वही

३. जोति सी जगी है अनुराग सों रगी वज्र ज्वाल सों पगी है गति अदभुत
पाइकै ॥८०॥ —वही

४. सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य, डा० शिवप्रसादसिंह, पृ० १२३

निष्प्राण है। 'हिम्मत बहादुर विरुदावली' की भाषा प्रौढ़ तो है किंतु अतिशय अनुप्रासिका, द्वित्व वर्णों के प्रचुर प्रयोग तथा शब्दों के धड़ाधड़ भड़ामड़ से कृत्रिम हो गयी है। 'रासा भगिवंतसिंह' में दो तरह की भाषा-शैली देखने को मिलती है। युद्ध-वर्णन की भाषा-शैली वही है जो अन्य चारण कवियों की है जिसमें द्वित्व वर्णों का प्रयोग किया गया है। अन्यत्र भाषा प्रसादगुण सम्पन्न एवं मनोहर है।

(३) प्रेममूलक खंडकाव्य

(क) गार्हस्थ्य प्रेममूलक

इस परम्परा के दोनों खंडकाव्य किसी कवि विशेष की प्रतिभा के परिणाम नहीं, बल्कि लोक-मनीषा की उपज हैं। दोनों अज्ञातकाल से जन-कंठ में स्थित और दोनों ने प्रायः पचास वर्षों के अंतर पर सोलहवीं शताब्दी ईस्वी में स्वतंत्र और लिखित रूप प्राप्त किया। लोकोद्भूत होने के फलस्वरूप दोनों सहज मानवीय अभिव्यक्ति के उज्ज्वल रूप हैं। 'ढोलामारुरा दूहा' की कथा तो पूर्णरूपेण एक लोककथा ही है जिसमें शास्त्रीय कथा-योजना का कहीं कोई आभास नहीं है। शास्त्रीय काव्यों में मनुष्य ने अपनी व्यथा प्रकृति को सुनायी है, उससे सहायता की याचना की है और दुःखी व्यक्ति ने उसे प्रफुल्लित देखकर कोसा भी है किंतु प्रकृति ने इन सबका उत्तर सदैव अपने मौन से दिया है। प्रकृति का मौन जहाँ एक ओर स्वाभाविक है वहाँ श्रोता का चुप रह जाना अवश्य ही अस्वाभाविक है। लोककथाकारों ने मनुष्य और पशु-पक्षियों में कोई अंतर नहीं रखा है। मनुष्य उन्हें अपनी बात कहता है और वे उसका यथोचित उत्तर देते हैं तथा मनुष्य की यथोचित सहायता भी करते हैं। 'ढोला मारुरा दूहा' में सर्वत्र ऐसा हुआ है। मारवणी कुंझों से प्रियतम के पास उड़कर जाने के लिए पंख मांगती है और उनके अस्वीकार कर देने पर उन्हें संदेश ले जाने के लिए कहती है, ढोला जब पूगल जाने के लिए प्रस्तुत होता है तो मालवणी का ढोला को ले जाने वाले ऊँटों से सम्भाषण, ढोला के चले जाने पर मालवणी द्वारा उसे लौटा लाने के लिए सुए को भेजना, पूगल के पथ पर चलते हुए ढोला और ऊँटों में वार्तालाप आदि प्रकरण इसकी लोककथात्मकता के प्रमाण हैं। 'मैनासत' में ऐसे प्रकरण तो नहीं हैं परंतु उसके वर्णनों की सहजता ही उसके लोक-साहित्य होने का प्रमाण है।

इन दोनों में प्रबंध-विधान के चमत्कारों का अभाव है, कथा बिलकुल स्वाभाविक ढंग पर चली है। दोनों का कलेवर वर्णनात्मक है, प्रकरण-वक्रता का यहाँ अभाव है। फिर भी, 'ढोला मारुरा दूहा' में ऐसे अनेक मनोहर प्रसंग आ गये हैं जिनसे कथा की चारुता बढ़ी है। सौदागर जब मारवणी के पिता से ढोला की बात कहना शुरू करता है तो वह सखियों को साथ लेकर सौदागर के निकट से होकर गुजरती है।[1] भला कौन ऐसी नारी होगी जो अपने प्रियतम की बात सुनना न चाहे

१. सही समांणी साथि करि, मंदिर कूँ मल्ह पंत।
सउदागर-नेड़ी वहइ, सुणिवा प्रीतम-वत्ता ॥६८॥
—ढोलामारुरा दूहा, ना० प्र० सभा

और उसमें भी वियोगिनी ! फिर, वह अकेले कैसे जाती, सखियों को साथ ले लेती है। लज्जाशीला भारतीय नारी जो ठहरी ! और इसी कारण वह वहाँ ठहरकर प्रिय की बातों से अपने कानों को भर भी नहीं सकती, उसके निकट से गुजरते हुए कण-रंध्रों में जो भी अमृत कण चू पड़ें उनसे ही उनको संतोष करना था। इस प्रकरण की मार्मिकता अद्भुत है।

ढोला के प्रति मारवणी और मालवणी दोनों का अनुराग अनन्य है। मारवणी से कम प्रेममयी मालवणी नहीं है। प्रेममयी नारियाँ सपत्नी को सहने में असमर्थ होती हैं। यही कारण है कि जब ढोला मारवणी से मिलने के लिए प्रस्तुत होता है तो मारवणी बेहोश हो जाती है।[1] उसके प्रेम की अनन्यता का यह प्रमाण है। ढोला पूगल चलने के लिए तेज चलने वाले ऊँट को चुनता है तो मालवणी उससे मिलकर ढोला के पूगल जाने में बाधा खड़ी कर देना चाहती है। यह प्रकरण बड़ा मनोरम है। मालवणी जब ऊँट से कहती है कि तू लंगड़ा होकर रह जा और मेरे प्रियतम को पूगल न ले जा तो ऊँट अच्छा उत्तर देता है। वह कहता है कि तुम दोनों प्रेमी तो आखिर मिल ही जाओगी किंतु मैं लंगड़ा होकर दागा जाऊँगा और भूखों मरूँगा।[2] ऊँट का उत्तर बड़ा मनोवैज्ञानिक है। पति-पत्नी का कलह तो बहुत अल्पकालीन होता है, दोनों आखिर मिल ही जाते हैं। कुछ देर तक ऊँट से मालवणी का उत्तर-प्रत्युत्तर चलता है। अंत में मालवणी जब उसे अपना भाई बनाकर उससे लाज रखने का अनुरोध करती है तो ऊँट झुक जाता है और वह लंगड़ा होने का बहाना करता है। इस अवसर पर ढोला की माता चातुरी से इस षड्यंत्र का रहस्य खुल जाता है और मालवणी का कुछ नहीं चलता। ढोला मारवणी से मिलने चलता है, इसका व्यापक प्रभाव दिखाया गया है। इन दोनों के मिलन से जड़ प्रकृति भी प्रफुल्ल हो रही है। मालवणी के लिए यह आश्चर्य का विषय बना हुआ है। वह उससे पूछती है कि क्या प्रियतम ने तुझे सींचा है या अकाल वर्षा हुई है जिससे तुम हरे-भरे हो रहे हो, तब वह तरुवर उत्तर देता है कि ढोला ने मेरी डाली में अपने ऊंट को बाँधा था जिससे मैं हरा-भरा हो रहा हूँ।[3] एक स्थल पर एक बड़े मनोवैज्ञानिक परिवर्तन को चित्रित किया गया है। मालवणी पहले तो ढोला को लौटा लाने के लिए सुए को भेजती है किंतु जब सुआ असफल लौट आता है तो ढोला के प्रति उसका अनुराग एकाएक उमड़ पड़ता है। अब वह ढोला के

---

१. मालवणीकउ तन तप्यउ, विरह पसरियउ अंगि।
ऊभी थी खड़हड़ पडी, जाणे डसी भुयंगि ।२३९।।
—ढोला-मारूरा दूहा, ना० प्र० सभा

२. खोड़ हुँ तउ डाँभिज्यउँ बांध्यऊ भूख मरेसि।
थे बिहुँ सज्जण रलि मिल्यउ हूँ विच दुख्खसहेसि ।।३१८।।
—वही

३. ना हूँ सींची सज्जणो, ना बूठउ अग्गालि।
मो तलि ढोलउ बहि गयउ, करहउ बांध्यउ डालि ।।३९२।।
—वही

पूगल पहुँचने में बाधिका न होकर सहायिका ही होना चाहती है। वह विधाता से कहती है कि मुझे मारु देश में बबूल का वृक्ष क्यों नहीं बनाया कि प्रियतम उससे छड़ी काटते और मैं उनके कोमल कर का स्पर्श पाती, फिर मुझे काला बादल ही क्यों नहीं बनाया ताकि उष्ण मरु-प्रदेश में चलते हुए उनपर मैं छाया करती।[1] यहाँ दाम्पत्य प्रेम-भावना का चरम रूप उपस्थित हुआ है।

परस्पर दो प्रेमी-हृदयों में स्थान की दूरी के बावजूद एक अदृश्य सम्बन्ध होता है और दोनों एक साथ धड़कते हैं। ढोला रास्ते में पूगल पहुँचने के लिए व्यग्र है और उधर मारवणी की नींद हराम हो रही है। ढोला की व्याकुलता उसका स्वप्न बनकर उसे सोने नहीं दे रही है मारवणी स्वप्न में ही ढोला से मिल लेती है।[2] स्वप्न में जब वह प्रियतम को देखती है तो दौड़कर गले मिलती है। खुलते हुए पलक को इस डर से नहीं खोल रही है कि सचमुच ही कहीं स्वप्न न हो जाय। यथार्थ का कैसा भ्रम है। इसी का भावा-पहरण कबीर की एक साखी में किया गया है।[3] लेकिन कबीर की विरहिणी में वह व्याकुलता नहीं है जो मारवणी में है। मारवणी अपनी सारी आकुलता के साथ दौड़कर प्रियतम का गला पकड़ती है, कबीर की बियुक्ता ऐसी कोई आतुरता नहीं दिखाती।

लोक-साहित्यकार लोक स्वभाव का पारखी होता है, इसीलिए कि वह स्वयं एक साधारण जीवन जीने वाला व्यक्ति होता है और इस तरह लोक-जीवन को वह दिन-रात निकट से देखता रहता है। अतः उसका मनोविज्ञान अधिक नहीं, बल्कि दृष्ट होता है। 'ढोला मारुरा दूहा' में नारी मनोविज्ञान का ऐसा ही यथार्थ चित्र प्रस्तुत किया गया है। ढोला जब मारवणी को लेकर नरवर लौट आता है तो मालवणी और मारवणी क्रमशः मारु और मालव देश की निंदा करती है। हर नारी अपने मायके को श्रेष्ठ समझती है और ऐसा दिखाने के प्रयास में वह दूसरे के मायके के अवगुणों और अपने मायके के गुणों को सामने रखती है। यह बात सपत्नियों में कितना उग्र रूप में होगी, यह सहज ही अनुमेय है। सपत्नियों के इस पारस्परिक विवाद का अंत स्वाभाविक नहीं हुआ है। ढोला मारवणी का पक्ष लेकर मारू देश की प्रशंसा करता है और इसके बाद कहा जाता है कि विवाद का अंत हो गया। यह सम्भव नहीं प्रतीत होता। पक्षपात से विवाद का अन्त नहीं होता, मनोमालिन्य बढ़ता है। अगर ढोला दोनों देशों की प्रशंसा कर इस विवाद का अंत करता तो अधिक

---

१. बाँवलि काँइ न सिरजियाँ, मारू मंझ थलाँह।
प्रीतम बाढ़त काँबड़ी, फल सेवंत कराँह ॥४१४॥
साँवलि काँइ न सिरजियाँ, अंबर लागि रहंत।
बाट चलंता साल्ह प्रिव, ऊपर छाँह करंत ॥४१५॥
—ढोला-मारुरा दूहा, ना० प्र० सभा,

२. सुपनई प्रीतम मुझ मिलया, हूँ गलि लग्गी धाइ।
डरपत पलक न छोडही, मति सुपनउ हुइ जाइ ॥५०३॥—वही,

३. सपने में साईं मिले सोवत लिया जगाय।
आँखि न खोलूँ डरपता मत सपना हो जाय।

स्वाभाविक होता। जो हो, इस प्रकरण के बहाने मारू और मालव देशों का वर्णन हो गया है और उक्त वर्णन के लिए इस तरह अवसर निकालने का प्रयास निस्संदेह कलात्मक है।

'ढोला-मारुरा दूहा' में आदि से अंत तक प्रकृति कहीं भी अनुपस्थित नहीं है। किंतु प्रकृति वर्णन यहाँ वर्णन के लिए नहीं हुआ है बल्कि वह अन्य वर्णनों के साथ इस तरह संयुक्त है कि उसे पृथक् नहीं किया जा सकता। इसके जितने प्रमुख वर्णनात्मक स्थल हैं, सब प्रकृति के ही माध्यम से हुए हैं। प्रारम्भ में मारवणी की विरहातरता को बरसात की पृष्ठभूमि में ही दिखाया गया है। ऐसा प्रतीत होता है मारवणी की आँखों का दृश्य ही बरसात के रूप में संसार के समक्ष खड़ा हो गया है मारवणी के नयनों में ढोला का रूप छाया हुआ है, उसी का प्रतिरूप आकाश में बादल है। किंतु दोनों में एक अन्तर यही है कि ऋतु विशेष में ही आकाश में बादल घिरता है, पर मारवणी के नेत्र तो सदा भरे रहते हैं।[1] मारवणी ने बड़ा लम्बा संदेश ढोला को भेजा है। इसमें विदग्धता और चमत्कार दोनों हैं। इस सन्देश में प्रकृति का आश्रय नहीं लिया गया है लेकिन वह अनुपस्थित भी नहीं है। यत्र-तत्र प्राकृतिक उपादानों के सहारे ही मारवणी ने अपनी व्याकुलता सूचित की है। एक दूहे में वर्षा ऋतु का मनोरम चित्र प्रस्तुत कर दिया गया है।[2] सच पूछा जाय तो प्रकृति यहां मनुष्य की अदृश्य स्थिति को सफलता के साथ अभिव्यक्त करने की साधन है। एक ही प्रकृति विभिन्न स्थिति में पड़े हुए व्यक्तियों के लिए विविध प्रभाव उत्पन्न करती है, इसका बड़ा मार्मिक वर्णन शीत ऋतु के प्रसंग में हुआ है। शीत पड़ता है संयोगिता के आँगन में और वियोगिता के शरीर में, पाला पड़ता है संयोगिनी की पीठ के पीछे और वियोगिनी के हृदय के आगे[3]। फिर ऋतु-वर्णन के क्रम में जो प्रकृति वर्णित हुई है सो तो हुई ही है।

'ढोला-मारुरा दूहा' में शृंगार के दोनों पक्ष संयोग और वियोग अपने अंगों के साथ चित्रित हैं। इनमें विरह-वर्णन ही प्रमुख है बल्कि यही कहना उपयुक्त होगा कि इस खंडकाव्य का ताना-बाना विरह के तारों से ही बुना हुआ है। प्रारम्भ में मारवणी के विरह का विस्तृत वर्णन तो है ही उसने ढाढ़ियों के द्वारा जो सन्देश भेजा

---

१. ऊनमि आई बद्दली, ढोलउ आयउ चित्त।
यो बरसइ रितु आपणी, नरुण हमारे नित्त ।।४१।।
—ढोला-मारुरा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा,

२. पावस मास, विदेस प्रिय, घरि तरुणी कुलसुध्ध।
सारँग सिखर, निसद्द करि, मरइ सकोमल मुग्ध ।।१७४।।
—वही,

३. उत्तर आज स उत्तरउ, सीय पड़ेसी थट्ट।
सोहागिण घर आँगणइ, दोहागिणरइ घट्ट ।।२९०।।
उत्तर आज स उत्तरउ पालउ पड़िसी रीठ।
दोहागिण-घट साँमुहउ सोहागिणरी पीठ ।।२९१।।
—वहा.

है उसमें अपना विरह कातर हृदय निकालकर रख दिया है । उसमें कहीं तो उसके हृदय की व्यग्र पुकार है, कहीं मधुर उपालम्भ तो कहीं अनन्य अनुराग की अभिव्यक्ति है। उसके उपालम्भ में क्रोध नहीं, आकुलता है। इससे वह अन्य कवियों के उपालम्भ से भिन्न है। वह ढोला से कहती है कि तुम न तो मिलते हो, न भूलते हो, न आते हो, और न ले जाते हो, तब क्या मारवणी के अस्थि-पंजर पर कौए उड़ाओगे।[1] इसमें जिस मधुर ढंग से ढोला को मारवणी कोसती है, वह अनुपम है। ढोला के प्रति मारवणी की आकुल पुकार में प्रतिक्षण उफनते हुए यौवन को वश में रखने की असमर्थता अत्यन्त मार्मिक रूप में व्यक्त हुई है । कभी तो वह अपने यौवन को मदमत्त हस्ति बताते हुए अपने प्रियतम से अंकुश लेकर आने का सन्देश भेजती है[2] कभी बंधन तोड़ते हुए यौवन को बाँधने के लिए बुलाती है[3] तो कभी यौवन-रूपी आम्र फल को चखने के लिए अपने प्रियतम को आमंत्रित करती है।[4] ढोला के प्रति मारवणी का तन्मय प्रेम उसके सन्देश के वर्ण-वर्ण से टपक रहा है । कहीं-कहीं मारवणी ने अपने इस अनन्य अनुराग की ऊहात्मक अभिव्यक्ति की है। एक स्थान पर वह ढोला को सन्देश भेजती है कि तुम मेरे हृदय में निवास करते हो इसलिए मैं गर्म भात नहीं खाती। ऐसा न हो कि तुम जल जाओ।[5]

मारवणी के समान ही मालवणी के विरह का भी विस्तृत वर्णन हुआ है। ढोला के पूगल के प्रस्थान करते ही वह घोर प्रलाप करने लगती है। मालवणी का दुःख भी कम नहीं है; क्योंकि आज तक वह अपने प्रियतम के हृदय की एकच्छत्र स्वामिनी थी और अब ढोला उसके अधिकार में हिस्सा बँटाने वाली मारवणी को लाने जा रहा है। किंतु इतने पर भी उसके रुदन में वह करुणा नहीं उमड़ती जो मारवणी के विरह में सहज ही द्रष्टव्य है । इसका कारण कदाचित् यही है कि पाठक की सारी सहानुभूति मारवणी पहले ही ले चुकती है और मारवणी के संयोग

१. ढोला, मिलिस म वीसरिसि, नवि आविसि ना लेसि
मारू-तणइ करंकडइ वाइस ऊडावेसि ।।१५७।।
ढोला-मारुरा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा,

२. ढाढी, जे राज्यँद मिलइ, यूँ दाखविहा जाइ।
जोबण-हस्ती मद चढयउ, अंकुस लइ घरि आइ ।।११५।।
—वही,

३. वही ममता जइ मिलइ, तउ प्री आखे आय।
जोबण बंधन तोड़सइ, बंधण घातउ आय ।।१२४।।
—वही,

४. ढाढी, एक सँदेसड़उ कहि ढोला समझाइ।
जोबण-आँबउ फलि रह्यउ, साख न खाअउ आइ ।।११७।।
—वही,

५. प्रीतम, तोरहि कारणइ ताता भात न खाहि।
हियड़ा भीतर प्रिय बसइ, दाझणती डरपाहि।१६०।
—ढोला मारुरा दूहा, नागरी, प्रचारिणी सभा,

में बाधिका होने के कारण मालवणी को पाठक अपनी सहानुभूति नहीं दे पाता। सम्भव है, लोक-गाथाकार की भी विवशता यही रही हो। मालवणी के विरह को अत्यन्त ही अतिशयोक्तिपूर्ण रूप में कवि ने प्रस्तुत किया है। ढोला के प्रयाण करते ही विरह-निशाण बज उठता है और उसकी ध्वनि सुनते ही हाथ की चूड़ियाँ खिसक जाती हैं, शरीर की संधियाँ शिथिल हो जाती हैं।[1] पूगल के लिए प्रस्थान करने के पूर्व ढोला ने मालवणी से वहाँ जाने के लिए अनुमति माँगी है उस सिलसिले में ऋतु वर्णन हुआ है। इसमें संयोगिनी के द्वारा भावी विरह की आशंका को ऋतुओं के माध्यम से उपस्थित किया गया है। इस तरह यह ऋतु-वर्णन परम्परागत ऋतु-वर्णन से कुछ भिन्न है। इसमें विरह का आभास मात्र है।

इस विरह काव्य में संयोग-वर्णन एक बूँद के समान है किंतु उसका महत्व न्यून नहीं है। इस विरह का अवसान मधुर संयोग में ही हुआ है। विरह के समान संयोग का कवि ने विस्तृत वर्णन नहीं किया है परन्तु इसकी सारी मधुरता को एक क्षण में ही समेट लिया गया है। इस संयोग को संघटित कराने के पश्चात् कवि ने इस। को विस्तार न देकर अन्य वर्णनों के द्वारा इसे पुष्ट किया है। इस संयोग में क्षणिक बाधा दिखाकर इसकी गहनता को व्यक्त किया गया है। यह संयोग पूगल में ही संघटित होता है। नरवर लौटते समय एक रात प्रियतम के कंठ से लगकर सोती हुई मारवणी को एक विषधर काट खाता है। ढोला इतना व्यग्र हो जाता है कि वह मारवणी के साथ मरने के लिए तैयार हो जाता है, किंतु ऐसे ही समय एक योगी आकर मारवणी को जिला देता है। एक बार यम-गृह से मारवणी के लौट आने पर दूसरी बाधा के रूप में ऊमर-सूमर आता है लेकिन उस दुष्ट के चंगुल से ये प्रेमी-युगल निकल आते हैं। संयोग वर्णन में कवि ने दो हृदयों की जो तदाकारता दिखायी थी उसको इन दो कसौटियों पर जाँच कर खरा भी दिखा दिया।

इस संयोग-वर्णन की विशिष्टता यह है कि दीर्घकालीन विरह की सारी तीव्रता लेकर ढोला और मारवणी परस्पर मिलते हैं। एक लम्बी अवधि तक मारवणी को ढोला के लिए तड़पना पड़ा है। अनेक प्रयत्नों की असफलता के पश्चात् वह ढोला तक अपने विरह-सन्देश को निवेदित कर पाने में समर्थ हुई है। यही नहीं, अपने मार्मिक सन्देश के द्वारा उसने अपनी सारी विकलता ढोला में भर दी है। और, मालवणी द्वारा बहुत दिनों तक पूगल जाने से रोक रखने के कारण उसकी विकलता को वृद्धि और मारवणी के प्रति उसके प्रेम को परिपक्वता प्राप्त होती है। अतएव मिलन के समय दोनों का हृदय समान आकुल है। तभी तो वे अपने अंग-अंग से मिलते हैं।[2] लेकिन उनका यह मिलन केवल शारीरिक मिलन नहीं है, यह

१. ढोलउ चाल्यउ हे सखी, वज्या विरह-निसांण।
हाथे चूड़ी खिस पड़ी, ढीला हुआ संधाण॥३४९॥
—ढोला मारुरा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा,

२. अहरे अहर लगाइ तने तन मेलिया।
(परिहां) जाँणि क गाँधी-हाट जुवांने भेलिया॥५६१॥
—वही,

दो आत्माओं का मिलन है, दो हृदयों की एकता है, इसीलिए कवि कहता है कि वे दोनों नीर-क्षीर की तरह एकमएक हो गये ।[1]

'ढोला-मारुरा दूहा' का शृंगार-वर्णन एकांगी नहीं है । संयोग-वियोग के अतिरिक्त यौवनागम, रूप-चित्रण आदि इसके अन्यान्य अंगों का भी वर्णन हुआ है । मारवणी की वयः-संधि वर्णित हुई है । यह वयः-संधि-वर्णन आकस्मिक है, चंद्र-कला की तरह प्रतिदिन बढ़ते हुए यौवन का गतिमय चित्र नहीं उभर सका है । उसके यौवनागम की सूचना देकर कवि उसके प्रस्फुटित यौवन के वर्णन पर एकाएक उतर आया है ।[2] मारवणी के रूप-वर्णन के किसी अवसर को कवि ने छोड़ा नहीं है । लेकिन यह वर्णन जमकर तब हुआ है जब ढोला पूगल के पथ पर अग्रसरित हो रहा है । उस समय गड़ेरिये के साथ वार्तालाप में ढोला स्वयं मारवणी का ऊहात्मक वर्णन करता है । वह गड़ेरिये को कहता है कि जिस वृक्ष से मारवणी उत्पन्न हुई उसी के छाल के एक गिरे टुकड़े से विधाता ने चन्द्रमा का निर्माण किया ।[3] फिर आगे चलने पर वीसू चारण मिला जिसने मारवणी के सौन्दर्य का विस्तार से वर्णन किया । इस सौन्दर्य-वर्णन में परम्परागत उपमानों का अम्बार लगाया गया है ।[4] कहीं-कहीं यह वर्णन बड़ा मांसल भी हो गया है ।[5]

इस लोक कंठ-निसृत काव्य में अलंकरण का न होना ही स्वाभाविक है । किंतु अलंकरण जहाँ कवियों की प्रवृत्ति में बैठ जाता है वहीं वह काव्य का बोझ-सा उस पर लद जाता है, अन्यथा वह तो साथ ही प्रकट होता है । सत्य तो यह है कि अलंकार वाणी के साथ प्रकट होने वाला उसका कोई अंग अथवा सहायक नहीं ।

---

१. मन मिलिया, तन गड्डिया, दोहन दूरि गयाह ।
सज्जण पाणी-खीर ज्यूँ खिल्लौखिल्ल थयाह ।।५५३।।
—ढोला मारुरा दूहा, नागरी प्रचारिणी, सभा,

२. जिम जिम मन अमले किअइ, तार चढ़ंती जाइ ।
तिम तिम मारवणी-तणइ, तन तरणपउ थाइ ।।१२।।
हंस-चलण, कदलीह जँघ, कटि केहर जिम खीण ।
मुख ससिहर, खंजर नयण, कच श्रीफल, कँठ वीण ।।१३।। —वही,

३. जइ रुँखाँ मारू हुई, जवडउ पड़ियउ तास ।
तइ हुंती चन्दन कियइ, लइ रचियउ आकास ।।४३७।।—वही,

४. चंद वदण, मृगलोचणी, भौंसुर ससदल भाल ।
नासिका-दीप-सिखा जिसी, कैल-गरम सुकमाल ।।४७६।।
दंत जिसा दाड़म-कुली, सीसफल सिणगार ।
काने कुंडल भलहलइ, कंठ टँकावल हार ।।४८०।।
—वही,

५. अहर, पयोहर, दुइ नयण, मीठा जेहा मख्ख ।
ढोला, एही मारुई, जाणे मीठी दख्ख ।।४७०।।
—ढोला मारुरा दूहा, नागरी प्रचारिणी सभा,

प्रयुक्त भिन्न-भिन्न अलंकार वाणी के ही भिन्न-भिन्न रूप हैं। इस तरह 'ढोला मारुरा दूहा' में अलंकारों का पाया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। इसमें रूपक के प्रचुर प्रयोग मिलते हैं। एक स्थान पर मारवणी ने वर्षा ऋतु में अपनी उद्दीप्त अवस्था को युद्ध भूमि के दृश्य के रूप में रूपायित किया है। गगन में घिरी हुई घटा सेना का समूह है, उसमें कौंधने वाली बिजली तलवार है और बूँदों की झड़ी शर-वर्षा है। ऐसी विकट परिस्थिति को वह प्रियतम के बिना कैसे झेले।[1] रूपक के अतिरिक्त उपमा,[2] उत्प्रेक्षा[3] और संदेह[4] भी 'ढोला मारुरा दूहा' में मिल जाते हैं।

इसमें गाहा, दूहा, सोरठा, और चंद्रायण छंदों के प्रयोग हुए हैं। विविध छंदों के प्रयोग होने पर भी इनका चुनव ऐसा हुआ है कि एक छंद-प्रयोग की तरलता और प्रवाहमयता में कोई व्यतिक्रम नहीं हुआ है।

इसकी भाषा तेरहवीं में पंद्रहवीं-सोलहवीं शताब्दी के बीच की राजस्थानी है। इसमें अपूर्व गीतिमयता है।

'मैनासत' में अत्यंत सरल भाषा-शैली में सरल ढंग से एक प्रोशित-पतिका की सतीत्व-रक्षा की कथा कही गयी है। मैना का पति लालन प्रवास में है। उस नगर का राजकुमार मैना के रूप पर मुग्ध होकर रतना नाम्नी कुटनी को मैना के पास भेजता है। रतना मैना को विचलित करने में असमर्थ रहती है। इसी अवसर पर लालन प्रवास से लौट आता है और रतना को केश मुड़ाकर तथा काली टीका लगाकर निकाल दिया जाता है। इसका कथा-तंतु मात्र इतना ही है। इस तरह लघु कथा-सूत्र पर निर्मित यह खंडकाव्य भी वर्णन-प्रधान ही है। खंडकाव्य के आदि और अंत में ही कथा है, मध्य का बृहदांश बारहमासा-वर्णन है जिसमें रतना ने विविध ऋतुओं के परिप्रेक्ष्य में मैना की कामोत्तेजना को जगाकर उसे भटकाने की कोशिश की है। कहीं-कहीं मैना ने भी ऋतुओं से उत्पन्न अपनी पीड़ा को व्यक्त किया है। इस तरह इस बारहमासा में विरहिणी की आत्माकुलता की अभिव्यंजना नहीं होने के कारण तन्मयता नहीं है। यह बारहमासा वर्णन मर्म को छूने के बदले कुटनी के घात की ही सूचना देता है।

---

१. फोज घटा, खग दांमिणी, बूँद लगइ सरजेम।
पावस पिउ विण वल्लहा, कहि जीवीजइ केम ॥२५५॥
—ढोला मारुरा दूहा, नागरी प्रचारणी सभा

२. गोरी गंगा नीर ज्यूँ मन गरबी, तन अच्छ ॥४५२॥
—वही

३. ढोला एही मारुई, जणे मीठी दख्ख ॥४७०॥
—वही

४. सखि वउलावी फिरि गई, प्री मिलियउ एकंत।
मुलकत ढोलउ चमकियउ, बीजल खिवी क दंत ॥५४२॥
—वही

जो भी हो, मैना का ध्यान केवल अपने लालन की ओर लगा हुआ है। ये सारी ऋतुएँ उसके लिए महत्त्वहीना हैं; क्योंकि उनका लालन उसके पास नहीं है। उसकी व्यथा की एकमात्र औषधि उसका अपना लालन है, जो कोई पुरुष नहीं; इसीलिए कि वह प्रेमाकुल है, कामोन्मत्त नहीं। मैना में स्वकीया की एकांत निष्ठा का चरम रूप उपस्थित है। वह सतीत्व की साकार प्रतिमा है। रतना की सारी कूटबुद्धि मैना के पातिव्रत्य की शिला से टकराकर चूर हो जाती है। ऐसा प्रतीत होता है कि रतना के माध्यम से उसकी सतीत्व-साधना की परीक्षा ली जाती है जिसमें सफल होने पर वरदान स्वरूप वह अपने लालन को पा लेती है।

'ढोला मारुरा दूहा' की तरह यह भी एक विरह काव्य ही है। इसकी भी परिणति मिलन में ही है। लालन के परदेश जाते ही मैना विरह की मूर्ति बन जाती है। उसके दुःखों का वर्णन न कर कवि ने एक ही दोहे में उसका ऐसा चित्र उतार कर रख दिया है जिससे उसकी पीड़ा फूटी पड़ती है।[1] उसके अंतर की यही संचित वेदना बाँध तोड़कर तब बह चलती है जब रतना आकर उससे परिचय करती और पूछती है कि तुम्हारी मुख-ज्योति मलिन क्यों है, तुम्हारे शरीर पर श्रृंगार क्यों नहीं है। इसके उत्तर में मैना कहती है कि मेरा श्रृंगार तो उतार कर मेरे प्रियतम ले गये।[2] किंतु मैना की साधना निरर्थक नहीं जाती है। उसका विरह-निशीथ समाप्त होता है और उसके जीवन में संयोग की उषा आँखें खोलती है। उसके उदास मुख पर पुनः प्रफुल्लता की लाली छा जाती है और उसकी मिलन देह श्रृंगार से चमक उठती है। रतना और लालन के मिलन को कवि ने दिखाया नहीं है।[3] उसकी सूचना भर दी है। इससे 'मैनासत' का संयोग-वर्णन मांसलता से बच

---

१. सखिन साथ खेलै नहीं, कर नहिं माया मोह।
इह बिधि सें बैठी रहै, नैन न देखै कोह ॥६०॥
—साधन-कृत मैनासत, सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० १७४

२. मोर पिया है सायर पारू, लै गयो सब सिनगार उतारू ॥१०१॥
कहाकर मालिन करहुं सिंगारा, मोहि परिहर गयौ कंत पियारा।
बैरी न करै सोइ पिय कीन्हा, बाली बैस मोहि दुख दीन्हा।
काजर गोरी कुण पर सांरू, पिय कारन तन जोबन गांरू।
—वही, पृ० १७८

३. किये सिनगार आप मनभाये, करै भोग रित महूरत लाये।
अब सूती घर लालन आना, सुख्ख सरीर भयै सुरताना।
लालन घर आये महमंता, मैना मिटी सरब मन चिंता।
अब सखि सरस सहज सुख लीजै, प्रेम पिया संग अमृत पीजै।
—वही, पृ० २०५

गया है। पुस्तक के प्रारम्भ में वंदना के उपरांत संसार की असारता का वर्णन किया गया है जिसमें शांत रस की छटा दीख पड़ती है।[1]

इसकी प्रबंध-योजना के सम्बंध में द्रष्टव्य है कि बीच-बीच में कवि कथा को छोड़कर अपनी टिप्पणी देने लगा है। ऐसा सम्पूर्ण पुस्तक में कई बार हुआ है। इससे कथा के प्रवाह में बाधा पड़ती है। एक स्थान पर ग्राम्य प्रयोग भी देखा जाता है।[2]

'ढोला-मारुरा दूहा' की तरह इसमें भी अलंकरण की प्रवृत्ति नहीं है, स्वाभाविक रूप से ही कुछ अलंकार आ गये हैं। ऐसे अलंकारों में, उदाहरण,[3] उपमा,[4] उत्प्रेक्षा[5] और लोकोक्ति[6] के नाम लिये जा सकते हैं।

मैनासत में दोहा चौपाई की प्रबधानुकूल छंद-योजना है। चौपाई के बीच-बीच में दोहे और सोरठे हैं।

'मैनासत' की भाषा को श्री हरिहरनिवास द्विवेदी ग्वालियरी बताते हैं।[7] डा० वासुदेवशरण अग्रवाल इसको अवधी कहते हैं।[8] किंतु सत्य तो यह है कि इसकी भाषा में पूर्वी एवं पश्चिमी के ऐसे मिले-जुले प्रयोग मिलते हैं कि उसे इन दोनों में से कोई एक कहना कठिन है। इसकी भाषा में प्राचीनता के लक्षण मिलते हैं। यत्र-तत्र द्वित्व वर्णों का भी प्रयोग है। सब मिलाकर इसकी भाषा-शैली साधारण ही कही जायगी।

(ख) स्वच्छंद प्रेममूलक

उषा-अनिरुद्ध-सम्बंधी

इस संदर्भ के सारे खंडकाव्य स्वप्न-दर्शन-जनित पूर्वराग और तदुपरांत प्रेम पर अवलम्बित हैं। बाणासुर की पुत्री उषा स्वप्न में अनिरुद्ध को देखतीं है और वह

१. जातो देखूं यह संसारू, काको लोका घरूं पियारू।
पानी जैसा बुदबुदा होई, जो आवा सो रह्या न कोई।
पहिलें राइ जु दई उपाने, आवत देखे जात न जाने।
इकछतु राज नरिंदन कीन्हा, पृथबी तिन कर रहा न चीन्हा।
हम पुनि दिनु इक चलाचल अहहीं, मुख आखर समुझावत रहहीं।
—साधन-कृत मैनासत, सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, पृ० १७१

२. ······मैं बारहिं तोहि चूंची दीन्ही। —वही, पृ० १७१

३. तेरे दुख मरत हूं, बोल बचन दे मोहि।
जस मालति कौं भमरा, आन मिलावहुं मोहि। —वही, पृ० १८०

४. काजर की सी ओबरी पाप घाई तस आहि। —वही, पृ० १८६

५. सरद सुता मनों बादर भागे। कर जोरि बचन कहूं तोहि आगे।
—वही, पृ० १८६

६. ·········कोदौं बोए कि लुनियै धान। वही, पृ० २०६

७. वही, पृ० ११८
सं०—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, प्राक्कथन, पृ० २६

८. पद्मावत, —वही, पृ० १७६

उसके लिए तड़पने लगती है। वह अपनी एक सखी की सहायता से अनिरुद्ध को हरवा मँगाती है। बाणासुर और कृष्ण में युद्ध होने के पश्चात् उषा-अनिरुद्ध का विधिवत् विवाह होता है। इस प्रेममयी कथा पर अलौकिकता छायी हुई है। इसकी अधिकांश घटनाएँ पात्र द्वारा अलौकिक रूप से ही घटित की गयी हैं। इसके कारण इन खंडकाव्यों के भक्ति काव्य होने का भी भ्रम होता है। परंतु भक्ति का यहाँ क्षीण आभास ही समझना चाहिए, ये सब के सब वस्तुतः प्रेममूलक खंडकाव्य हैं; क्योंकि इनका आधार भक्ति न होकर प्रेम ही है और, इन खंडकाव्यों के नायक-नायिका न तो दिव्य हैं और न उनके कार्यों में ही कहीं दिव्यता की झलक है। नायक-नायिका सर्वथा लौकिक भावनाओं से परिचालित लौकिक नर-नारी हैं जिनकी चेष्टाएँ भी पूर्णतया लौकिक ही हैं। इनकी प्रेममूलकता का यह सबसे बड़ा प्रमाण है। इन खंडकाव्यों के सम्बंध में द्रष्टव्य यह है कि सारे खंडकाव्यों की फलश्रुति एक ही है शीत ज्वर से निवृत्ति। बाणासुर और कृष्ण के युद्ध में शिव के प्रकट होने पर रोग-शर छोड़े गये हैं जिनमें कृष्ण ने अपनी सेना को प्रतिपक्षी के शीत ज्वरोत्पादक बाणों से रक्षा की है। यही इनमें फल-वर्णन के रूप में काम्य है। इस परम्परा के खंडकाव्यों की विशेषता यह है कि यहाँ नायक सर्वथा निष्क्रिय है।

इनके अतिरिक्त इन खंडकाव्यों में अनेक प्रसंगों को लेकर साम्य-वैषम्य है। परशुराम और कुंजमणि की उषा आकस्मिक रूप से एक दिन अनिरुद्ध को स्वप्न में देखती है। इसके विपरीत जीवनलाल नागर और रामदास की उषा पार्वती के आशीषानुसार अनिरुद्ध को स्वप्न में देखती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि जीवनलाल नागर और रामदास अधिक स्वाभाविक योजना कर सके हैं। बिना किसी आधार पर किसी व्यक्ति विशेष को स्वप्न में देखना अलौकिकता में भी अस्वाभाविक है। इसी तरह परशुराम और कुंजमणि का अनिरुद्ध भी उषा की तरह पहले से ही विरह में तड़पता रहता है। उषा ने तो स्वप्न में अनिरुद्ध को देखा भी था, अनिरुद्ध को विरहानुभूति कैसे हुई, यह पता नहीं चलता है। कुंजमणि ने इस प्रकरण को अपना रंग दिया है। उषा की सखी द्वारका पहुँचती है, वह अनिरुद्ध से मिली भी नहीं कि अनिरुद्ध विरह-विदग्ध होकर तड़पने लगता है। परिजन उसे रुग्ण समझते हैं और उसके उपचार के लिए वैद्य बुलाये जाते हैं, वह भी वैद्य बनकर अनिरुद्ध की चिकित्सा के लिए जाती है। सभी वैद्य तो देख-भाल कर चले जाते हैं किंतु वह ठहर जाती है और रात में उसका अपहरण कर उषा के महल में ले आती है। जीवनलाल नागर और रामदास के अनिरुद्ध को पहले से कुछ पता नहीं रहता, यही स्वाभाविक है। रामदास ने तो इस प्रकरण की सहजता को और भी बढ़ा दिया है। सुप्तावस्था में चित्ररेखा उषा को ले आती है। उषा के महल में आने पर उसकी नींद टूटती है और तब वह अपने को अपरिचित स्थान में पाकर घबराता है। रामचरण में चित्ररेखा वैष्णव का वेष धारण कर अनिरुद्ध को लाती है।

कुंजमणि और रामदास के अतिरिक्त सर्वत्र उषा की सखी चित्ररेखा द्वारका में पहुँचने पर सुदर्शन चक्र द्वारा महल में प्रवेश से रोकी जाती है और नारद की सहायता से अनिरुद्ध के पास तक पहुँच पाती है। अनिरुद्ध के उषा के महल में आ

आने पर जीवनलाल नागर में नारद प्रकट होकर दोनों का गंधर्व विवाह कराते हैं। यह बड़ा मर्यादित आचरण है। अन्यत्र उषा-अनिरुद्ध परस्पर मिलने पर हास-विलास करने लगते हैं और युद्धोपरांत उनका परिणय होता है। यहाँ उच्छृंखलता स्पष्ट है। परशुराम और कुंजमणि में उषा की माता को ही अनिरुद्ध-आगमन की बात पहले मालूम होती है और बाणासुर को इसकी सूचना दे देती है। कुंजमणि में तो उषा ने अपनी माता के जान लेने पर उससे निर्भीकतापूर्वक कहा है कि मैं मनोनुकूल वर पा गयी हूँ किंतु उसकी माता पर इसका कोई प्रभाव नहीं पड़ता है और वह बाणासुर से यह बात कह ही देती है। जीवनलाल नागर में बाणासुर को अनिरुद्ध आगमन की बात स्वयं मालूम हो जाती है। रामदास में अनिरुद्ध के वहाँ आ जाने पर बाणासुर के महल की ध्वजा टूट कर गिर पड़ती है, इसी से वह जानता है कि उसके शत्रु का वहाँ पदार्पण हो गया है। उसे पहले ही पता था कि उसके शत्रु के गढ़ में पहुँचने पर उसके महल की पताका गिर पड़ेगी।

बाणासुर के यह जान लेने पर कि अनिरुद्ध उसकी इच्छा के विरुद्ध उसके महल में चला आया है, अनिरुद्ध से संघर्ष करता है और अनिरुद्ध को ब्रह्मपाश में बाँध लेता है। इस अवसर पर सर्वत्र नारद प्रकट हुए हैं। जीवनलाल नागर में उनकी उपस्थिति आकस्मिक नहीं है, उषा चारों तरफ से निराश होकर उनकी याद करती है और तब वे प्रकट होते हैं। कुंजमणि में नारद ने बाणासुर को समझा-बुझाकर अनिरुद्ध का ब्रह्मपाश कटवा दिया है। परशुराम के नारद ऐसा करने में सफल नहीं हुए हैं। रामदास के नारद इस अवसर पर प्रकट होकर अनिरुद्ध को मुक्त कराने का कोई प्रयत्न नहीं करते, वे उसे लंका में हनुमान के ब्रह्मपाश में बँध जाने की कथा सुनाकर धैर्य देते हैं। इसके अतिरिक्त सर्वत्र नारद ने ही द्वारका पहुँचकर कृष्ण को अनिरुद्ध-हरण की सूचना दी है। सर्वत्र यह समाचार सुनते ही कृष्ण सेना लेकर बाणासुर पर चढ़ दौड़े हैं। कुंजमणि ने इस प्रकरण की कृष्ण के अनुकूल ही योजना की है। कृष्ण यहाँ पहले छप्पनकोटि यादवों को भेजते हैं। जब शिव बाणासुर के सहायतार्थ रण में उपस्थित हो जाते हैं तो कृष्ण की सेना त्रस्त हो जाती है। तब कृष्ण भी रण में उपस्थित होकर अपनी संत्रस्त सेना को संतोष देते हैं। युद्ध में बाणासुर की सहायता के लिए सर्वत्र शिव आये हैं।

कुंजमणि को छोड़कर सबमें नारद ने प्रकट होकर कृष्ण और बाणासुर के युद्ध को रुकवाया है। कुंजमणि और रामचरण में बाणासुर की माता ने यह कार्य सम्पादन किया है। बाणासुर की माता द्वारा यह कार्य सम्पादन कराया जाना बड़ा ही उपयुक्त है। माताएँ पुत्र की अपेक्षा पुत्री के प्रति अधिक सहानुभूतिशील रहती हैं। वे पिता के विरुद्ध पुत्री की सदैव रक्षा ही करती हैं। अतएव उस भयंकर युद्ध जिसमें शिव और कृष्ण प्रतिपक्षी के रूप में लड़ रहे थे और युद्ध की भयंकरता उसकी पौत्री के सुहाग पर प्रश्न-चिन्ह खड़ा कर रही थी, के बीच में वह पहुँचकर बाणासुर की ओर से आत्म-समर्पण करती है और युद्ध को रुकवाती है। किंतु यहाँ एक अनौचित्य भी है। बाणासुर की माता नग्न होकर युद्ध-भूमि में दौड़ने लगती

है।[1] नग्न होकर ही वह युद्ध को रुकवा सकती थी, ऐसी बात नहीं। विकराल युद्ध में एक नारी के अचानक पहुँच जाने से भी उठी हुई तलवार गिर सकती थी, प्रत्यंचा पर चढ़े हुए बाण रुक सकते थे।

इन खंडकाव्यों में चरित्र अधिक निखर नहीं सके हैं। बाणासुर सर्वत्र एक नृशंस राक्षस है। कुंजमणि में तो उसकी नृशंसता और भी अधिक है। वह अनिरुद्ध के साथ-साथ उषा को भी मार डालने का आदेश अपने योद्धाओं को देता है।

उषा का चरित्र अपेक्षाकृत कुछ उभरा है। कुंजमणि की उषा दृढ़ और निर्भीक है। उसे लोक-समाज से डर नहीं है और वह अपने प्रियतम को पाने के लिए सर्वस्व त्याग कर सकती है।[2] रामदास की उषा सबसे सक्रिय है। अनिरुद्ध के नागपाश में बँध जाने पर नारद यह सूचना लेकर द्वारका जाते हैं किंतु तब तक उषा निश्चित बैठती नहीं। वही अपनी माता को जाकर अनिरुद्ध का महत्व बताती है ताकि उसकी माता बाणासुर से अनिरुद्ध को छोड़ देने का आग्रह करे। इसी सिलसिले में वह अपनी माता को दशावतार की कथा सुनाती है जिसमें उसका शास्त्र-ज्ञान और उसकी विचारशीलता द्रष्टव्य है। वह एक वीर क्षत्राणी के रूप में भी उपस्थित होती है। जब बाणासुर की सेना से अनिरुद्ध को अकेला लड़ना पड़ता है तो उषा उसकी सहायिका बनती है।[3] जब बाणासुर के अग्निबाण से अनिरुद्ध मूर्च्छित हो जाता है तो वरुणास्त्र द्वारा वह अग्निबाण का प्रतिशोध करती है और अनिरुद्ध को सम्भालती है। उषा का यह वीरांगना-रूप अन्यत्र दुर्लभ है। जीवनलाल नागर की उषा लौकिक नारी नहीं, वह शम्भु-सुता ही है जो बाणासुर की पुत्री के रूप में अवतरित हुई है।[4]

उषा की माता एक ही बार मंच पर आयी है। लेकिन रामदास और रामचरण को छोड़कर अन्य किसी में भी वह माता-सुलभ आचरण नहीं करती। माता के लिए पुत्री का पक्ष लेना ही स्वाभाविक है लेकिन सर्वत्र वह बाणासुर से यह बात कह देती है और उषा पर तनिक भी दया नहीं करती। कुंजमणि में उषा की माता पहले समझाती है कि तुम कंचन होकर कौड़ी के मोल बिक रही हो, परन्तु उषा कहती है कि मैं मनोनुकूल वर पा गयी हूँ, तो वह सारी बात बाणासुर को कह देती

---

१. ता समैं मात बाणासुर की आई, अति विकाल नग्न हुई धाई।
हरि सन्मुख बोली वरि नारी, बानासुर प्रभु सरनि तुम्हारी।
—उषाचरित्र, कुंजमणि

२. डर नहिं लोक लाज कों मोकौं, मिलें सरवस देहु तोकौं।—वही,

३. अगिन बान बानासुर डारा, मूर्च्छित परे जदुवंस कुमारा।
तब ऊषा अैसी विधि धाही, मूर्च्छित अनुरुध लाए उठाही।
नीरबान उषा सम्हारा, अगिन बुझी जल बरखत धारा।
—उषाचरित्र, रामदास,

४. सुनयहु सकल सुजानि, जिहि विधि कन्या शंभु की।
बानसता भइ आनि ॥१॥
—उषाहरण जीवनलाल नागर, पंचम तरंग,

है।[1] रामदास में ही उषा की माता केवल माता के अनुकूल आचरण करती है। उषा जब उसे अनिरुद्ध का महत्व समझा देती है तो वह उषा के पक्ष में हो जाती है और बाणासुर से अनिरुद्ध को छोड़ देने का अनुरोध करती है।[2] इससे भी स्वाभाविक आचरण रामचरण में उषा की माता ने किया है। जब वह अनिरुद्ध को देखती है तो वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध होकर अपनी पुत्री को उसे देने का निश्चय करती है। माताएँ अपने जामाता में केवल सौन्दर्य देखती हैं और कुछ नहीं। वही यहाँ उषा की माता ने किया है।

इस परम्परा के खंडकाव्यकार का ध्यान कथा पर है, इसलिए ऐसा कहा जा सकता है कि ये प्रबंध काव्य लिखने की मुद्रा में थे। अतएव इसके कथा-विन्यास की कलात्मकता पर भी विचार अपेक्षित है। किंतु द्रष्टव्य यह है कि इनमें कथा-विज्ञान के चमत्कार से अधिक त्रुटियाँ ही हैं। परशुराम में पुनरावृत्ति की अधिकता वर्णन के माहात्म्य को क्षीण करती है। एक ही बात को दो-चार छंदों अथवा पत्रों के अंतर पर दुहराया गया है। और, ऐसा सम्पूर्ण पुस्तक में हुआ है। जीवनलाल नागर के उषा-हरण का प्रबंध-विधान बड़ा लद्धड़ है। ग्यारह तरंगों में से पाँच तरंगों की कथा का शेष तरंगों की कथा से अविच्छिन्न सम्बन्ध नहीं है। इन तरंगों में अन्य वस्तुओं के साथ-साथ बाणासुर की वंशावली, उसकी लोक-विजय तथा गणेश की उत्पत्ति भी वर्णित है जो बिल्कुल अनावश्यक है। फिर, इन वर्णनों में तारतम्य का भी अभाव है। दो पंक्तियों में उषा के शैशव की सूचना देकर षष्ठ तरंग में एकाएक वह विरहिणी के रूप में सामने लायी जाती है।[3] कुंजमणि ने वर्णन के लिए बराबर अवसर निकाला है। इसमें वर्णनीय स्थलों को पहचानने की सूझ है, अतएव इसका कोई अवसर ये चूके नहीं हैं। आरम्भ में इन्होंने उषा और अनिरुद्ध का परिचयात्मक वृत्त दिया है। इसके बाद उषा के यौवनागम का विस्तृत वर्णन कर स्वप्न-दर्शन वाले प्रकरण का समावेश किया है। इसके बाद उषा को जो विरहानुभूति हुई है उसका जमकर कवि ने वर्णन किया है। इसी तरह उषा की सखी द्वारका पहुँचकर जो दृश्य देखती है उसका वर्णन करने के लिए कवि रुका है। इसी तरह अन्य अवसरों पर भी कवि वर्णन को भूला नहीं है। यह निस्संदेह इनकी विशेषता है। किंतु इसके कारण कथा में यह त्रुटि आ गयी कि इसमें मोड़ नहीं, जोड़ मालूम पड़ता है और वह भी ऐसा कि बीच में स्थान रिक्त है। एक उदाहरण इस बात को स्पष्ट करने के लिए पर्याप्त होगा। उषा के विरह की बात अनिरुद्ध से कहने के लिए उसकी सखी द्वारका जाती है। वहाँ पहुँचने पर नारद

१. ए ऊषा तू बड़ी सयानी, कंचन कौड़ी मोल विकानी।
—उषाचरित्र, कुंजमणि,

२. सुनि ऊषा के बचन विलासा, रानी गई नृपति कें पासा।
सुनौ कंथ असुरन के राइी, अनरथ वंदि छुरावहु जाइी।
—उषाचरित्र, रामदास,

३. बीत्यो बाल काल क्रीडावस, अब यौवन आगम किय जु तरस।
—उषाहरण, जीवनलाल, १।६

मिलते हैं जो उसे कहते हैं कि राजकुमारी की विरह-व्यथा अनिरुद्ध से कहो । सखी के उसके पास पहुँचने के पूर्व ही अनिरुद्ध स्वप्न में उषा को देखकर विरह में तड़पने लगता है।[1]

रामदास ने अवांतर कथाओं को भी योजित कर दिया है । जब अनिरुद्ध ब्रह्मपाश में बाँध लिया गया तो नारद ने आकर सांत्वना देने के लिए लंका में मेघनाद द्वारा हनुमान को ब्रह्मपाश में बाँध लिये जाने की कथा सुनायी । इसी तरह उषा अपनी माता को अपने पक्ष में लाने के लिए दशावतार की कथा सुनाती है। खंडकाव्य के सुसंगठन के लिए अवांतर कथाएँ अनपेक्ष्य होती हैं किंतु यहाँ इनकी संक्षिप्तता के कारण प्रबंध की कलात्मकता को क्षति नहीं पहुँची है । रामदास के 'ऊषाचरित्र' का अध्याय-विभाजन उपयुक्त नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि अध्यायों की संख्या बढ़ाने के लिए कवि कथा को अध्यायों में बाँटता चला गया है । कृष्ण-बाणासुर-युद्ध ग्यारहवें अध्याय में चल रहा था किंतु वर्णन के बीच में ही उसका अंत कर बारहवाँ अध्याय प्रारम्भ कर दिया गया और चौदहवें अध्याय तक यही वर्णन चलता है। एक प्रसंग को एक ही अध्याय में रखना उपयुक्त है।

जीवनलाल नागर[2] और रामदास[3] ने प्रकृति-वर्णन की भी योजना की है किंतु

---

१. मारग मौं नारद मिलै कह्यो चतर समझाइ ।
विथा कुमरि कौ विरह की अनुरुध देहु वताइ ।
प्राण तजौ अनुरुद्ध कुमारा, सपनैं कुमरिको रूप निहारा ।
वैद बहुत औषदि लै आवैं, तन की वेदन कोऊ न पावैं ।
—उषा-हरण, कुंजमणि,

२. इक ओर नृपति को बिमल बाग ।
सोभित तहँ इक सुंदर तडाग ।
तस मध्य महल हिममय सुढार ।
प्रतिबिम्बित सरवर जल किनार ।
ता कुंज मध्य सब तरु समान ।
पल पकै स्वाद मधु मिष्टमान ।
अंजीर लायची अरु अंगूर ।
सुंदर अनार किसमिस खिजूर ।
कृत नृत्य सिषंडी तहँ अपार ।
कृत हंस रोर चातक पुकार ।
फल फूलि रहे सब तरु तमाल ।
कोकिल कृत कल चढि सुभ रसाल ।
गुल्लाब चम्पदावदी झार ।
कचनार जुही सेवति अनार ।
मोतिय सुनाग चम्पक अनंत ।
कामोद चमेली सरस पंत ।—उषाहरण, जीवनलाल नागर,

३. बाग सयन सोहत अधिकारी । सीतल छांह पवन सुभभारी ।
नाना वरन, वृछ की जाती । अठारह भार बनस्पती पाती ।

दोनों के वर्णन एक-सदृश सूची प्रस्तुत करने वाले हैं, इसमें सरसता का नितान्त अभाव है।

इन प्रेममूलक खंडकाव्यों में शृंगार रस अपने सारे अंगों, उपांगों के साथ उपस्थित है। परशुराम ने उषा की वय:सन्धि का बड़ा रमणीय वर्णन किया है। उषा के वक्ष-स्थल में दो कठोर उन्मद उरोज उठ रहे हैं। कवि कहता है कि ऐसा मालूम पड़ता है, कामदेव का भस्म बनकर उषा ने चढ़ा लिया है।[1] जीवनलाल नागर, कुंजमणि और रामदास ने उषा का रूप-वर्णन जमकर किया है। जीवनलाल नागर ने उपमा, उत्प्रेक्षा और उदाहरण के सहारे यह चित्रण प्रस्तुत किया है। इससे सारे चित्र स्पष्ट और पूर्ण नहीं हो सके हैं। चित्र की स्पष्टता के लिए उत्प्रेक्षा बहुत उपयुक्त होती है। फिर, इन्होंने उपमान भी पिटे-पिटाये ही रखे हैं जिससे इनके रूप वर्णन में किसी प्रकार का चमत्कार नहीं है।[2] कुंजमणि का रूप-वर्णन अवश्य ही सरस है।[3] इन्होंने रूप-वर्णन के लिए रूपक और उत्प्रेक्षा का सहारा लिया है। रूपक के द्वारा चित्राभिव्यक्ति और उत्प्रेक्षा के द्वारा प्रभावाभिव्यक्ति करायी है। उपमान इनके भी नवीन नहीं हैं। रामदास ने रूप वर्णन में अधिकतर आभरणों की

प्रथम नारिअल रंग सुपारी। धरिक दाख मेवा अधिकारी।
लौंग लाइची कही न जाही। अंमरफल निंबू अधिकाही।
सीताफल खिरनी बादामा। लटिक परे बहु विधि कें आमा।
जामन इमली ललित अनारा। लटिक नारंगी फरी अपारा।
उषाचरित्र, रामदास,

१. अति कठोर दोउ कुच उठे, निरखि कुवर अति हेत।
मानौ भसम कर मैन कि, इस चढ़ायो लेत।—उषाचरित्र, परशुराम,

२. मुख लसत अमल जिमि सरद चंद, शुक चंचु नास द्रग प्रेम फंद।
अति अरुन अधर बज्र कन दंत, चित हरनि चिबुक सोभा अनंत।
अति सरल स्याम कुंतल सलोल, कुंडल लसत झलकित बिच कपोल।
ग्रीवा उतंग बिच भुज मृनाल, कुच कनक कूट कंचुकि सुलाल।
कटि खीन नाभि उन्नत विसेस, अति अमल मदन मंदिर सुबेस।
अति सुभ नितंब करि सिर समान, रचि जंघ कदलि खंमन प्रमान।
पद कमल तें कोमल सलाल, अंगुरि के नख जैसे प्रवाल।
रमनीय रमा तें बपु सुरंग, सजि तास अंग सोडस सिंगार।
रुचि प्रीत जुक्त किय तरवार।—उषाहरण, जीवनलाल नागर,

३. चतुरता सुघरि राज दुलारी, चंद किरनि तें रूप उजारी।
अति सुंदर कछु कहत न आवै, थकित भान जब दरश दिखावै।
कमल बदन पर अलक सवारें, लोचन मधुप करत गुंजारें।
अंग अंग भूषन बसन बिराजें, रति रंभा छवि अति दुति छाजै।
मानौं मथि काटी सिंधुतें विधुवर रूप अपार।
सुषमा की सरिता सरल रस अमृत की सी धार।
—उषाचरित्र, कुंजमणि,

सूची गिनायी है।[1] रामदास ने अनिरुद्ध का भी रूप-चित्रण किया है।[2] जीवनलाल ने तो नायिका-भेद की भी चर्चा की है। बाणासुर की सभा का वर्णन करते हुए कवि ने वहाँ रहने वाली अनेक प्रकार की नायिकाओं का उल्लेख किया है।[3]

सभी खंडकाव्यों में वियोग श्रृंगार की धारा प्रवहमान है। यह सारा वियोग स्वप्न-दर्शन से उत्पन्न पूर्वरागजनित है। संयोग के पूर्व वियोग होने के कारण स्वतः ही इसमें तन्मयता का अभाव है। इस वियोग का आधार स्वप्न भी अलौकिक और अस्वाभाविक है जिसके कारण इसकी गहनता न्यून हो गयी है। तीसरे, इन खंडकाव्यकारों में कोई वैसा प्रतिभावान् भी नहीं है जो विरह के मार्मिक चित्र उरेह सके। इसलिए समग्र रूप में इन खंडकाव्यों के विरह-वर्णन अत्यंत साधारण कोटि के ही हैं। कुंजमणि ने उषा की विकलता का वर्णन किया है।[4] परशुराम ने उसकी

---

१. अति पुनीत सुई राजकुमारी । आपु विधाता साचे ढारी ।
जरद कसब को लहगा राजै । लाल चुनरिया अधिक विराजै ।
नील कुंचकी उरपर सो है । चलत गयंद चाल मन मोहै ।
वैनी सरस फुलेल सवारी । सीसफूल सिर दमकति भारी ।
कनक फूल करनो ही सोहै । वदन चंद्र पूरन छवि मोहै ।
घुटला पान तरोंना काना । मानो रविरथ चक्र प्रमाना ।
भौह कमान तिलक गजजोती । माग सम्हारि भरे गज मोती ।
कज्जल रेष द्रगन पर राजै । अंग कुरंग कमल छवि छाजै ।
दाखि दंत पकत अधिकाई । अधर अरुन होइ कही न जाइ ।
मुकता माल रूप रस ऐना । कोकल वचन सो वोलत वैना ।
—उषाचरित्र, रामदास,

२. अनुरध आवत देषि क 'सभा उठी भहराइ ।
चित्रा निरषनि रुपतव यह उषापति आइ ।
कस्न जंघ पर अनुरध राजै । रतन पंच सिर पाग विराजै ।
केसरि तिलक कंठ गजमोती । कुंडिलो तल झलकि अतिजोती ।
पीत पसन पर मोतिन मालां । अधर अरुन द्रग नैन विसाला ।
चंदन षौरि चरच भुज अंगा । मानो छवि के उठी नरंगा । —वही,

३. तिय मुग्ध मध्या प्रौढ अगनित रहत तँह जवि पावनी ।
—उषाहरण, जीवनलाल नागर,

४. कर मिजै मस्तक धुनैं गहरे लेत उसास ।
नवल कुमर के दरस विन नाहि जीवन की आस ।।
नैननु नीद नैके नहिं आवै । भोजन भूषन भवन न आवै ।।
उलटि पलटि करि लेत उसासा । नाहि कुमरि जीवन की आसा ।।
—उषाचरित्र, कुंजमणि

विकलता के साथ-साथ उस पर पड़ने वाले प्रभाव का भी वर्णन किया है।[1] जीवनलाल नागर ही विरह की मार्मिकता को कुछ हद तक प्रकट कर सके हैं। इनकी उषा तो इतनी व्यग्र है कि वह मरने के लिए तैयार है। परशुराम[2] और कुंजमणि[3] ने अनिरुद्ध में भी विरहानुभूति दिखाई है। परशुराम का अनिरुद्ध तो विरह नहीं सह सकने के कारण मूछित हो जाता है।

विप्रलम्भ की तरह सम्भोग शृंगार का वर्णन भी सर्वत्र है। जीवनलाल नागर और परशुराम की प्रवृत्ति संयोग-वर्णन में विशेष रूप से रमी है। परशुराम का संयोग वर्णन अलंकृत और व्यंजनापूर्ण है, इसमें मांसलता अल्प है।[4] जीवनलाल का वर्णन अत्यंत ही मांसल है।[5] इन प्रेममूलक खंडकाव्यों की विशेषता यह है कि

---

१. उठी कुवर कछु नाहि समारा, छिन छिन उठै वरहै की झारा।
लेह उसास नैन भरि आवै, कुवर विथा कोइ मर्म न पावै।
दीद दीन विथा होत अधिकाई, अति व्याकुल चित रहो न जाइ।
छीन भीतर छीन बाहर आवै, हिया जरै विरहातन छावै॥
जारै तन मारै मन रही, हीये की पिर कछु नहि कहइ।
दिन उदास पीतम विना, नैन भरे द्रग नीर।
अंतर जर पिंजर जरो, परवल वृह की पीर।

—उषाचरित्र, परशुराम

२. कुवर कहै तुम सुनौ सहेली, मेरे प्राण अटके परवेली।
सपनै मै देषि परनारी, लगी प्रीत दीना दुष भारी।
निस वासर मोह विरह सतावै, निंद्रा तजी अंन नहीं भावै।
बात कहत व्याकुल भये, मूर्छत भयो सरीर।
चित्रलेषा मन थरहरी, ले मुष सीचो नीर॥

—वही

३. मारग मौं नारद मिलौ कह्यौ चतुर समझाइ।
विथा कुमरि कौ विरह की अनरुध लेहु वताइ॥
प्रान तजौ अनुरुद्ध कुमारा, सपनें कुमरि को रूप निहारा।
वैद बहुत औषदि लै आवै, तन की वेदन कोऊ न पावै॥

—उषाचरित्र, कुंजमणि

४. कुवर कुवरी दोउ सेज चढ़, तन मत दीपक वारी।
गुपति प्रगट अखिया मिली, दीयो कपट दुराय।
+ + +
तन सौ तन हीये सौं हीया, जार पहर रजनी सुष कीया।

—उषाचरित्र, परशुराम

५. सम्भोग करत विपरीत रीति, तिय स्वच्छा तें धरि अमित प्रीति।
कटि लचकि उचकि कुच कठिन कोर, जब मचकि अंग मरियत किसोर।
झंकार होत पायल निसइ, कोकिल रव कूकत केलि नइ।
मद छके नैन नैननि मिलाय, द्रिग पियत रूप अमृत अघाय।

इनमें श्रृंगार के अतिरिक्त वीर, वीभत्स, भयानक, अद्भुत, शांत और वात्सल्य रस के भी दर्शन हो जाते हैं। अन्य किसी भी परम्परा के खंडकाव्य एक साथ इतने रसों को समाविष्ट नहीं कर सके हैं। वीर, वीभत्स, अद्भुत और भयानक रस की योजना युद्ध-वर्णन के प्रसंग में हुई है। वीर रस तो युद्ध-वर्णन का आधार ही है। इसी प्रसंग में वीभत्स और भयानक रस के भी दर्शन हो जाते हैं। कुंजमणि में भयानक[1] और वीभत्स[2] रस तथा रामदास में अद्भुत रस[3] द्रष्टव्य है। शांत रस भी इनमें से सभी में है। युद्धोपरांत आत्म-समर्पण करने पर बाणासुर ने कृष्ण की जो वंदना की है उसमें शांत रस की झलक देखी जा सकती है। जीवनलाल नागर[4] और रामदास में[5] यह विशेष रूप से दर्शनीय है। रामदास ने वात्सल्य रस की भी झलक दिखायी

प्रिय अधर मधुर रस चूंखि लेत, चुंबत अरु कुचन अवमर्द देत।
कटि पकरि लेत प्रिय हिय लगाय, मुसिकात कहत मृदु बचन राय।
नखदंत क्षत तैं प्रिय सुअंग, हुव मदन रंग रंगित अभंग।
एकंत अवर तह नहीं कोय, दुहुँ रमत सुमन भरि मत्त होय।
निशि है कि दिवस सो सुधि न तीन्ह, इहि भँति एक लग केलि कीन्ह।

—उषाहरण, जीवनलाल

१. रन बाजै बाजै चहु ओरा, गरजें सूर चिघारै घोरा।
डगम डग धरनीधर कँपै, सेस सहस मुष हरि हरि जपै।
भयो कुलाहल सब्द तहां भिरत बांन सौं बान।
मानों दामिनी गर्ज करि गिरत धरनि पर आनि।

—उषाचरित्र, कुंजमणि

२. भूत प्रेत गन तरन पिसाचा, भैरों संग सदासिव नाचा।
भुत प्रेत जोगिन इतरावें, भरिभरि रुधिर ईस गुन गावैं।
मुड मिलै करताल बजावैं, जोगिन भरि भरि षपर धावैं।
जंबुक गीध बीध गन तावें, भरि भरि उदर परम सुष पावें। —वही

३. दुहु दल बान चलै असरारा, बरषत भादौ मेघ अपारा।
षर्ग सम्हारि मारि अस करही, रुंड मुंड टूटे भोपरही।
'सिर विनु धरि धावै रनमाही, गगन भई गीधन की छाही।
हाथी हनै घनै रन छूटै, टूटि सुंड धरि मस्तक फूटैं।
गज मुक्तासिर श्रोनित धारा, असो जुद्ध भयो असरारा।
बारी नदी रुधिर की धारा, रथ घोड़ें बहि लगें करारा।

—उषाचरित्र, रामदास

४. नमो प्रभु विष्णु अनादि अनंत, चराचर मध्य रहे रमि संत।
नमो जग जन्म थिति लय कारि, नमौ भुव भार उतारन हारि।

—उषाहरण, जीवनलाल नागर

५. तुम जगदीश जगत के स्वामी, तुम करतार गरुड़ के गामी।
तुम प्रभु सकल लोक सुषदायक, तुम दुषहरन सबै जग नाइक।

—उषाचरित्र, रामदास

है। जब अनिरुद्ध के बंदी हो जाने का समाचार द्वारका पहुँचता है तो रुक्मिणी विकल होकर मूर्छित हो जाती है।[१]

अलंकरण की प्रवृत्ति इनमें से किसी भी खंडकाव्य में नहीं है। सामान्य रूप से कुछ अलंकार सबमें यत्र-तत्र आ गये हैं। रामदास में उत्प्रेक्षा,[२] उदाहरण,[३] आदि, जीवनलाल नागर में उत्प्रेक्षा और उदाहरण के अतिरिक्त उपमा[४] और रूपक[५] देखे जा सकते हैं। परशुराम और कुंजमणि ने भी इन्हीं अलंकारों के प्रयोग किये हैं। परशुराम ने रूपक के प्रति मोह दिखाया है।

छंद की दृष्टि से इन खंडकाव्यों में सारी प्रवृत्तियाँ देखी जा सकती हैं। परशुराम ने दोहरा, सोरठा और चौपही; जीवनलाल नागर ने षट्पदी, दोहा, छप्पय, वसंततिलका, पज्झटिका, मुक्तादाम, उघोर, पद्धरी, भुजंगप्रयात, बेताल, द्वैमक्षरी, सरसी, सोरठा, मालिनी, चौपाई, सवैया और पंचमाक्षर; सुंदरलाल ने दोहा, चौपाई, कवित्त, आदि; पहार कवि ने दोहा, सोरठा, गीतिका, चौपाई, पदमावती, मरहटा और त्रिभंगी तथा गोपाल ने त्रोटक, दीपक, छप्पय आदि के प्रयोग किये हैं। इन खंडकाव्यकारों में दूसरी कोटि उन खंडकाव्यकारों की है जिन्होंने दोहा-चौपाई की प्रबंधात्मक शैली अपनायी है। इनमें कुंजमणि और रामदास उल्लेखनीय हैं। रामचरण ने आद्योपांत एक ही छंद का व्यवहार किया है और वह छद है आल्हा। इस छंद का प्रयोग करने वाले प्रस्तुत प्रबंध में ये एकमात्र कवि हैं। इनकी दूसरी विशेषता यह है कि वीर रसोपयुक्त छंद मे इन्होंने प्रेमकाव्य लिखा है। आल्हा में वीर भाव की अभिव्यक्ति बहुत सटीक होती है। अगर यह कहें कि यह छंद उसी रस की अभिव्यक्ति के लिए बना ही है तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस प्रेमकाव्य को आल्हा छंद में लिखकर कवि ने प्रेम के ऊपर वीरता को बैठा दिया है।

परशुराम, कुंजमणि, सुंदरलाल और गोपाल की भाषा ब्रजी है। रामचरण की भाषा अवधी और देवीदास की राजस्थानी है। भाषा की दृष्टि से इनमें से कोई भी प्रौढ़ रचना नहीं है। परशुराम की भाषा साधारणतया साफ है। इनमें सरल वर्णों को संयुक्त करने की प्रवृत्ति है। निर्षि (निरखि) वृह् (विरह), जैसे प्रयोग इनकी भाषा में मिल जाते हैं। जीवनलाल नागर की भाषा में वर्णों को द्वित्व करने की प्रवृत्ति है। इन्होंने भी एक-आध स्थान पर सरल वर्णों को संयुक्त किआ है। यत्र तत्र इनकी भाषा तत्सममयी है। अन्य सभी की भाषा अत्यंत साधारण ही है।

---

१. रति अरु रुक्मिनी पहुची आई, अनुरध अनुरध करि मुरझाई।
—उषाचरित्र, रामदास

२. इहि कुवर दिनहु दिन बाढी, मानो ददि मै ते मथि काढ़ी।
—वही

३. आए कुवर गए दरबारा, ज्यौं केहरि गज जुथ्थ निहारा। —वही

४. मख लखत अमल जिम सरद चंद।
—उषाहरण, जीवनलाल नागर

५. द्रिग पियत रूप अमृत अघाय। —वही

माधवानल-कामकंदला विषयक खंडकाव्य

इस परम्परा के खंडकाव्य प्रबंध-विधान के चमत्कार से शून्य हैं, इनमें प्रकरण-वक्रता का प्रायः अभाव ही है। कथा में कसावट तो है किंतु उसकी गति सीधी है। उसमें वक्रता का अभाव है। इन खंडकाव्यों की सारी रसात्मकता वर्णन में है। वर्णित वस्तु को देखते हुए इन खंडकाव्यों को विरह-प्रधान खंडकाव्य ही कहा जायगा। यद्यपि इन खंडकाव्यों की परिणति माधवानल और कामकंदला के संयोग में ही हुई है तथापि प्रधानता उनके विरह की ही है। सब में दोनों का विरह विस्तार से वर्णित हुआ है।

आलम का विरह-वर्णन सर्वाधिक विस्तृत है। इन्होंने विरहिणी कामकंदला का चित्र खींच दिया है।[१] इस चित्र में विरह से उत्पन्न प्रभाव की अभिव्यक्ति है। कविकेस ने भी कामकंदला का चित्र उतारा है पर इनके चित्र में विरहिणी की तड़फड़ाहट ही चित्रित हुई है।[२] जल से बाहर तड़पती हुई मछली की तरह विरह में तलफती हुई कामकंदला का उपचार भी देखने ही योग्य है। कामकंदला की यह दशा देख कर उसकी सखियाँ घबराकर दौड़ती हैं और कोई मुख पर पानी के छींटे देती है तो कोई चंदन का लेप करती है। किंतु इस पर भी कामकंदला की काम-ज्वाला शांत नहीं होती।[3]

इसमें संयोग शृंगार की भी छटा दीख जाती है। किंतु इनमें से किसी भी कवि की प्रवृत्ति संयोग-वर्णन में रमी नहीं है। जिस तन्मयता के साथ सबने दोनों की तड़प का वर्णन किया है उस तरह माधवानल और कामकंदला के मिलन का वर्णन नहीं किया। दोनों के मिलन की सूचना भर सबने दी है।[४]

---

१. कामकंदला विरहवसि वस्तरगात मलीन।
मुष माधौ माधौ रटै होइ सो छिन छिन छीन ॥२६०॥
—माधवानल कामकंदला, आलम

२. छिन चेत अचेत गिरै छिन मै तजि श्रोनु सरी उलग्यौ उगरै।
तिहि सांसहि लेतु उगै सवु पंजरु गात ज्यौ पातु भई उगरै।
सुह लैन चलै विच लै मुष वैननि मीचुकी वेलि उठी सगरै।
विरहा विषु प्याल डसी तरुनी अव फैल रही विसु की लहरै ॥६०॥
—माधवानल कामकंदला, कविकेस, चतुर्थ अध्याय

३. तव देषि अधीन दसा सषियां।
मुष डारति नीरनि के जुपियां।
इक चंदन सीतल अंग मलै।
तरुनी तऊ काम की आगि जलै। —माधवानल नाटक, कविकेस, ४ ॥६१॥

४. (क) माधवानल ताहि देषत ही परीझि भुलाइयौ।
मैन बान कमान तानि तवै सुअंगनि लाइयौ।
अंक मै परजंक ऊपर वालकंत कलोलही।
चातुरी करि वैन सैननि मैन मोदनि वोलही।
—माधवानल नाटक, कविकेस, ४ ॥१३॥

शृंगार के अतिरिक्त युद्ध-वर्णन के प्रसंग में वीर और वीभत्स रस भी द्रष्टव्य हैं। माधवानल ने राजा विक्रम को प्रसन्न कर कामावती नगर के राजा से कामकंदला दिला देने का अनुरोध किया तो विक्रम और कामावती—नरेश में युद्ध हुआ। पहले विक्रम ने अपनी मांग रखी जिसके अस्वीकार कर दिये जाने पर उन्होंने युद्ध घोषणा की। उनके युद्धादेश और युद्धाभियान का आलम ने वीर रस-पूर्ण वर्णन किया है।[1] इसी तरह युद्ध का दृश्य दिखाते हुए इन्होंने वीभत्स रस को साकार कर दिया है।[2]

इन खंडकाव्यों में अलंकरण भी अत्यंत साधारण ही है। आलम ने उत्प्रेक्षा के प्रयोग में विशेष अनुरक्ति दिखायी है। इनके खंडकाव्य में उत्प्रेक्षाएँ पग-पग पर मिलती हैं। रूप-वर्णन तो इन्होंने उत्प्रेक्षा ही के सहारे किया है।[3] इसके अतिरिक्त

(ख) माधौनल औ कंदला मिलिउ मिलि विरहा दौनौं दुष दलिउ।
मिलिकैं अधिक सुष्ष तिनि पावा दुष संताप लै गंग बहावा।
मिल्यौ सोहु भावत भावंती राजा नल रांनी दमवंती।
मिले भरथरी अरु पिंगला माधौनल औ कामकंदला।
पूरन ससि जिमि दुषित चकोरा कुंमदिन चक्रवाक जिमि भोरा।
नित प्रति केलि करहिं सुष रहहीं दिन दिन प्रीति अधिक मन करहीं॥३७६॥
—माधवानल कामकंदला, आलम

१. सुनि राजा तव वोलहि वैना गयंद पैदल साजौ सैना।
साजौ मेघ वरन गज कारे चुंवहिं गयंद घुंमै मतवारे।
पर्वत से आंगै दै चलिउ धरनीं धसी दिगपति सब हलेउ।
घूमर धूलि आंनरथ जोती छुटे सिंह रूप जिव होती।
जंवर जंग गोला जव भारे अस्ट घात सांचै सौ ढारे॥३४७।
—माधवानल कामकंदला, आलम

२. जोगिनि फिरें भूत नीसांना बैठी करे लोहुअ असनाना।
भिरहिं धाइ लोथि लै जांहीं लोहू पियें मासु मिलि षाहीं।
जोवन जाल करालै करौलें लोथहि फाटि सरोसहि वोलें॥३७१॥
जोगिन फोरें षोपरी जंबुक भषें जु मास।
सूरन की गति देषि कें सूरज होई उदास॥३७२॥
— वही

३. तिहिपुर बसै चंद्र की कला, पातुर सुनी कांमकंदला।
+ + +
मंध्यभाग चंदन घसि भरै, दूधधार विषधर मुख परैं।
कहुं कहुं पुष्प कहूं कहूं मोती, जनु घन में तारागन जोती॥३१॥
मांग अग्र मानिक दिपै औ मुक्तागन संग।
छिन छिन जोति धरैं मनौं मनि उछली जु भुजंग॥३२॥
करनन करनफूल छबि भारी, मानौं मयंक की कोटि उतारी।
मनि मुकुता लाग वै उरज, मनो घन माहिं दिखें दोइ सूरज।
—वही

इन्होंने संकर[1] और संदेह[2] की भी योजना की है। कविकेस में भी उत्प्रेक्षा[3] और उदाहरण,[4] आदि अलंकार आये हैं।

इस परम्परा के अधिकतर खंडकाव्यकारों ने दोहे-चौपाई की प्रबंधात्मक शैली अपनायी है। कविकेस ने २७ प्रकार के छंद प्रयुक्त किये हैं। उनके द्वारा प्रयुक्त छंद छप्पय, भजंगी, दोहा, सवैया, त्रोटक, दंडक, तोमर, भुजंगप्रयात, सोरठा, दोहरा, हनमुखी, संजुला चोप, मोतीदाम, कवित्त, त्रिभंगी, स्रग्विनी, चंचरी, चामर, नराज, वसंततिलका, मालिनी, मूलमणि छंद, नागस्वरूपिणी छंद, अरिल्ल, रूपमाला और पद्धरि है।

इस संदर्भ में विवेचित खंडकाव्यों की भाषा ब्रजी है। आलम की भाषा साफ-सुथरी है। कविकेस की भाषा में प्राचीन प्रयोग मिलते हैं। वर्णों को द्वित्व करने की भी इनकी प्रवृत्ति है।

प्रेममूलक प्रकीर्ण खंडकाव्य

इस संदर्भ में नंददास की 'रूपमंजरी' उल्लेख्य है। 'रूपमंजरी' के सम्बंध में स्मरणीय तथ्य यह है कि शृंगारिक कलेवर में यह विशुद्ध भक्तिकाव्य है। इसकी कथा-योजना को देखने से ही यह बात स्पष्ट हो जाती है। स्वाभाविकता की कसौटी पर इसकी कथा अत्यंत ही त्रुटिपूर्ण ठहरती है। रूपमंजरी के अयोग्य पति से विवाह होने की सूचना दी जाती है। इसके बाद उसकी वयःसंधि का वर्णन है। ऐसा प्रतीत होता है कि वयप्राप्ता होने के पूर्व ही उस कुरूप पति से उसका परिणय हो गया था। साथ ही, उस पति का क्या हुआ, इसकी कोई सूचना नहीं दी जाती है और सपने में उसके दूसरे प्रियतम चले आते हैं। कथा-विधान की यह त्रुटि कदाचित् इसलिए है कि कवि को यहाँ अन्योक्ति में दूसरी कथा कहना अभिप्रेत है। कहते हैं, यह नंददास की निजी कथा है। किसी हिन्दू राजा की अत्यंत रूपवती पुत्री रूपमंजरी अकबर को ब्याह दी गयी थी। तब भी वह अपने सतीत्व की रक्षा कर रही थी। और, उसने यह निश्चय कर रखा था कि यदि अकबर ने उसका स्पर्श किया तो वह अपने प्राण दे देगी। रूपमंजरी गुटका मुख में रखकर प्रत्येक दिन नंददास के पास चली आती थी। अकबर को यह बात मालूम होने पर वह सपरिवार ब्रज आया और उसने बीरबल को नंददास के पास भेजा। नंददास ने दो दिनों के बाद अकबर से मिलने का वचन दिया। दूसरे दिन नंददास ने रूपमंजरी के निवास के समीपस्थ कुंड में स्नान करते

---

१. कुंतल चिहुर चुवौहिं ज्यों घाला, अंबुधार कैधौं अलिमाला।
—माधवानल कामकंदला, आलम

२. कैरे इंद्र कै चंद्र हैं कें कन्हर कै काम।
कै कुवेर कै जछु है कें किन्नर कै राम ॥५८॥ —वही

३. कविराज संगीत कलान प्रीवीन नवीन पषानहु व्याकरनौ।
जनु काम कला विहरै विहरी सव लसन दक्षन विप्र षनौ।
—माधवानल नाटक, कविकेस, १।१६

४. मर्यौ तुरत ही विप्र, काम कंदला सुनि मरी।
ज्यौ वरसै घनु छिप्र, जरै जवासौ मूलतै। —वही, ७।४४

हुए गोवर्धन नाथ जी को रूपमंजरी के यहाँ भोग लगाते देखा। गोवर्धननाथ जी ने रूपमंजरी को कहकर नंददास को बुलाया और उन्हें महाप्रसाद दिया। दूसरे दिन नंददास अकबर के पास गये और उसके पूछने पर कुछ उत्तर न देकर यह शरीर त्याग दिया। अकबर ने रूपमंजरी को जाकर यह सूचना दी। नंददास के विरह को सहने में असमर्थ रूपमंजरी भी देह छोड़कर नंददास के पास चली गयी।

'रूपमंजरी' में यही कथा कही गयी है। 'रूपमंजरी' की कथा में नंददास रूपमंजरी की सखी इंदुमती के रूप में हैं। रूपमंजरी के भगवान् द्वारा अपना लिये जाने के बाद इंदुमती का भी निस्तार हो जाता है।[1] कथा में यह आध्यात्मिक संकेत कई स्थानों पर दिया गया है। सर्वप्रथम तो प्रारम्भ में ही कवि ने यह घोषित कर दिया है कि 'परम प्रेम पद्धति इक आही। नंद जथामति बरनत ताही'॥ अर्थात् 'रूपमंजरी' में वर्णित प्रेम साधारण प्रेम से भिन्न है—वह एक विशेष भक्त का परम प्रेम है। फिर, रूपमंजरी ने जब स्वप्न-दृष्ट कृष्ण का रूप-वर्णन इंदुमति को सुनाया तो उसे सुनकर वह मूर्च्छित हो गयी।[2] रूपमंजरी को मूर्च्छित दिखाकर रूप की अलौकिकता का ही आभास दिया गया है। फिर, रूपमंजरी द्वारा इंदुमती से मूर्च्छित होने का कारण पूछे जाने पर इंदुमति स्पष्ट कहती है कि तुमने स्वप्न में जिसके दर्शन किये हैं उसे पाने के लिए बहुत लोगों ने बहुत तरह के तप किये किंतु उसे विरले ही ने प्राप्त किया।[3]। इस पर रूपमंजरी पूछती है कि ऐसा देव कहाँ रहता है उत्तर में इंदुमति ने कहा कि नंद-यशोदा का सुत गोकुलवासी कृष्ण ही है।[4] इसी बात को पुनः वसंत ऋतु के वर्णन में दोहराया गया है। लोगों को ब्रज-लीला गाते हुए सुनकर रूपमंजरी पूछती है कि एक गिरिधर तो मेरे प्रियतम हैं, फिर ये लोग जिस गिरधर की लीला गा रहे हैं, वह कौन है। इस पर एक नारी ने न केवल कृष्ण का परिचय दिया बल्कि उनके ब्रह्मत्व से भी रूपमंजरी को अवगत करा दिया। उसने बताया कि यह वही गिरिधर हैं जिसका यह समग्र संसार है तथा जो धरती, आकाश, चंद्र, सूर्य, गिरि, सर, सरिता, हम, तुम एवं अन्य सभी लोगों के निर्माता हैं। इस तरह इस कथा की आध्यात्मिकता को प्रकट कर देने में नंददास ने कोई

---

१. इंदुमती ताकी सहचरी, सो पुनि तिहि संगति निस्तरी।
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १२५

२. सुनतहि मुरझि गरी सहचरी, आनँद भरि अचंभे भरी।
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० ११३

३. बहुतनि बहुत भाँति तप तायो, पें इह नाइक बिहरै पायो।
—वही, पृ० १४४

४. गोकुल गाँउ जाउँ बलिहारी, जगमगाय छवि जगतें न्यारी।
तहँ को नंद गोप बड़ राजा, सदा सरबदा एकहि राजा।
जसुमति रानी सब जग जानी, भाग भरी सुर नरनि बखानी।
रमा उमा सी दासी जाकी, ठकुराइति का कहिये ताकी।
तिनको सुत सो कुँवर कन्हाई, का कहौं छबि तू देखिहि आइ।
—वही

कोर-कसर नहीं रखी है इस आध्यात्मिक संकेत के कारण यह न समझना चाहिए कि रूपमंजरी सूफी प्रेमाख्यानकों की परम्परा में है। सूफी प्रेमाख्यानकों में यह आध्यात्मिक संकेत विशेष से सामान्य की ओर होता है जबकि रूपमंजरी में संकेत विशेष से विशेष की ओर है।

किंतु इस आध्यात्मिक कथा को जो शृंगारिक परिवेश दिया गया है उससे इसके शृंगारिक काव्य होने का भ्रम होता है। कवि ने केवल कथा को ही शृंगारिक आकार नहीं दिया है बल्कि वर्णन को भी मांसल बना दिया है। उसने घोर शृंगारिक उपमान रखे हैं।[1] प्रकृति का भी शृंगारिक वर्णन किया है।[2] इसका अतिरेक तो तब हो गया है जब यह दिखाया जाता है कि गुड़ियों से खेलती हुई रूपमंजरी का ध्यान वहीं लगा रहता है जहाँ कुछ काम-कथा होती रहती है।[3]

इसके अतिरिक्त शृंगार के अन्य अंग भी यहाँ यथास्थान वर्णित हुए हैं। रूपमंजरी की वयः संधि का बड़ा विदग्ध वर्णन किया गया है। यौवन-रूपी राजा के वक्ष-प्रदेश पर आधिपत्य स्थापित कर लेने के बाद शैशव-रूपी राजा को जघन-वन में जाकर शरण लेनी पड़ी। यौवन शैशव को वहाँ से भी खदेड़ देना चाहता था लेकिन शैशव वहाँ जाकर डट गया। इससे उस नारी का मध्यदेश अर्थात् कटि प्रदेश क्षीण पड़ गया है।[4] यौवनागम से उत्पन्न आंगिक परिवर्तनों का कैसा मार्मिक वर्णन किया गया है! रूपमजरी के रूप का ऊहात्मक वर्णन किया गया है। कवि ने लिखा है कि रूपमंजरी के गृह में दीप जलाये जाने की जरूरत नहीं होती थी, बिना दीप के ही घर में उजियाली छायी रहती थी।[5] कृष्ण का भी रूप-वर्णन किया गया है। वह वर्णन यथातथ्य है और इसमें कृत्रिमता का अभाव है।[6]

---

१. नाहिन उघरे गूढ़ न ऐसे, मरहठ देस-बधू-कुच-जैसे।
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १०४

२. ऊँचे ऊटा घटा बतराहीं, तिन परि के की केलि कराहीं। —वही, पृ० १०४

३. खेलत कान तहाँ दै रहै, जहाँ कोउ काम कथा कछु कहै।
गुड़ा गुड़ी के ब्याह बनावै, लाज गहै जब सेज सुवावै। —वही पृ०, १०६

४. जुबन-राव जब उरपुर लयो, सैसव-राव जघन-बन गयो।
अरन लगे अब दोऊ नरेसा, छीन पर्‌यौ तब तिय-मधि देसा।
—वही, पृ० १०७

५. ता भूपन कै भवन कोऊ, दीप न बारत साँझ।
बिन ही दीपहि दीपि जिमि, दिपय कुँवरि घर माँझ॥६६॥
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १०५

६. स्याम बरन तन अस रस भीनौ, मरकत रस निचोय जस कीनौ।
मोर चंद सिर अस कछु लोनौ, मानहु अली टटावक टौनौ।
सोहति अस कछु बाँकी भौंही, मौ मन जानै कै पुनि हौंही।
चुनि चुनि सरद कमल दल लीजै, तिन कहुँ मोती पानिप दीजै।
ता मोहन के नैनन आगें, अलि तेऊ अति फीके लागें।
—वही, पृ० ११३

कृष्ण को स्वप्न में देखने के बाद रूपमंजरी के शरीर में अंगज अलंकारों का विकास दिखाया गया है। नंददास यहाँ लक्षणकार बन गये हैं। उन्होंने वर्णन के द्वारा अंगज अलंकारों का विकास न दिखा कर उन अलंकारों का नाम गिनाया है और उनके लक्षण कहे हैं।[1] इस लक्षण-निरूपण के कारण यह अत्यंत मार्मिक स्थल काव्य से शून्य हो गया है। रूपमंजरी के विरह का ऊहात्मक वर्णन कवि ने किया है। स्वप्न दर्शनोपरांत रूपमंजरी का शरीर मानों विरह में जलकर आग हो गया है। कोई सखी उसके हाथ में कमल देती है तो वह इस डर से नहीं छूती है कि वह जल जायेगा।[2] रूपमंजरी के विरह का विस्तार से ऋतु-क्रमानुसार वर्णन हुआ है।

प्रकृति भी 'रूपमंजरी' उपेक्षित नहीं है। रूपमंजरी के सौंदर्य को प्रकृति के परिप्रेक्ष्य में ही प्रस्तुत किया गया है।[3]

रूपमंजरी के स्थापत्य के सम्बंध में द्रष्टव्य है कि इसमें घटना का अत्यंताभाव है, इसकी काया केवल वर्णन से निर्मित है।

अपनी अन्य कृतियों की तरह नंददास ने इसमें भी उत्प्रेक्षा[4] और उदाहरण[5] के प्रचुर प्रयोग किये हैं। इनके अतिरिक्त रूपक,[6] उपमा[7] और

१. निर्विकार तिय-हिय मैं सपनें, उपज्यौं भाव सुभावहि अपनें।
प्रथमहि प्रिय सौं प्रेम जुआही, कवि जन भाव कहत है ताही।
\+ \+ \+
नैन बैन जब प्रगटै भाव, ताकहुँ सुकवि कहत हैं हाव।
हाव ते बहुरि जु उपज हेला, ससि कहुँ परम अमी रस बेला।
नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० ११४-११५

२. जो कोउ कमल फूल पकरावै, हाथ न छुवै निकट धरवावै।
अपने कर जु विरह जुर ताते, मति भुरी जाहि डरति तिय यातें।
—वही, पृ० ११५

३. आस पास अमराय बरारी, जहँ लग फूल तिती फुलवारी।
चुनहि फूल मालिनी छबि भरी, अवनी उतरि परी जनु परी।
बोलहि सुक सारिक पिक तोती, हरिहर चातक-पोत कपोती।
मीठी धुनि सुनि अस मन आवै, मैन मनों जटसार पढ़ावै।
फलन कैं भार नमित द्रुम ऐसे, संपति पाय बड़े जन जैसे।
का कहिए कसार निकाई, सारस हंस बंस छवि छाई।
निर्मल जल जनु मुनि-मन आही, परसत छन तन-पात्रक जाही।
—वही, पृ० १०५

४. नए धौरहर सुखद सुपासा, जनु घर पर दूसर कैलासा। —वही, पृ० १०४

५ नाहिन उघरे गूढ़ न ऐसे, मरहठ देस-बधू-कूच जैसे। —वही, पृ० १०४

६. वैबें कों प्रभु के पकज-पग। —वही, पृ० १०३

७. भीत-चित्र सम चित्र है सोई। —वही, पृ० १०४

संदेह[1] भी 'रूपमंजरी' में यत्र-तत्र देखे जाते हैं।

इसमें दोहे-चौपाइयों की प्रबंधात्मक छंद-योजना की गयी है।

इसकी भाषा के सम्बंध में इतना ही कहना पर्याप्त है कि नंददास के भाषा गढ़ने वाला रूप यहाँ भी द्रष्टव्य है।

---

१. सब जन जुरि चिंतन करत, परत न कछू बिचार।
क्रम करी किधौं द्विजकरी, किधौं करी करतार ॥६०॥
—नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, पृ० १०६

: ८ :

निष्कर्ष

(क) लक्षण

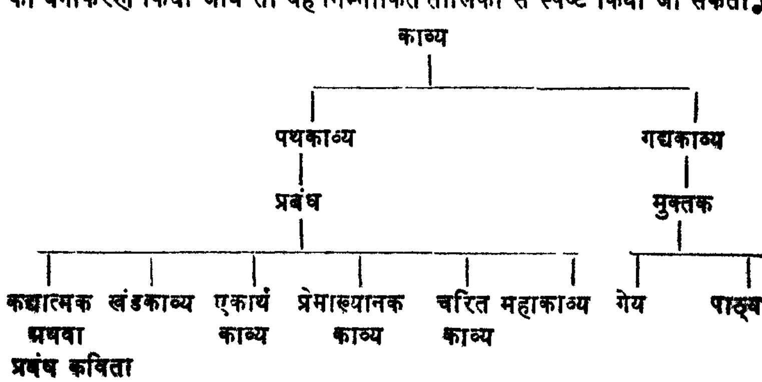
काव्य का वर्गीकरण एवं प्रबंधकाव्य के भेदों से

खंडकाव्य की समता-विषमता

लक्ष्य ग्रंथों के आधार पर ही लक्षण-निरूपण होता है। प्रत्येक युग की मनीषा अपने अनुकूल काव्य-सृजन करती है। अतएव लक्षण में भी युगानुरूप न्यूनाधिक परिवर्तन होते हैं। किन्तु पिछले अध्याय में हमने देखा है कि हिन्दी के साहित्य शास्त्री विशेषत: साहित्यदर्पण एवं गौणत: अन्य ग्रंथों के अनुकर्त्ता रहे हैं। यही नहीं, उन्होंने अंग्रेजी साहित्यशास्त्र को भी इस पर घटित करने का प्रयत्न किया है। काव्य के वर्गीकरण के सम्बन्ध में यह बात विशेष रूप से देखी गयी है। हिन्दी में अनेक ऐसे काव्यरूपों का उद्भव हुआ है जो संस्कृत में तथा पाश्चात्य साहित्य में नहीं हैं हिन्दी साहित्य शास्त्रियों के द्वारा किये गये काव्य के वर्गीकरण में इन नवद्भूत काव्य-विधाओं को कोई स्थान नहीं मिला अतः हिन्दी के काव्य-साहित्य के आलोक में काव्य का वर्गीकरण अपेक्षित है।

इस स्थल पर यह उल्लेखनीय है कि 'काव्य' शब्द का प्रयोग संस्कृत साहित्य-शास्त्र में कहीं तो 'साहित्य' के अर्थ में हुआ है और कहीं 'वाङ्मय' के अर्थ में। किंतु हिन्दी साहित्य में इस शब्द से पद्य का ही बोध होता है मध्यकाल तक तो निश्चित रूप से ऐसा हुआ है किंतु आधुनिक युग में आकर हिन्दी साहित्य में भी इसकी धारणा में किंचित विकास हुआ। आधुनिक युग में आकर काव्य ही पद्य तक सीमित नहीं माना गया। साहित्य दर्पण के 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' के अनुसार भावापन्न सरस गद्य में काव्यत्व स्वीकार किया गया और गद्य काव्य का प्रचलन हुआ।

जो भी हो, हिन्दी साहित्य विशेष कर मध्यकाल को देखते हुए अगर काव्य का वर्गीकरण किया जाय तो वह निम्नांकित तालिका से स्पष्ट किया जा सकता है:—



प्रस्तुत वर्गीकरण में प्रबंध के अवांतर भेदों में चरितकाव्य, प्रेमाख्यानक काव्य और कथात्मक कविता इन तीन अतिरिक्त रूपों का समावेश किया गया है। मध्यकालीन साहित्य में इन तीनों प्रकारों का बाहुल्य है। पृथ्वीराज रासो आदि अनेक रास ग्रंथ एवं अन्य काव्य चरितकाव्य के उदाहरण हैं और, सूफी एवं सूफीतर प्रेमाख्यानक काव्यों की संख्या दिनानुदिन खोज से बढ़ती ही जारही है ।

मध्यकालीन एवं आधुनिक साहित्य में भी कथात्मक अथवा प्रबंध कविताओं की रचना प्रचुरता से हुई है। लघुतम कथा पट के कारण ही ये रचनाएँ कविता की कोटि से ऊपर नहीं उठ सकी हैं अन्यथा इनमें भी कथा का बंधन वैसे ही होता है जैसे खंडकाव्य में। इसके छंद कथा-सूत्र में ग्रथित रहते हैं, अतः एक ओर तो यह मुक्तक से भिन्न होता है, दूसरी ओर सीमित परिसर के कारण यह खंडकाव्य भी नहीं होता। मुक्तकों में भाव का विकास और उसी की शृंखला रहती है, किंतु कथात्मक कविता में कथा का विकास और उसी की शृंखला रहती है। इनका आकार मुक्तकों से बृहत्तर और खंडकाव्य से लघुतर होता है। भाव की सूक्ष्मता के कारण कम शब्दों में ही उसका गुम्फन सम्भव है जबकि कथा की स्थूलता उसकी अभिव्यक्ति के लिये अधिक शब्द अनिवार्य कर देती है। इसीलिये इन कविताओं को कथात्मक अथवा प्रबंध कविता कहा गया। कारण, इनमें कथा का निबंधन रहता है। गद्य में जो स्थान निबंधों का है, पद्य में वही स्थान कथात्मक कविता का है।

जैसे महाकाव्य और खंडकाव्य का अंतर आकार जनित है, वैसे ही खंडकाव्य और कथात्मक कविता का भी अन्तर आकार जनित ही है। महाकाव्य के सारे तत्व सूक्ष्म रूप में खंडकाव्य में विद्यमान रहते हैं, उसी तरह खंडकाव्य का सौन्दर्य लघ्वाकार में सिमट कर कथात्मक कविता में उपस्थित रहता है। दोनों में प्रकार-भेद नहीं मात्राभेद है। कथात्मक कविता को अल्प आयास में ही खंडकाव्य का रूप दिया जा सकता है और इसी तरह खंडकाव्यकार अगर अपने खंडकाव्य का संक्षेपीकरण करदे तो वह एक कथात्मक कविता हो जायगा।

कथात्मक कविता निश्चित रूप से आद्यंत एक ही छंद में लिखी जाती है, किंतु खंडकाव्य में दोनों ही स्थितियाँ होती हैं। खंडकाव्य सम्पूर्णतः एक ही छंद में भी लिखा जा सकता है और अनेक छंदों में भी। मध्यकाल में ऐसे भी खंडकाव्य लिखे गये हैं जिनमें बहुसंख्यक छंदों का प्रयोग हुआ है।

फिर, कथात्मक कविता के आदि और अंत में क्रमशः स्तुति और फलश्रुति नहीं होती जबकि मध्यकालीन खंडकाव्यों में अन्ठानवे प्रतिशत खंडकाव्यों में ऐसा हुआ है।

प्रबंध काव्य के अन्य प्रकारों से खंडकाव्य की समता-विषमता द्वितीय अध्याय में दिखायी जा चुकी है।

मध्यकालीन खंडकाव्यों के आलोक में इसकी परिभाषा

१. मध्यकालीन खंडकाव्यों को देखकर इतना ही कहना पर्याप्त नहीं है कि इसमें नायक के जीवन की कोई एक घटना होती है। उसमें किसी एक सम्वेदना का वर्णन भी खंडकाव्यत्व के लिये यथेष्ठ है। जैन कथात्मक खंडकाव्य के अंतर्गत विवेचित भगवतीदास के 'चेतन चरित्र', 'शत अष्टोत्तरी', आदि इसी कारण खंड-

काव्य हैं। सम्वेदना के आधार होने के कारण ऐसा न समझा जाय कि एसे खंडकाव्य में कोई कथा नहीं होती। कथा तो होती ही है किंतु वह कथा किसी व्यक्ति विशेष की न होकर मानव मात्र की होती है। व्यक्तिपरक खंडकाव्यों में भी साधारणता (युनिवर्सलिटि) होती है परंतु वहाँ वह व्यंग्य होती है जबकि सम्वेदनापरक खंडकाव्यों में प्रत्यक्ष होती है। यही सम्वेदनापरक खंडकाव्यों और व्यक्तिपरक खंडकाव्यों में प्रधान अंतर है। 'चेतन चरित्र' का चेतन जन-जन की चेतनता है और माया से उसका संघर्ष प्रत्येक व्यक्ति का कुप्रवृत्तियों से संघर्ष है। गो० तुलसीदास का 'जानकी मंगल' भी हमारे हृदय को छूता है पर ऐसा वहाँ साधारणीकरण के द्वारा सम्भव हुआ है। इसके विपरीत 'चेतन चरित्र' में साधारणीकरण नाम की कोई वस्तु नहीं। इसमें मनुष्य की सनातन वृत्तियों के ही पारस्परिक द्वंद्व की कथा कह दी गयी है, यहाँ साधारणीकरण की आवश्यकता ही नहीं है। यही अंतर महाकाव्यों में रामचरितमानस और कामायनी में है। रामचरितमानस के राम साधारणीकृत होते हैं। कामायनी के मनु मानव-मन के ही मूर्त्त विग्रह हैं। रामचरितमानस युग-युग के जीवन को समाहित करने वाली कथा के कारण महाकाव्य है, कामायनी मानवता-व्यापी सम्वेदना को आधार बनाने के कारण महाकाव्य है। यही अंतर 'जानकी मंगल' और 'चेतन चरित्र' में है। 'चेतन चरित्र' एक सीमित सम्वेदना का आश्रयी होने के कारण ही कामायनी-जैसा महाकाव्य न हो सका।

जो भी हो, सम्वेदना के अतिरिक्त खंडकाव्यों में नायक के जीवन की किसी एक ही घटना का वर्णन होता है जो जीवन के किसी एक ही पक्ष की झलक प्रस्तुत करता है।

२. खंडकाव्य का नायक सुर, असुर मनुष्य, इतिहास प्रसिद्ध अथवा कल्पित या शांत, ललित, उदात्त और उद्धत में से किसी प्रकार का हो सकता है। भक्तिपरक खंडकाव्यों के नायक देवता हैं। 'प्रह्लाद चरित्र' नाम से लिखे गये खंडकाव्यों का नायक हिरण्यकशिपु असुर है। ऐतिहासिक खंडकाव्यों के नायक मनुष्य हैं। अधिकांश खंडकाव्यों के नायक ख्याति प्राप्त हैं किंतु जैन कथात्मक खंडकाव्यों के नायक कल्पित ही हैं। इसी प्रकार शांत, ललित, उदात्त और उद्धत में से सभी प्रकार के नायक मध्यकालीन खंडकाव्यों में मिलते हैं। ऐसा भी सम्भव है कि खंडकाव्य में नायक हों ही नहीं केवल नायिका ही हो। रामावत खडकाव्यों में 'जानकी विजय' अथवा 'अद्भुत' रामायण नाम से लिखे गये खंडकाव्यों में नायक कोई नहीं नायिका सीता है और प्रतिनायक अहिरावण 'मैनासत' और 'सन्देश रासक' में भी नायिका ही है, नायक नहीं।

महाकाव्य में प्रतिनायक का होना अनिवार्य है, क्योंकि पराक्रमी प्रतिनायक पर नायक की जय दिखाकर ही नायक की महत्त्व वृद्धि की जाती है। खंडकाव्यों में प्रतिनायक होना अनिवार्य नहीं है। मध्यकालीन खंडकाव्यों में 'जानकी विजय' नाम से लिखे गये खंडकाव्यों, रामावत विविध खंडकाव्यों, रुक्मिणी-हरण-विषयक खंडकाव्यों में और वीररसामूलक खंडकाव्यों में ही प्रतिनायक हैं। अन्य प्रकार के खंडकाव्यों में प्रतिनायकों का अभाव होते हुये भी उसकी उत्तमता में कोई कमी नहीं आने पायी है।

३. घटना प्रधान खंडकाव्यों के कथा संगठन में तो क्रम, आरम्भ विकास और चरम सीमा, ये विविध स्तर होते हैं किंतु सम्वेदना-प्रधान खंडकाव्यों में भाव के ये विविध स्तर देखने में नहीं आते। इनमें चरमोत्कर्ष को केन्द्रित कर भाव चारों ओर सरोवर के जल की तरह सुस्थिर रहता है। भाव यहाँ आंतरिक गति से गतिशील रहता है।

४. खंडकाव्य की कथा का सर्गों में विभाजित होना अनिवार्य नहीं। सर्गीकरण होने पर सर्गों की संख्या की भी कोई सीमा नहीं है। लक्ष्मीनारायण की 'प्रेमतरंगिनी' की कथा ग्यारह अध्यायों में, प्रेमदास का 'प्रेमसागर' दस अध्यायों में, गोपाल का 'उषा-अनिरुद्ध विवाह' दो अध्यायों में रामदास का 'उषा-चरित्र' सत्रह अध्यायों में तथा रघुराजसिंह का 'रुक्मिणी परिणय' इक्कीस अध्यायों में वर्णित है। सर्गों के अभाव में वर्णन संकेत हो सकते हैं अथवा सर्गबद्ध खंडकाव्यों में भी वर्णन-संकेत रह सकते हैं।

५. सम्वेदना-प्रधान खंडकाव्यों की कथा बिलकुल कल्पित होती है। जैन कथात्मक खंडकाव्यों में से सभी की कथा पूर्णतः कल्पित है किंतु खंडकाव्य की कथा का ख्यात होना वर्जित नहीं है बल्कि मध्यकाल के अन्ठानवे प्रतिशत खंडकाव्यों की कथा ख्यात ही है।

६. खंडकाव्यों में अवांतर कथाएँ नहीं होतीं। कथा में निबद्ध अर्थ को स्पष्ट करने के लिये यदि आवश्यक हुआ तो उसकी सूचना भर दे दी जाती है।

७. सम्वेदनापरक और व्यक्तिपरक सभी प्रकार के खंडकाव्यों का एक निश्चित उद्देश्य होता है।

८. खंडकाव्य महाकाव्य के गुणों से शून्य नहीं होता। महाकाव्य की विशेषताएँ वहाँ सूक्ष्म रूप में विद्यमान रहती हैं। महाकाव्य की कथा-योजना प्रबंध-वक्रता से पुष्ट रहती है तो खंडकाव्य का कथाविन्यास प्रकरण-वक्रता से पुष्ट होता है। महाकाव्य में प्रकृति का सांगोपांग चित्रण और लोक रीतियों का पूर्ण वर्णन होता है तो खंडकाव्य में भी प्रकृति एवं लोकरीति का आंशिक चित्रण होता है।

९. खंडकाव्य का चतुवर्ग-फल में से किसी एक की प्राप्ति उद्देश्य होता है।

१०. खंडकाव्य में एक रस समग्र रूप में अथवा अनेक रस असमग्र रूप में रहते हैं।

११. खंडकाव्य में सभी संधियाँ नहीं होतीं।

१२. खंडकाव्य के लिए यह आवश्यक नही है कि उसकी रचना साहित्यक परिनिष्ठित भाषा में हो। मध्ययुग में ही एक साथ अवधी, ब्रजी, राजस्थानी, अपभ्रंश और मिश्रित बोलियों में खंडकाव्य का प्रणयन हुआ है।

१३. खंडकाव्य के आरम्भ में स्तुति और अंत में फल श्रुति होती है, किंतु यह अनिवार्य नहीं है। आदि अथवा अंत में कवि आत्मपरिचय, ग्रंथ रचना का हेतु एवं रचना-काल देता है, लेकिन यह भी आवश्यक नहीं।

१४. खंडकाव्य आद्यंत एक ही छंद में लिखा जा सकता है और अनेक छंदों में भी। वीर वाजपेयी के 'सुदामा चरित्र' में पचास प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं। सर्गबद्ध खंडकाव्यों में एक सर्ग में भी अनेक छंद व्यवहृत होते हैं।

खंडकाव्य के अवांतर भेद

खंडकाव्य के अनेक तत्त्वों के आधार पर उसका अलग-अलग वर्गीकरण किया जा सकता है। छंद योजना की दृष्टि से इसके दो वर्ग हो सकते हैं—आद्यंत एक छंद में लिखा गया खंडकाव्य और दूसरा अनेक छंदों में रचित खंडकाव्य। फिर, सर्गबद्धता की दृष्टि से इसके चार भेद हो सकते हैं: १. सर्गयुक्त, २. सर्गहीन, ३. जिसमें सर्गीकरण नहीं हो, किंतु वर्णन-संकेत हो, ४. जिसमें सर्गबद्धता और वर्णन-संकेत दोनों हों। रस के अनुसार खंडकाव्य के दो वर्ग होंगे जिसमें एक रस समग्र रूप में तथा जिसमें अनेक रस असमग्र में रहें। खंडकाव्यों की घटनापरकता एवं सम्वेदना परकता के अनुसार भी खंडकाव्यों के वर्ग किये जा सकते हैं। इन दोनों प्रकार के खंडकाव्यों को क्रमशः व्यक्तिपरक और भावपरक भी कहा जा सकता है। व्यक्तिपरक अथवा घटनापरक खंडकाव्य पुनः दो प्रकार के हो सकते हैं—घटना-प्रधान और वर्णन-प्रधान।

(ख) मध्यकालीन खंडकाव्यों की प्रवृत्तियाँ

मध्यकाल के खंडकाव्यों से हिन्दी के खंडकाव्यों की वास्तविक परम्परा आरम्भ होती है। प्राङ्मध्यकाल के दो प्रधान खंडकाव्य 'सन्देश रासक' और 'बीसलदेव रास' संस्कृत के दूत काव्य के अधिक निकट हैं। 'सन्देश रासक' तो बिल्कुल दूतकाव्य ही है। 'बीसलदेव रास' इससे परवर्ती है और इस तरह यह स्थापत्य की दृष्टि से 'सन्देश रासक' से आगे बढ़ा हुआ है। इसमें घटनाओं का अत्यंताभाव है। बीसलदेव रास भी वर्णन-प्रधान ही है किंतु संदेश रासक पूर्णरूपेण वर्णनात्मक है इसमें घटनाओं का उतना अभाव नहीं जितना 'संदेश रासक' में। प्राङ्मध्यकालीन इन दो खंडकाव्यों को देखने से ही यह स्पष्टतः परिलक्षित हो जाता है कि हिन्दी खंडकाव्य संस्कृत परम्परा से धीरे धीरे हट रहा था और अपनी स्वतंत्र परम्परा के विकास की ओर अग्रसर हो रहा था।

मध्यकाल के आरम्भिक खंडकाव्यों मे से 'रणमल्ल छंद' (श्रीधर व्यास), 'रुक्मिणी मंगल' (विष्णुदास), 'भरत विलाप' (तुलसीदास), 'प्रेम तरंगिनी' (लक्ष्मीनारायण) 'सुदामाचरित्र' (हलधरदास), 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल' (गोस्वामी तुलसीदास), आदि संस्कृत के खंडकाव्यों (दूत काव्यों) और 'सन्देश रासक', 'बीसलदेव रास' से प्रकारतः भिन्न हैं। संस्कृत के खंडकाव्य जिनकी परम्परा 'सन्देश रासक' और 'बीसलदेव रास' तक चली है, वर्णन-प्रधान थे। उसमें नायक के जीवन की एक घटना से अधिक मानव जीवन की एक सम्वेदना ही देखी जाती है। अतएव उसमें इतिवृत्त का अभाव है। मध्यकालीन खंडकाव्यों में इतिवृत्त तो है ही, मार्मिक स्थलों के वर्णन भी हैं। इस तरह मध्यकाल से हिन्दी के सुव्यवस्थित खंडकाव्यों की परम्परा विकसित हुई।

फिर, मध्यकाल में ही खंडकाव्य के अधुनातन रूपों का भी उद्भव हो गया था। आधुनिक हिन्दी खंडकाव्य मध्यकालीन खंडकाव्यों से आगे नहीं बढ़ा है, पाश्चात्य प्रभाव के कारण मंगलाचरण और फल वर्णन भले ही हट गया हो। ऐसा युग की प्रवृत्ति के कारण हुआ, यह कला का विकास नहीं है। आधुनिक युग में आकर प्रबंधत्व की धारणा में विकास हुआ। अब प्रबंध के नायक-नायिका व्यक्ति विशेष ही

नहीं रह गये। व्यक्ति फैलकर समूह में अथवा वायवीय होकर भाव अथवा विचार में परिणत हो गये। खंडकाव्यादि व्यक्तिपरकता से भावपरकता पर आ गये। पिछले अध्यायों में प्रबंध के इन विविध रूपों का विवेचन किया गया है। जैन कथात्मक खंडकाव्यों के अध्याय में विवेचित भैया भगवतीदास के खंडकाव्य 'चेतनचरित्र' और 'शत अष्टोत्तरी' व्यक्तिपरक खंडकाव्यों से भिन्न, भावपरक खंडकाव्य हैं। इस तरह हिन्दी खंडकाव्य के इतिहास में मध्यकाल वह स्वर्णयुग है जिसमें हमारी खंडकाव्य-कला का चरम विकास हुआ है।

मध्यकालीन खंडकाव्यों के तीन प्रेरक तत्वों—धर्म, वीरता एवं प्रेम में से धर्म सर्वाधिक प्रबल रहा है। एक धर्म ने ही खंडकाव्यकारों को जितना प्रेरित किया है, उतना अन्य दो तत्वों ने मिलकर भी नहीं किया। फिर भी, मध्यकालीन खंडकाव्यों को देखने पर यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि खंडकाव्यकारों की प्रवृत्ति शृंगारिक थी। मर्यादापुरुषोत्तम राम के जीवन पर खंडकाव्य कम लिखे गये, इसका एक कारण यह भी है कि वहाँ शृंगार का अवकाश अत्यल्प था, उनके परिणय-प्रसंग, जहाँ शृंगार की पूर्ण सम्भावना थी, पर तो खंडकाव्य लिखे गये किंतु उनके जीवन की अनेक छोटी-छोटी मार्मिक घटनाएँ जो खंडकाव्यों की बहुत उपयुक्त वस्तु होतीं, प्रायः उपेक्षित रहीं। कृष्ण के जीवन में ऐसी घटनाओं का बाहुल्य है, अतः उनके जीवन पर पुष्कल मात्रा में खंडकाव्य लिखे गये। उनकी दानलीला, रासलीला तथा उनके द्वारा रुक्मिणी-हरण पर जितने खंडकाव्य लिखे गये उतने गोवर्धन-धारण कर ब्रजवासियों की रक्षा करने की तरह महत्वपूर्ण कार्य पर नहीं। शिव के सम्बन्ध में ऐसी शृंगारिक घटना एक ही मिली है—उनका विवाह! अतः उनके विवाह पर तो कुछ खंडकाव्य लिखे गये लेकिन उनके अन्यान्य कार्य कलाप पर एक नहीं लिखा गया। कामारि शिव पर खंडकाव्यों की अल्पता खंडकाव्यकारों की शृंगारिक प्रवृत्ति का प्रबल प्रमाण है। फिर, सम्पूर्ण महाभारत खंडकाव्योपयुक्त आख्यानों से भरा हुआ है। उनपर असंख्य खंडकाव्यों की रचना हो सकती थी, पर ऐसे खंडकाव्यों का अभाव-सा है। खंडकाव्यकारों की शृंगारिक प्रवृत्ति का यह भी एक प्रमाण है।

धर्मावलम्बियों में वैष्णव, शैव एवं जैन तीनों ने खंडकाव्य लिखे। इन तीनों द्वारा रचित खंडकाव्यों में किसी भी दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। रूप एवं वस्तु-प्रतिपादन सभी दृष्टियों से वे समान ही हैं। आदि में स्तुति और अंत में फलश्रुति आदि सब में समान है। जैसे वैष्णवों को भगवान् की कोई लीला विशेष प्रिय हुई, वैसे ही जैनियों को कुछ चरित्र अत्यन्त प्रिय हुए। एक अन्तर यह है कि जैन खंडकाव्यकारों का ध्यान चरित्र-वर्णन पर है अथवा कथा के माध्यम से उपदेश देने पर किंतु वैष्णव तथा शैव खंडकाव्यों में ऐसा नहीं मिलता। जैनियों का चरित-वर्णन जीवनी के निकट है, जबकि वैष्णव तथा शैव खंडकाव्य प्रबंधकाव्य के उत्कृष्ट निदर्शन हैं। कल्पित कथा के माध्यम से उपदेश देने की प्रवृत्ति का भी अभाव वैष्णव और जैन खंडकाव्यकारों में है। यहाँ पर भी उल्लेखनीय है कि भैया भगवतीदास जैन खंडकाव्यकार ने ही 'चेतनचरित्र' और 'शत अष्टोत्तरी' लिखकर खंडकाव्य ही नहीं, समग्र प्रबंध परम्परा में दिशा-भेद किया था।

इन धर्ममूलक खंडकाव्यों के सम्बन्ध में द्रष्टव्य यह है कि ये सब के सब अलौकिक काव्य हैं। अलौकिक-वस्तु की भी लौकिक अभिव्यक्ति हो सकती है, यह दृष्टि मध्यकालीन खंडकाव्यकारों को उपलब्ध न हो सकी थी।

मध्यकालीन खंडकाव्यों की नामकरण की प्रवृत्ति भी द्रष्टव्य है। जिस तरह विषयों को ग्रहण करने में खंडकाव्यकारों ने कोई संकोच नहीं किया है उसी प्रकार नाम को भी निस्संकोच इन्होंने ग्रहण किया। इस तरह एक ही विषय पर एक ही नाम से लिखे गये खंडकाव्यों की संख्या अनंत है। इनके नामों में कोई कलात्मकता भी नहीं है। खंडकाव्यों के नाम प्रायः चरित, मंगल, लीला, स्वयम्वर, आदि संयुक्त कर रखे गये। नाम से काव्य-रूप का बोध होता है या नहीं, इस पर खंडकाव्यकारों का ध्यान नहीं था। 'हनुमान नाटक', 'रामकरुणा नाटक', आदि से उस कृतियों के नाटक होने का तथा 'रणमल्ल छंद', 'दान विलास', 'शत अष्टोत्तरी', 'विरह विलास', 'नेमिनाथ जी के कवित्त', आदि नामों से मुक्तक कविताओं के संग्रह का एवं 'गोरा-बादल की कथा', 'उषा-कथा', आदि से कथा-कहानी का भ्रम होता है।

वस्तु की दृष्टि से मध्यकालीन खंडकाव्यों का अधिकांश पौराणिक है। जैन खंडकाव्य, वीरतामूलक खंडकाव्यों में ऐतिहासिक खंडकाव्य, गार्हस्थ्य प्रेममूलक एवं स्वच्छंद प्रेममूलक में प्रकीर्ण खंडकाव्य इसके अपवाद हैं। वस्तु-निर्माण में कल्पना का योग जैन कथात्मक खंडकाव्यों और स्वच्छंद प्रेममूलक प्रकीर्ण खंडकाव्य में ही है। ऐतिहासिक खंडकाव्यों की वस्तु लोक-परम्परा से ली गयी है।

कथा-संघटन की दृष्टि से मध्यकाल के खंडकाव्य दो कोटियों में विभाज्य हैं। एक प्रकार के खंडकाव्य तो वे हैं जिनमें खंडकाव्यकार का सारा ध्यान एक ही घटना पर रहता है। वह वस्तु पर एकाएक उतर आता है और चरमोत्कर्ष के बाद बिल्कुल नहीं रुकता। वीरतामूलक खंडकाव्यों में ऐतिहासिक घटनापरक खंडकाव्य इसी प्रकार के हैं। श्रीधर व्यास का 'रणमल्ल छंद' और सदानंद का 'रासा भगिवंत सिंह' इस प्रकार के खंडकाव्यों के उत्तम उदाहरण हैं। इस प्रकार के खंडकाव्यों में महाकाव्यात्मक गरिमा नहीं होती है।

दूसरे प्रकार के खंडकाव्यों में मुख्य घटना के पहले या बाद में कथासूत्र को ताना गया है। प्रकारांतर से कहा जा सकता है कि किसी में आरोह है तो किसी में अवरोह नहीं और किसी में अवरोह है तो आरोह नहीं। पहले प्रकार में धीरे-धीरे कवि उस चरमोत्कर्ष पर पहुँचता है जहाँ शिखर की खड़ी ऊँचाई है, वहाँ से उतरा नहीं जाता, कूदा जाता है। अर्थात् कवि कथा-नायक के जीवन की जिस घटना को वस्तु-रूप में ग्रहण करना चाहता है, उस तक पहुँचने के लिए वह उसके पिछले जीवन की भी एक झलक दिखा देता है और उस घटना पर पहुँचकर उसे दिखा-सुना कर वर्णन समाप्त कर देता है। जटमल की 'गोरा बादल की कथा' पद्माकर की 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' तथा उषा-अनिरुद्ध विषयक सारे खंडकाव्य इसी प्रकार के हैं। 'गोरा बादल की कथा' में गोरा की मृत्यु और बादल द्वारा संग्राम-विजय के बाद कथा समाप्त हो गयी है। कवि चाहता तो कथा-सूत्र को आगे बढ़ाकर रत्नसेन

और पद्मिनी का मिलन दिखा सकता था। इसी तरह 'हिम्मतबहादुर विरुदावली' के आरम्भ में तो हिम्मतबहादुर का परिचय दिया गया है, यद्यपि इसकी प्रतिपाद्य वस्तु हिम्मतबहादुर और अर्जुनसिंह का युद्ध है, किंतु अन्त में अर्जुनसिंह की मृत्यु के साथ कथा समाप्त हो जाती है। इसी तरह उषा-अनिरुद्ध-सम्बन्धी खंडकाव्यों के आरम्भ में तो उषा का विस्तृत परिचय दिया गया है किंतु संग्राम में बाणासुर की पराजय के पश्चात् कथा की गति रुक गयी है। यहाँ भी द्वारका में उषा-अनिरुद्ध के विधिपूर्वक मिलन का वर्णन करने के लिए कवि को अवसर था।

इस श्रेणी में दूसरे प्रकार के खंडकाव्य वे हैं जिनमें कवि एकबारगी चरमोत्कर्ष पर उठाकर रख देता है और वहाँ से धीरे-धीरे उतरने के लिए कथा पर्वत को ढालुवाँ बना देता है। पहले प्रकार के खंडकाव्य में आरोह वाला भाग ढालुवाँ था, दूसरे प्रकार में अवरोह वाला भाग ढालुवाँ होता है। पहले में चरमोत्कर्ष अंत में आता है और दूसरे में सबसे पहले। तात्पर्य यह है कि दूसरे प्रकार के खंडकाव्यों में कवि कथा-पात्र के जीवन की वर्ण्य घटना को पहले ही रख देता है और उसके यथाविध वर्णन के उपरांत उसके शेष-जीवन का भी अति संक्षिप्त, कभी-कभी दो चार पंक्तियों में ही वर्णन कर काव्य को समाप्त करता है। इस प्रकार के खंडकाव्यों के उदाहरण-स्वरूप मनरंगलाल की 'नेमिचंद्रिका' को लिया जा सकता है। कथा-योजना को देखते हुए नेमि और राजुल का विवाह ही कवि का वर्ण्य विषय मालूम पड़ता है। किंतु उसके सविस्तार वर्णन के उपरांत कवि नेमि के संन्यास की सूचना देने के लिए कथा-सूत्र को आगे ले जाता है।

तीसरी कोटि के खंडकाव्य ही आदर्श खंडकाव्य हैं। इनमें चरमोत्कर्ष के दोनों ओर कथासूत्र का तनाव होता है। इसलिये इस प्रकार के खंडकाव्य का कथा-संगठन बड़ा संतुलित होता है। मध्यकाल के अधिकांश खंडकाव्य इसी प्रकार के आदर्श खंडकाव्य हैं। इस कोटि के खंडकाव्य में महाकाव्यात्मक गरिमा पहली दोनों कोटियों के खंडकाव्यों की अपेक्षा अधिक होती है। महाकाव्य के कथा-विन्यास में सभी नाटकीय संधियों के समावेश पर संस्कृत के आचार्यों ने बहुत जोर दिया है। महाकाव्य की कथा-योजना में कलात्मकता और गरिमा लाने के अभिप्राय से ही ऐसा विधान किया गया है। इस कोटि के खंडकाव्यों के वस्तु-विन्यास में कुछ संधियों का हलका-सा स्पर्श हो जाता है। इससे मात्र वस्तु का ही विस्तार दीर्घ नहीं होता बल्कि उसका पट दीर्घाकार हो जाने के साथ-साथ उसकी कलात्मकता और गरिमा भी बढ़ जाती है।

इस कोटि के खंडकाव्यों के उदाहरण-स्वरूप हलधरदास के 'सुदामा चरित्र' को लिया जा सकता है। इसका चरमोत्कर्ष सुदामा-कृष्ण-मिलन ही है। किंतु इसमें सुदामा की दीनता के वर्णन से कथा का आरम्भ हुआ और सुदामा के नवप्राप्त वैभव की झलक दिखाकर उसकी समाप्ति हो गयी। इस प्रकार के खंडकाव्य प्रायः वर्णन-प्रधान होते हैं। घटना तो इसमें एक ही रहती है। इस कारण कथा की गति में वक्रता नहीं होती। इसका सारा काव्यत्व वर्णन में ही होता रहता है, इसलिए

भावों की मर्मस्पर्शी अभिव्यंजना की जितनी अपेक्षा इस प्रकार के खंडकाव्य रचयिता को होती है उतनी दूसरे को नहीं। क्योंकि इसमें काव्य का सारा चमत्कार वर्णन पर ही अवलम्बित होता है। अतः इस प्रकार के खंडकाव्य अपेक्षया अधिक आत्मगत होते हैं।

कथा-विभाजन की दृष्टि से मध्यकालीन खंडकाव्यों में सभी प्रकार देखे जाते हैं। कुछ की कथा सर्गबद्ध है तो कुछ की सर्गविहीन भी है। हलधरदास के 'सुदामा चरित्र' की कथा अविभाजित है तो वीर वाजपेयी ने 'सुदामा चरित' की कथा को अंकों में विभाजित किया है। सर्गों के तरंग, विलास, अंक, अध्याय, विश्राम, उल्लास, आदि नाम रखे गये हैं। कुछ खंडकाव्यों की कथा अध्यायों में विभाजित नहीं है, उसके मध्य वर्णन-संकेत दिये गये हैं, जैसे मेहरचंद के 'रुक्मिणी मंगल' में। वीर वाजपेयी के 'सुदामा चरित्र' में अध्याय-विभाजन के साथ वर्णन-संकेत भी है। और ऐसे काव्यों की संख्या भी कम नहीं है।

रसों में शृंगार मध्यकालीन खंडकाव्यों पर छाया हुआ है। पीछे दिखाया जा चुका है कि मध्यकालीन खंडकाव्यों की प्रवृत्ति शृंगारिक थी। अतएव उनमें शृंगार का बाहुल्य स्वाभाविक है। प्रेममूलक खंडकाव्यों के अतिरिक्त धर्ममूलक खंडकाव्यों में भी शृंगार अनुपस्थित नहीं है। शृंगार के दोनों पक्ष संयोग एवं वियोग मध्यकालीन खंडकाव्यों के अवलम्बन रहे हैं। मध्यकालीन खंडकाव्यों में अंगी रूप में आने वाला दूसरा रस वीर है। वीर रसाश्रयी खंडकाव्य परिमाण की दृष्टि से भी शृंगारिक खंडकाव्यों के बाद ही हैं। अंगी-रूप में स्थान पाने वाला तीसरा रस सख्य है जो सुदामा-विषयक खंडकाव्यों में देखा जाता है। 'भरत-विलाप' में करुण अंगी रूप में ही है। अन्य खंडकाव्यों में करुण गौण रूप में आया है। वात्सल्य, वीभत्स, भयानक और शांत रस भी गौण रूप में यत्र तत्र आये हैं।

छंद-योजना की दृष्टि से द्रष्टव्य यह है कि मध्यकाल जैसे-जैसे अंत की ओर बढ़ा है, कवियों में अधिक छंदों के प्रयोग की प्रवृत्ति भी बढ़ती गयी है। मध्यकाल के आरम्भ में एक 'रणमल्ल छंद' ही अपवाद है। सत्तर छंदों के इस खंडकाव्य में ग्यारह प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं। किंतु 'रणमल्ल छंद' के बाद फिर कोई ऐसा खंडकाव्य नहीं मिलता। ऐसे खंडकाव्य जिनमें कवि ने अपना छंद-ज्ञान दिखाया है, मध्य काल के अंत की ओर अधिक लिखे गये। हीरामणि के 'रुक्मिणी मंगल' में ग्यारह प्रकार के, मनरंगलाल की 'नेमि चंद्रिका' और चंद्रशेखर वाजपेयी के 'हम्मीर-हठ' में बारह-बारह प्रकार के, श्रीधर मुरलीधर के 'जंगनामा' में तेरह प्रकार के, जीवनलाल नागर के 'उषा चरित्र' में सत्रह प्रकार के और वीर वाजपेयी के 'सुदामा चरित्र' में पचास प्रकार के छंद प्रयुक्त हुए हैं।

भाषा की दृष्टि से द्रष्टव्य है कि मध्यकालीन खंडकाव्यों में अपभ्रंश, राजस्थानी, अवधी, ब्रजी, खड़ी बोली एवं किसी-किसी में मिश्रित बोली भी पायी जाती है। इनमें से प्राचीनतम खंडकाव्य 'रणमल्ल छंद' (१४०० ई०) की भाषा अपभ्रंश के समीप ही है। सोलहवीं शताब्दी तक खंडकाव्य में अपभ्रंश को आश्रय मिला है,

कर्मण के 'सीताहरण' (१५५८ ई०) की भाषा अपभ्रंश है। फिर, सोलहवीं शताब्दी से ही खंडकाव्य में खड़ी बोली को स्थान प्राप्त हो गया था, आलम के 'सुदामा चरित्र' (१५८३ ई० के आसपास) की भाषा रेखता है। सर्वाधिक खंडकाव्यों की भाषा ब्रजी है, उसके बाद अवधी के खंडकाव्य आते हैं और तब अन्य भाषाओं के खंडकाव्यों का स्थान है।

: ६ :

परिशिष्ट—क

प्रबंध में विवेचित खंडकाव्यों का अनुक्रम

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
१. बारहवीं शती ईस्वी	—	संदेश रासक	अब्दुल रहमान	मुद्रित	हिंदी ग्रंथरत्नाकर लिमिटेड, बम्बई ।	अपभ्रंश
२. ११८४ ई०	—	भरतेश्वर बाहुबलीरास	शालिभद्र	,,	डॉ० दशरथ ओझा द्वारा सम्पादित 'रास और रासान्वीय काव्य' में संकलित ।	प्राचीन राजस्थानी
३. १२९६ ई० से १३०१ ई०	—	नेमिनाथ चउपइ	विनयचंद्र सूरि	अमुद्रित	डॉ० हरिशंकर शर्मा 'हरीश' के अप्रकाशित शोध-प्रबंध 'आदि काल का हिंदी जैन साहित्य' में उल्लिखित ।	,,
४. १३४३ ई० के आसपास	—	बीसलदेव रास	नरपति नाल्ह	मुद्रित	१. ना० प्र० सभा, काशी । २. हिंदी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग ।	राजस्थानी
५. १३७५ ई०	—	जिनोदयसूरि विवाहलउ	मेरुनंदन	अमुद्रित	डॉ० हरिशंकर शर्मा 'हरीश' के अप्रकाशित शोध-प्रबंध 'आदि काल का हिंदी जैन साहित्य' में उल्लिखित ।	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
६. १३९६ ई०	—	हरिचंद पुराण	जाखू मणयार	,,	सूरपूर्व ब्रजभाषा और साहित्य (डॉ० शिव प्रसाद सिंह) में उल्लिखित।	प्राचीन हिंदी
			मध्यकाल			
१. १४०० ई०	—	रणमल्ल छंद	श्रीधर व्यास	मुद्रित	१. प्राचीन गुर्जर काव्य, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी. अहमदाबाद। २. रास और रासान्वयी काव्य, ना० प्र० सभा।	,,
२. १४३५ ई० के आसपास	—	रुक्मिणी मंगल	विष्णुदास	अमुद्रित	१. ना० प्र० सभा वाराणसी। २. श्री चैतन्य पुस्तकालय, पटना सिटी।	ब्रजी
३. १४४३ ई० के आसपास	—	ढोला-मारुरा दूहा	,,	मुद्रित	ना० प्र० सभा	राजस्थानी
४. १४८० ई०-१५०० ई०	—	मैनासत	,,	,,	विद्यामंदिर प्रकाशन ग्वालियर।	मिश्रित
५. पंद्रहवीं शताब्दी	—	प्रह्लाद लीला	रैदास	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	ब्रजी
६. १४६८ ई०-१५८२ ई०	—	बानलीला	कुम्भनदास	,,	ना० प्र० सभा	,,
७. १४८९ ई०-१५१७ ई०	—	भरत विलाप	तुलसीदास	मुद्रित	कलकत्ता	अवधी
८. १५२३ ई० के आसपास	—	प्रेमतरंगिनी	लक्ष्मीनारायण	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	ब्रजी
९. १५३३ ई०-१५८२ ई०	—	रुक्मिणी मंगल	नंददास	मुद्रित	नंददास ग्रंथावली— १. ना० प्र० सभा, वाराणसी। २. प्रयाग।	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
१०. १५३३ ई०-१५८२ ई०	—	रासपंचाध्यायी	नंददास	मुद्रित	१. ना० प्र० सभा, वाराणसी। २. प्रयाग।	ब्रजी
११. ,,	—	भँवरगीत	,,		,,	,,
१२. ,,	—	रूपमंजरी	,,	,,	,,	,,
१३. १५३४ ई०-१५४१ ई०	—	राव जैतसी रो छंद	सूजा जी	अमुद्रित	राजस्थानी भाषा और साहित्य मेनारिया।	,,
१४. १५४१ ई० के आसपास	—	प्रह्लाद चरित्र	परशुराम	मुद्रित	परशुराम सागर, उदयप्रेस, उदयपुर।	,,
१५. ,,	—	उषाचरित्र	,,	अमुद्रित	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	,,
१६. १५४३ ई०	—	माधवानल काम-कंदला रस विलास	गोविंदचंद	,,	,,	,,
१७. १५४८ ई०	—	सीता हरण	कर्मण	मुद्रित	प्राचीन गुर्जर काव्य, गुजरात वर्नाक्यूलर सोसाइटी, अहमदाबाद।	अपभ्रंश
१८. १५५० ई० के आसपास	—	दानलीला	परमानंददास	अमुद्रित	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना।	ब्रजी
१९. ,,	—	ध्रुवचरित्र	,,	,,	राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।	,,
२०. १५५६ ई०-१५८६ ई०	—	सुदामाचरित्र	वीरब	,	अनप संस्कृत पुस्तकालय	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
२१. १५६३ ई० के आसपास	—	रासपंचाध्यायी	हरिराम व्यास	अमुद्रित	हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल।	ब्रजी
२२. १५६५ ई०	—	सुदामाचरित्र	हलधरदास	मुद्रित	१. खड्गविलास प्रेस, पटना। २. बनारस। ३. कलकत्ता।	,,
२३. १५७३ ई० के आसपास	—	सुदामाचरित्र	नरोत्तमदास	,,	१. वाणी-वितान प्रकाशन, वाराणसी। २. विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा। ३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।	ब्रजी
२४. ,,	—	ध्रुवचरित्र	,,	अमुद्रित	हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल।	,,
२५. १५८३ ई०	—	माधवानल कामकंदला	आलम	,,	ना० प्र० सभा	,,
२६. १५८३ ई० के आसपास	—	सुदामाचरित्र	,,	,,	,,	रेखता
२७. ,,	—	स्याम सनेही या रुक्मिणी ब्याहलो	,,	,,	खोज विवरण, सभा	मिश्रित

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
२८. १५८६ ई० के आसपास	—	जानकी मंगल	गोस्वामी तुलसीदास	मुद्रित	तुलसी ग्रंथावली, सभा	अवधी
२९. १५८६ ई०	—	पार्वती मंगल	,,	,,	,,	,,
३०. १५८७ ई०	—	वेलि क्रिसन रुक्मिणी री	पृथ्वीराज	,,	१. कलकत्ता। २. हिंदुस्तानी ऐकेडेमी, प्रयाग।	राजस्थानी
३१. सोलहवीं शती ई० का उत्तरार्द्ध	—	रासपंचाध्यायी	रहीम	अमुद्रित	हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० रामकुमार वर्मा।	ब्रजी
३२. सोलहवीं शती ई० का उत्तरार्द्ध	—	सुदामाचरित्र	खुसाल	,,	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।	,,
३३. ,,	—	रुक्मिणी मंगल	नरहरि	मुद्रित	'अकबरी दरबार के हिन्दी कवि' डॉ० सरयूप्रसाद अग्रवाल में सम्पूर्ण उद्धृत।	,,
३४. १५५६ ई०-१६०५ ई०	—	सुदामाचरित्र	गंग	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	,,
३५. १५७५ ई०-१६४६ ई०	—	रुक्मिणीहरण	साँयाजी	,,	राजस्थानी भाषा और साहित्य; मेनारिया।	डिंगल
३६. ,,	—	नागदमण	,,	,,	,,	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
३७. १६०० ई० के आसपास	—	प्रह्लादचरित्र	गोपाल	,,	पटना विश्वविद्यालय, पुस्तकालय	ब्रजी
३८. ,,	—	भरथरी चरित्र	,,	,,	नागरी प्रचारिणी, सभा	,,
३९. ,,	—	उषा-अनिरुद्ध-विवाह	,,	,,	खोज विवरण, सभा	,,
४०. १६०५ ई०-१६२७ ई०	—	भंवरगीत	मुकुंददास	,,	'भ्रंमरगीत काव्य और उसकी परम्परा', डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव ।	,,
४१. १६१२ ई०	—	रुक्मिणी मंगल	पदमैया	,,	खोज विवरण, सभा	,,
४२. १६१४ ई० के आसपास	—	दानलीला	रसखान	,,	प्रयाग संग्रहालय, प्रयाग	,,
४३. १६२३ ई०	—	गोरा-बादल की कथा	जटमल	मुद्रित	तरुण भारत ग्रंथावली, दारागंज प्रयाग ।	राजस्थानी
४४. १६२३ ई० के आसपास	—	रुक्मिणी मंगल	हीरामणि	अमुद्रित	ना० प्र० सभा	ब्रजी
४५. १६०५ ई०-१६२७ ई०	—	भंवरगीत	मुकुंददास	,,	भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव ।	,,
४६. १६२८ ई० के आसपास	—	दानलीला	खरगसेन	,,	मिश्रबंधु विनोद	,,
४७. १६३० ई० के आसपास	—	रासपंचाध्यायी	दामोदर स्वामी	,,	,,	,,
४८. १६३५ ई०	—	रुक्मिणी विवाहलो	कृष्णदास गिरिधर	,,	खोज विवरण, सभा	,,
४९. १६४७ ई०	—	रुक्मिणी मंगल	हीरालाल	,,	मिश्रबंधु विनोद	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
५०. सत्रहवीं शताब्दी ई० का पूर्वार्द्ध	—	दानलीला	ध्रुवदास	अमुद्रित	मिश्रबंधु विनोद	ब्रजी
५१. १६५० ई०	—	माधवानल नाटक	कविकेस	,,	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	,,
५२. १६५६ ई० के आसपास	—	जानकी जू को ब्याह	मंडन	,,	हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल ।	,,
५३. १६६२ ई०	—	रुक्मिणी मंगल	मेहरचंद	,,	नागरी प्रचारिणी, सभा	,,
५४. १६७८ ई०	—	सुदामाचरित	मीरमाधो	,,	खोज विवरण, सभा	,,
५५. १६७८ ई० के आसपास	—	भमरागीत	महमद	,,	राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर ।	,,
५६. १६७६ ई०	—	चेतनचरित्र	भैया भगवतीदास	मुद्रित	लखनऊ	खड़ीबोली
५७. १६८३ ई०	—	दानविलास	विचित्र कवि	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	,,
५८. १६८५ ई० के आसपास	—	उषा हरण	देवीदास	,,	,,	राजस्थानी
५९. १६९२ ई० के आसपास	—	दानलीला	चरणदास	,,	नागरी प्रचारिणी सभा	ब्रजी
६०. १६९४ ई०	—	पंचइंद्रिनी चौपाई	भैया भगवतीदास	,,	जैन सिद्धांत भवन, आरा	,,
६१. १६९८ ई०	—	मधुबिंदु की चौपाई	,,	,,	,,	,,
६२. ,,	—	शत अष्टोत्तरी	,,	,,	,,	,,
६३. ,,	—	रासपंचाध्यायी	गोपालदास	,,	हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, ग्रियर्सन ।	,,
६४. १६९९ ई०	—	सुदामाचरित्र	भूधरदास	,,	खोजविवरण, सभा	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
६५. १६४३ ई०-१७३५ ई०	—	महाभारत चक्रव्यूह	सबलसिंह	अमुद्रित	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।	अवधी
६६. १६९९ ई०-१७६४ ई०	—	रास सरलता	नागरीदास	,,	खोज विवरण, सभा	,,
६७. १७०२ ई० के आसपास	—	सुदामाचरित्र	माखन	,,	हि० सा० का बृहत् इतिहास, ना० प्र० सभा।	ब्रजी
६८. १७१२ ई०	—	जंगनामा	श्रीधर मुरलीधर	मुद्रित	ना० प्र० सभा।	,,
६९. १७२५ ई० के आसपास	—	सुदामाचरित्र	खंडन	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	,,
७०. १७२५ ई०	—	विरह विलास	रसनायक	,,	'भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा', डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव।	,,
७१. १७२५ ई०	—	ध्रुवचरित्र	मधुकर दास	,,	खोज विवरण, सभा	,,
७२. १७३२ ई० के आसपास	—	प्रह्लादचरित्र	सहजराम	,,	,,	अवधी
७३. १७३७ ई० के आसपास	—	साँभर युद्ध	श्रीकृष्णभट्ट	,,	हिन्दी साहित्य, डॉ० धीरेंद्र वर्मा।	,,
७४. ,,	—	जाजव युद्ध	,,	,,	,,	,,
७५. १७४० ई० के आसपास	—	रासा भगिवंतसिंह	सदानंद	,,	ना० प्र० सभा	ब्रजी
७६. १७४० ई०	—	उषा-अनिरुद्ध की कथा	भारथशाह	,,	खोज विवरण, सभा	,,
७७. १७४१ ई०	—	सुदामाचरित्र	वीर बाजपेयी	मुद्रित	नवल किशोर प्रेस, लखनऊ	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
७८. १७४३ ई० के आसपास	—	सनेह लाला	मुकुंददास	अमुद्रित	१. ना० प्र० सभा २. श्री चैतन्य पुस्तकालय, पटना सिटी।	ब्रजी
७९. १७४७ ई० के आसपास	—	प्रतीति परीक्षा	बालकृष्ण	,,	ना० प्र० सभा	,,
८०. १७४९ ई०	—	ध्रुवचरित्र	गोपाल	,,	पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय	,,
८१. १७५० ई० के पूर्व	—	प्रह्लाद लीला	रामदास	,,	खोज विवरण, सभा	,,
८२. ,,	—	उषा चरित्र	,,	,,	हिन्दी विद्यापीठ, आगरा	,,
८३. १७५० ई०	—	कंदर्पीघाट की लड़ाई	लाल झा	,,	मिश्रबंधु विनोद	,,
८४. १७५३ ई० के आसपास	—	रुक्मिणी मंगल	हितराम कृष्ण	,,	,,	,,
८५. ,,	—	रासपंचाध्यायी	,,	,,	,,	,,
८६. १७५४ ई०	—	विरह विलास	बख्शी हंसराज	,,	ना० प्र० सभा	,,
८७. १७५५ ई०	—	ध्रुवचरित्र	सोमनाथ	,,	खोज विवरण, सभा	,,
८८. १७५६ ई०	—	जानकी विजय	प्रसिद्ध	,,	,,	अवधी
८९. १७५८ ई०	—	सुदामाचरित्र	जेठमल	,,	श्री अगरचंद नाहटा	ब्रजी
९०. १७६० ई०	—	शिव विवाह	लखपति	,,	राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, भाग ४।	,,
९१. १७६३ ई०-१७८८ ई०	—	सुदामाचरित्र	अमरसिंह	,,	मिश्रबंधु विनोद	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
९२. १७६५ ई० के पूर्व	—	भ्रमरगीत	प्राणनि	अमुद्रित	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।	ब्रजी
९३. १७६५ ई०	—	करुणा विरह प्रकाश	सेवादास	,,	खोज विवरण, सभा	,,
९४. १७६७ ई०	—	करहिया को रायसौ	गुलाब	,,	'हिन्दी साहित्य', डॉ० धीरेंद्र वर्मा।	,,
९५. १७७० ई०	—	प्रेमसागर	प्रेमदास	,,	खोज विवरण, सभा	,,
९६. १७७३ ई०	—	अद्भुत रामायण	शिवप्रसाद	,,	खोज विवरण, सभा	अवधी
९७. १७७४ ई०	—	उषा चरित्र	कुंजमणि	,,	ना० प्र० सभा	ब्रजी
९८. १७७७ ई०	—	रुक्मिणी मंगल	विष्णुदास	,,	अनूप संस्कृत पुस्तकालय	,,
९९. १७८२ ई०	—	,,	हीरालाल	,,	खोज विवरण, सभा	,,
१००. १७८३ ई०	—	दानलीला	आनंद	,,	ना० प्र० सभा	,,
१०१. १७८६ ई०	—	अद्भुत रामायण	रामजी भट्ट	,,	खोज विवरण, सभा	अवधी
१०२. —	१७८६ ई०	शिव विवाह	दयाराम	,,	हिन्दी विद्यापीठ, आगरा	ब्रजी
१०३. १७८६ ई०	—	नेमि नाथ जी के कवित्त	झुनकलाल	,,	बाबू कामताप्रसाद जैन, अलीगंज एटा।	अवधी
१०४. १७८७ ई० के आसपास	—	भ्रमरगीत	चाचाहितवृंदावनदास	,,	मिश्रबंधु विनोद	ब्रजी
१०५. १७८७ ई०	—	प्रेमरत्न	रत्नदास	,,	खोज विवरण, सभा	मिश्रित
१०६. १७८८ ई० के आसपास	—	जोगलीला	उदय	,,	ना० प्र० सभा	ब्रजी
१०७. ,,	—	कृष्ण परीक्षा	,,	,,	,,	,,

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
१०८. १७८८ ई० के आसपास	—	चीरहरणलीला	उदय	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	ब्रजी
१०९. ,,	—	चीरचिंतामणि	,,	,,	,,	,,
११०. ,,	—	गिरवरधर लीला	,,	,,	,,	,,
१११ १७६१ ई०	—	प्रह्लाद चरित्र	सोकीदास	,,	,,	अवधी
११२. १७६३ ई०	—	चक्रव्यूह	प्राणनाथ	,,	,,	,,
११३. १७६३ ई० के आसपास	—	बभ्रुवाहन	प्राणनाथ	,,	ना० प्र० सभा	,,
११४. १७६५ ई०	—	रामकरुणा नाटक	उदय	,,	ना० प्र० सभा	ब्रजी
११५. ,,	—	दानलीला	,,	,,	खोज विवरण, सभा	,,
११६. १७६६ ई०	—	नायक रासो	दुर्गाप्रसाद	,,	हिन्दी साहित्य, डॉ० धीरेंद्र वर्मा	,,
११७. ,,	—	रासा भैया बहादुर सिंह	शिवनाथ	,,	खोज विवरण, सभा	,,
११८. १७६६ ई० के आसपास	—	रायसा	,,	,,	हिन्दी साहित्य, डॉ० धीरेंद्र वर्मा	,,
११९. १७६८ ई०	—	दानलीला	रामदत्त	,,	खोज विवरण, सभा	,,
१२०. ,,	—	सुदामाचरित्र	गोपाल	,,	ना० प्र० सभा	,,
१२१. १७६८ ई० के आसपास	—	हिम्मत बहादुर विरुदावली	पद्माकर	मुद्रित	१. पद्माकर ग्रंथावली, ना० प्र० सभा। २. सं० भगवानदीन, ना० प्र० सभा।	,,
१२२. १७४३ ई०-१८०३ ई०	—	रुक्मिणी मंगल	ठाकुरदास	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	

रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
१२३. १७४४ ई०-१८२५ ई०	—	भ्रमरगीत	सुखसागर	अमुद्रित	मिश्रबंधु विनोद	ब्रजी
१२४. १८०० ई०	—	अद्भुत रामायण	भवानीलाल	,,	ना० प्र० सभा	अवधी
१२५. अठारहवीं शती का अंत	—	अद्भुत रामायण	बेनीराम	,,	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।	,,
१२६. १८०१ ई० के आसपास	—	सुदामा चरित्र	प्राणनाथ	,,	खोज विवरण, सभा	,,
१२७. १८०२ ई०	—	उषा अनिरुद्ध विवाह	रामचरण	,,	,,	,,
१२८. १८०३ ई०	—	सीता-राम विवाह	मन	,,	मिश्रबंधु विनोद	,,
१२९. १८०३ ई०	—	नागलीला	गंगाधर	,,	खोज विवरण, सभा	खड़ीबोली
१३०. —	१८०५ ई०	रुक्मिणी मंगल	रामलला	,,	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना।	ब्रजी
१३१. —	,,	रासलीला	हरिदास	,,	,,	,,
१३२. १८०८ ई० के आसपास	—	पार्वती स्वयम्वर	मच्छूलाल	,,	आइना तिरहुत, बिहारीलाल	,,
१३३. ,,	—	रुक्मिणी स्वयम्वर	,,	,,	,,	,,
१३४. १८१५ ई० के आसपास	—	दानलीला	मानदास	,,	मिश्रबंधु विनोद	,,
१३५. १८१६ ई०-१८३३ ई०	—	रासपंचाध्यायी	नवलसिंह	,,	,,	,,
१३६. १८१७ ई०	—	सीता मंगल	प्रियादास महाराजा	,,	,,	,,
१३७. १८१७ ई० के आसपास	—	दानलीला	,,	,,	,,	,,
१३८. १८२३ ई०	—	श्रीनेमिनाथ चंद्रिका	मनरंगलाल	,,	जैन सिद्धांत भवन, आरा	,,
१३९. ,,	—	प्रह्लाद चरित्र	देवसिंह	,,	खोज विवरण, सभा	अवधी
१४०. १८२४ ई०	—	हम्मीर हठ	ग्वाल	,,	,,	,,

	रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
१४१.	—	१८२४ ई०	दानलीला	गिरिजेंद्र	अमुद्रित	१. बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पटना। २. खोज विवरण, सभा	ब्रजी
१४२.	—	१८२८ ई०	रासपंचाध्यायी	वंशीअली	,,	राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।	,,
१४३.	१८२८ ई०-१८४७ ई०	—	दानलीला	वृषभानु कुँवरि बाई	,,	'मध्यकालीन हिन्दी कवयित्रियाँ', डॉ० सावित्री सिनहा।	,,
१४४.	१८२९ ई०	—	उषाहरण	जीवनलाल नागर	,,	हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग	,,
१४५.	१८३० ई० के पूर्व	—	रासपंचाध्यायी	कृष्णदेव	,,	मिश्रबंधु विनोद	,,
१४६.	१८३१ ई०	—	सीतास्वयम्वर	नवलसिंह	,,	रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, डॉ० भगवतीप्रसाद सिंह।	,,
१४७.	१८३२ ई०	—	रासपंचाध्यायी	रसानंद	,,	ना० प्र० सभा	,,
१४८.	—	१८३३ ई०	सुदामाचरित्र	बालकदास फकीर	,,	खोज विवरण, सभा	अवधी
१४९.	१८३४ ई०	—	अद्भुत रामायण	नवलसिंह	,,	,,	,
१५०.	,,	—	जानकी विजय	बलदेवदास	,,	,,	,,
१५१.	,,	—	दानलीला	श्यामलाल	,,	,,	ब्रजी
१५२.	१८३६ ई०	—	हनुमान नाटक	उदय	,,	ना० प्र० सभा	,,
१५३.	—	१८३९ ई०	उषा कथा	लालदास	,,	खोज विवरण, सभा	,,
१५४.	१८४० ई०	—	अहिरावण लीला	उदय	,,	ना० प्र० सभा	,,
१५५.	—	१८४० ई०	नरसी मेहता माहेरो	मीरादास	,,	,,	,,

	रचनाकाल	लिपिकाल	पुस्तक का नाम	लेखक का नाम	मुद्रित/अमुद्रित	प्रकाशक/प्राप्ति-स्थान	भाषा
१५६.	१८४४ ई०	—	ध्रुवलीला	सुंदर ब्राह्मण	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	ब्रजी
१५७.	१८४४ ई० के आसपास	—	ऊषा लीला	,,	,,	,,	,,
१५८.	१८४५ ई०	—	हम्मीर हठ	चन्द्रशेखर वाजपेयी	मुद्रित	१. ना० प्र० सभा, वाराणसी ।	,,
						२. लहरी बुक डिपो, बनारस सिटी ।	,,
१५९.	—	१८४६ ई०	उषाहरण	प्रेमानंद	अमुद्रित	राजस्थान प्राच्यविद्या, प्रतिष्ठान, जोधपुर ।	,,
१६०.	—	१८४७ ई०	सनेहलीला	मनोहरदास	,,	,,	,,
१६१.	१८५० ई० के पूर्व	—	उषाचरित्र	पहार कवि	,,	खोज विवरण, सभा	अवधी
१६२.	१८५० ई०	—	रुक्मिणी परिणय	रघुराजसिंह	मुद्रित	लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बंबई।	ब्रजी
१६३.	—	१८५३ ई०	पंचाध्यायी	कृष्णदास	अमुद्रित	खोज विवरण, सभा	,,
१६४.	उनीसवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध	—	सुदामाचरित्र	वंशमणि	,,	बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना ।	,,

परिशिष्ट—ख

आकर-साहित्य-सूची

(क) सामान्य

(संस्कृत)

१. अद्‌भुत रामायण, वाल्मीकि, श्री वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई।
२. अध्यात्म रामायण, गीताप्रेस, गोरखपुर।
३. अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, सं० रामलाल वर्मा, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली, प्रथम संस्करण।
४. काव्यप्रकाश, व्याख्याकार डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, बनारस, १९५५।
५. काव्यमीमांसा, टी० केदारनाथ शर्मा, सारस्वत, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण।
६. काव्यानुशासन, हेमचंद्र, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, १९०१।
७. काव्यालंकार, रुद्रट, निर्णय सागर प्रेस, बम्बई, तृतीय संस्करण।
८. काव्यादर्श, दंडी, टी० रणवीर सिंह, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली।
९. कुमारसम्भव, कालिदास, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, तेरहवाँ संस्करण।
१०. गीतगोविंद।
११. ध्वन्यालोक, आनंदवर्द्धन, टी० आचार्य विश्वेश्वर, गौतम बुक डिपो, दिल्ली, प्रथम संस्करण।
१२. पद्म पुराण, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई।
१३. प्रसन्नराघव नाटक।
१४. ब्रह्मवैवर्त पुराण, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई।
१५. महाभारत, सं० रामचंद्र शास्त्री, पूना।
१६ विष्णुपुराण, गीताप्रेस, गोरखपुर।
१७. शिवपुराण।
१८. श्रीमद्वाल्मीकि रामायण, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।
१९. श्रीमद्भागवत महापुराण, गीता प्रेस, गोरखपुर।
२०. साहित्यदर्पण, व्याख्याकार, डा० सत्यव्रत सिंह, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी १९५७।
२१. साहित्यदर्पण, टी० शालग्राम शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, द्वितीय संस्करण।
२२. हनुमन्नाटक।

(अँगरेजी)

1. A Hand book of Literary Terms, London, 1950.
2. A Short Hand book of Literary Terms, George G. Loane, London, 1923.
3. A History of Indian Literature, Winternitz.
4. A Syllabus of Poetics, Henry Stephen, University of Calcutta, 1927.
5. Akbarnama.
6. An Introduction to the Study of Literature, Hudson, London, Second Edition.
7. An Indian Ephemeris, L.D. Swami Kannu Pillai, Madras, 1922.
8. Bihar Through The Age, R. R. Diwakara, Orient Longmans, 1958.
9. Cambridge History of India, Part IV.
10. Dictionary of World Literature, Shipley New York, 1943.
11. English Epic and Heroic Poetry, Dixon, London, 1912.
12. Encyclopaedia Britannica.
13. Epic and Romance, W.P. Ker, London, 1922.
14. The Making of Literature, Scott James, London, 1953.
15. The Concise Oxford Dictionary of English Literature, Oxford, 1939.
16. The Sahitya Darpana of Vishwanath, P. V. Kane, Bombay, Second Edition.
17. Veli Krishana Rukmini Ri, Ed. Dr. L. P. Tessitory, Calcutta, 1919.

(उर्दू)

१. आइना तिरहुत या तवारिखुल फितरत, बिहारीलाल फितरत, १८८० ।

(हिन्दी)

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय, डा० दीनदयालु गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग सं० २००४ ।
२. अकबरी दरबार के हिन्दी कवि, डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण ।
३. अरस्तु का काव्यशास्त्र, अनु० डा० नगेंद्र और महेंद्र चतुर्वेदी, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली, प्रथम संस्करण ।
४. अजातिक, रामसंजीवन सिंह, प्रबोध प्रकाशन, रसलपुर, जिलानी, मुजफ्फरपुर ।
५. अनामिका, सूर्यकांत त्रिपाठी, 'निराला', भारती भंडार, लीडर प्रेस, प्रयाग, द्वितीय संस्करण ।
६. ईश्वरदास कृत सत्यवती कथा तथा अन्य कृतियाँ, सं० डा० शिवगोपाल मिश्र और रावत ओमप्रकाश सिंह, विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर, प्रथम संस्करण ।
७. काव्यरूपों के मूल स्रोत और उनका विकास, डा० शकुन्तला दूबे, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण ।

८. काव्य के रूप, गुलाबराय, प्रतिभा प्रकाशन, दिल्ली, द्वितीय संस्करण।
९. काव्यशास्त्र, डा० भगीरथ मिश्र, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, प्रथम संस्करण।
१०. कुरुक्षेत्र, रामधारीसिंह दिनकर उदयाचल, पटना, चतुर्थ संस्करण।
११. कृष्ण काव्य की परम्परा, सत्यनारायण पांडेय, हिन्दुस्तानी बुक डिपो, लखनऊ।
१२. कविता कौमुदी, प्रथम भाग, रामनरेश त्रिपाठी, नवनीत प्रकाशन, बम्बई, आठवाँ संस्करण।
१३. गुप्त जी की काव्य साधना, डा० उमाकांत, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी सड़क, दिल्ली, प्रथम संस्करण।
१४. गोस्वामी तुलसीदास, रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, षष्ठ संस्करण।
१५. छिताई वार्ता, सं० माताप्रसाद गुप्त, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण।
१६. जय भारत, मैथिलीशरण गुप्त, चिरगाँव झाँसी, द्वितीय संस्करण।
१७. जैन साहित्य और इतिहास, नाथूराम प्रेमी, संशोधित साहित्य माला, ठाकुर द्वार, बम्बई, द्वितीय संस्करण।
१८. जयंती स्मारक ग्रंथ सं० शिवपूजन सहाय, विद्यापति हिन्दी सभा, दरभंगा।
१९. जायसी ग्रंथावली, रामचन्द्र शुक्ल, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, चतुर्थ संस्करण।
२०. डिंगल में वीर रस, मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग चतुर्थ संस्करण।
२१. तुलसीदास, चंद्रबली पांडेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, संशोधित और परिवर्द्धित संस्करण।
२२. तुलसीदास, डा० माताप्रसाद गुप्त, प्रयाग विश्वविद्यालय, हिन्दी परिषद्, सन् १९४२ ई०।
२३. तुलसी ग्रंथावली, भाग १, खंड २, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग।
२४. दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता।
२५. पद्मावत, व्याख्याकार डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य सदन, चिरगाँव झाँसी, प्रथम संस्करण।
२६. प्रद्युम्नचरित, सं० चैनसुखदास, कस्तूरचंद कासलीवाल, दि० जैन अ० क्षेत्र महावीर जी, जयपुर, प्रथम संस्करण।
२७. प्रसाद का काव्य, डा० प्रेमशंकर, भारती भंडार, लीडर प्रेस, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।
२८. प्रामाणिक हिन्दी शब्द कोश, रामचंद्र वर्मा, बनारस, पहला संस्करण।
२९. भक्तमाल।
३०. भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, सं० डा० नगेंद्र, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नयी सड़क, दिल्ली।

३१. भारतीय काव्यशास्त्र की भूमिका, डा० नगेंद्र, ओरियंटल बुक डिपो, नयी सड़क, दिल्ली।

३२. भारतीय साहित्य शास्त्र, बलदेव उपाध्याय प्रसाद, परिषद्, काशी, प्रथम संस्करण।

३३. भारतीय प्रेमाख्यान की परम्परा, परशुराम चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

३४. मध्यकालीन, हिन्दी कवयित्रियाँ, डा० सावित्री सिन्हा, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली, प्रथम संस्करण।

३५. मंझन-कृत मधुमालती, सं० डा० शिवगोपाल मिश्र, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

३६. मध्यकालीन धर्म साधना, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।

३७. माधवानल कामकंदला, प्रबंध, सं० एम० आर० मजूमदार, गायकवाड़ ओरियंटल सिरीज।

३८. मिश्रबंधु विनोद, तृतीय भाग, हिन्दी ग्रंथ प्रसारक, खंडवा व प्रयाग, प्रथम संस्करण।

३९. मिश्रबंधु विनोद, प्रथम भाग, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, द्वितीय संस्करण।

४०. मिश्रबंधु विनोद, द्वितीय भाग, गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ, द्वितीय संस्करण।

४१. मीराबाई की पदावली, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

४२. मीरां-बृहत् पद संग्रह, सं० पद्मावती 'शबनम', लोकसेवक प्रकाशन बनारस, प्रथम संस्करण।

४३. मीरां-माधुरी, सं० ब्रजरत्नदास, हिन्दी साहित्य कुटीर, काशी, २००५ वि०।

४४. राम-कथा, डा० कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, प्रथम संस्करण।

४५. रामचरितमानस, सं० शम्भुनाथ चौबे, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण।

४६ रामभक्ति में रसिक सम्प्रदाय, डा० भगवतीप्रसाद सिंह, अवध साहित्य मंदिर, बलरामपुर (गोंडा) प्रथम संस्करण।

४७. राजस्थानी भाषा और साहित्य, मोतीलाल मेनारिया, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण।

४८. रास और रासान्वयी काव्य, डा० दशरथ ओझा और डा० दशरथ शर्मा, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण।

४९. रैदास की बानी।

५०. वनफूल, रामसंजीवन सिंह, पाटलिपुत्र प्रबोध प्रकाशन, सहनपुर, चाईटोला, पटना-४, द्वितीय संस्करण।

५१. वाङ्मय विमर्श, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस, प्रथम संस्करण।

५२. श्री गोस्वामी तुलसीदास जी का जीवन चरित्र, शिवनंदन सहाय, बिहार स्टोर, आरा, प्रथम संस्करण।
५३. शिवसिंह सरोज, मुंशी नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, चौथा संस्करण।
५४. शकुन्तला नाटक, सं० नर्मदेश्वर चतुर्वेदी, परिमल प्रकाशन, प्रयाग-२, प्रथम संस्करण।
५५. संस्कृत साहित्य का इतिहास, सेठ कन्हैयालाल पोद्दार, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण।
५६. संस्कृत आलोचना, बलदेव उपाध्याय, सूचना विभाग, उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण।
५७. संतबानी संग्रह।
५८. संक्षिप्त रामस्वयम्वर, सं० ब्रजरत्नदास, प्रचारणी सभा काशी।
५९. समय सुन्दर, कृति-कुसुमांजलि, स० अगरचंद नाहटा तथा भँवरलाल नाहटा, नाहटा ब्रदर्स, कलकत्ता-७, प्रथम संस्करण।
६०. साहित्य का इतिहास-दर्शन, नलिनविलोचन शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण।
६१. साहित्यशास्त्र का पारिभाषिक शब्दकोष, राजेंद्र द्विवेदी, आत्माराम एँड संस, दिल्ली, १९५५।
६२. साहित्यलोचन, डा० श्यामसुंदरदास, इंडियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, २००८।
६३. सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, डा० शिवप्रसाद सिंह, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
६४. सूरसागर, सं० नंददुलारे वाजपेयी, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण।
६५. हम्मीर-हठ, जोधराज, सं० श्यामसुन्दरदास, नागरी, प्रचारणी सभा, काशी।
६६. हिन्दी साहित्य का इतिहास, श्यामसुन्दरदास, इण्डियन प्रेस लिमिटेड, प्रयाग, पंचम संस्करण।
६७. हिन्दी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, षष्ठ संस्करण।
६८ हिन्दी साहित्य की भूमिका, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, हिन्दी रत्नाकर कार्यालय बम्बई, पंचम संस्करण।
६९. हिन्दी काव्य की भक्तिकालीन प्रवृत्तियाँ और उनके मूल स्रोत, सत्यदेव चतुर्वेदी, हिन्दी साहित्य सृजन परिषद् जौनपुर।
७०. हिन्दी काव्यधारा, राहुलसांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण।
७१. हिन्दी साहित्य का अतीत, विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
७२. हिन्दी विद्यापीठ ग्रंथवीथिका, आगरा विश्वविद्यालय, सन् १९५६ ई०।
७३. हिन्दी में उच्चतर साहित्य, सं० राजबली पांडेय, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
७४. हिन्दी साहित्य और बिहार, प्रथम खंड, सं० शिवपूजन सहाय, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, प्रथम संस्करण।

७५. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डा० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, द्वितीय संस्करण ।

७६. हिन्दी साहित्य (द्वितीय खंड) सं० डा० धीरेंद्र वर्मा, तथा डा० ब्रजेश्वर वर्मा, भारतीय हिन्दी परिषद्, प्रयाग, संस्करण ।

७७. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, कामताप्रसाद जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, प्रथम संस्करण ।

७८. हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास, (ग्रियर्सन), अनु० किशोरीलाल गुप्त, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण ।

७९. हिन्दी साहित्य, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, अतरचंद कपूर ऐंड संस, १९५५ ।

८०. हिन्दी काव्यशास्त्र का इतिहास, डा० भगीरथ मिश्र, लखनऊ विश्वविद्यालय, प्रथम संस्करण ।

८१. हिन्दी साहित्य का आदिकाल, डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, द्वितीय संस्करण ।

८२. हिन्दी काव्य शैलियों का विकास, डा० हरदेव बाहरी, भारतीय प्रेस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

८३. हिन्दी काव्य पर आंग्ल प्रभाव, डा० रवींद्र सहाय वर्मा, पद्मजा प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण ।

८४. हिन्दी कहानियों की शिल्पविधि का विकास, डा० लक्ष्मीनारायण लाल, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

८५. हिन्दी साहित्य पर संस्कृत साहित्य का प्रभाव, डा० सरनामसिंह शर्मा, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण ।

८६. हिन्दी में भ्रमरगीत काव्य और उसकी परम्परा, डा० स्नेहलता श्रीवास्तव, हिन्दी अनुसंधान परिषद्, दिल्ली ।

८७. हिन्दी प्रेमाख्यानक काव्य, डा० कमल कुलश्रेष्ठ, चौधरी मानसिंह प्रकाशन, कचहरी रोड, अजमेर, प्रथम संस्करण ।

८८. हिन्दी के मुसलमान कवियों का प्रेम काव्य, गुरुदेवप्रसाद वर्मा, हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी, प्रथम संस्करण ।

८९. हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, नामवरसिंह, साहित्य भवन लिमिटेड, इलाहाबाद, नवीन संस्करण, १९५४ ई० ।

९०. हिन्दी पुस्तक-साहित्य, डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९४५ ई० ।

९१. हिन्दी विश्वकोश, नगेंद्रनाथ बसु, कलकत्ता, १९३० ।

९२. हिन्दी विश्वकोश, प्रथम खंड, नागरी प्रचारणी सभा ।

९३. हिन्दी साहित्य कोश, डा० धीरेंद्र वर्मा, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी, प्रथम संस्करण ।

(ख) विशेष

मुद्रित पुस्तकें

१. कविश्रीधरकृत जंगनामा, सं० राधाकृष्णदास और किशोरीलाल गोस्वामी, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी ।

२. गोरा बादल की कथा, सं० अयोध्याप्रसाद शर्मा विशारद, तरुण भारत ग्रंथावली कार्यालय, दारागंज, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
३. चेतनचरित्र भाषा, भैया भागवतीदास, लखनऊ, प्रथम संस्करण।
४. ढोला-मारुरा दूहा, सं० रामसिंह सूर्यकरण पारीक, और नरोत्तम स्वामी, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, प्रथम संस्करण।
५. तुलसी ग्रंथावली, दूसरा खंड, सं० रामचंद्र शुक्ल, भगवानदीन और ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारणी सभा, २०१५ वि०।
६. नंददास ग्रंथावली, सं० ब्रजरत्नदास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण।
७. पद्माकर ग्रंथावली, सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, नागरी प्रचारणी सभा, वाराणसी, प्रथम संस्करण।
८. पार्वती मंगल, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, तृतीय संस्करण।
९. प्राचीन गुर्जर काव्य, सं० रा० व० केशवलाल हर्षदराय ध्रुव, बी० ए०, गुजरात वर्नाक्युलर सोसाइटी, अहमदाबाद, प्रथम संस्करण।
१०. बीसलदेव रासो, सं० सत्यजीवन वर्मा, नागरी प्रचारणी सभा, काशी, तृतीय संस्करण।
११. बीसलदेव रास, सं० डा० माताप्रसाद गुप्त, हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग, द्वितीय संस्करण।
१२. भरत विलाप, ईश्वरदास, कलकत्ता, सन् १३०६।
१३. महाकवि नंददास कृत भँवरगीत, सं० प्रेमनारायण टंडन, विद्यामंदिर, रानी कटरा, लखनऊ, द्वितीय संस्करण।
१४. रास पंचाध्यायी और भँवरगीत, भारतमित्र प्रेस, कलकत्ता।
१५. रुक्मिणी परिणय, महाराज रघुराजसिंह, लक्ष्मी वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस, बम्बई।
१६. वेलि क्रिसन रुक्मिणी री, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, प्रथम संस्करण।
१७. संदेश रासक, सं० डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी तथा विश्वनाथ त्रिपाठी, हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर लिमिटेड, बम्बई, प्रथम संस्करण।
१८. साधन कृत मैनासत, सं० हरिहरनिवास द्विवेदी, विद्यामंदिर प्रकाशन, ग्वालियर, प्रथम संस्करण।
१९. सुदामा चरित्र (नरोत्तमदास) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, वाणी वितान प्रकाशन, ब्रह्मनाल, वाराणसी, परिशोधित संस्करण, २०१७।
२०. सुदामाचरित्र (नरोत्तमदास) सं० फूलचंद्र जैन सारंग विनोद पुस्तक मंदिर, आगरा, प्रथम संस्करण।
२१. सुदामाचरित्र (नरोत्तमदास) सं० ललिताप्रसाद शुक्ल, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण।
२२. सुदामाचरित्र, वीर वाजपेयी, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, द्वितीय संस्करण।
२३. सुदामाचरित्र, हलधरदास, कलकत्ता, १८९२।

२४. सुदामाचरित्र, हलधरदास, बनारस।
२५. सुदामाचरित्र, हलधरदास, खड्गविलास प्रेस, पटना।
२६. हम्मीर-हठ (चंद्रशेखर) सं० जगन्नाथदास रत्नाकर, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, द्वितीय संस्करण।
२७. हम्मीर-हठ, (चंद्रशेखर) सं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र, लहरी बुक डिपो, बनारस सिटी, तृतीय संस्करण।
२८. हिम्मतबहादुर विरुदावली, (पद्माकर) सं० भगवानदीन, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १६०८।

(हस्तलिखित पुस्तकें)

१. अद्भुत रामायण, भवानीलाल, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
२. अहिरावणलीला, उदय, वही।
३. उषाहरण, जीवनलाल नागर, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
४. उषाचरित्र, परशुराम, वही।
५. उषाचरित्र, रामदास, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा।
६. उषाचरित्र, कुंजदास, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
७. करुणा नाटक, उदय, वही।
८. कालीदमन लीला, सूरदास, वही।
९. कृष्ण परीक्षा, उदय, वही।
१०. गेंदलीला, प्रेमदास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
११. गोवर्द्धन लीला, सूरदास, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
१२. गोपालगारी, तुलसीदास, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
१३ जोगलीला, उदय, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
१४. दानलीला, कृष्णदास, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
१५. दानलीला, आनंद, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
१६. दानलीला, माधुरीदास, वही।
१७. दानलीला, कुम्भनदास, वही।
१८. दानलीला, चरणदास, वही।
१९. ध्रुवचरित्र, जनगोपाल, पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय।
२०. नलचरित्र, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
२१. प्रतीति परीक्षा, बालकृष्ण, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
२२. पंचइंद्रिनी चौपई, भगवतीदास, जैन सिद्धांत भवन, आरा।
२३. प्रह्लादचरित्र, जनगोपाल, पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय।
२४. प्रह्लादचरित्र, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
२५. बभ्रुवाहन, जनप्राणनाथ, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
२६. भरथरीचरित्र, जनगोपाल, वही।
२७. भरत विलाप, तुलसीदास, बिहार, राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
२८. भरत विलाप, ईश्वरदास, वही।

२९. भ्रमरगीत, प्रागनि, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३०. मधुबिंदु की चौपई, भगवतीदास, जैन सिद्धांत भवन, आरा।
३१. महाभारत, चक्रव्यूह, सबलसिंह चौहान, बिहार, राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
३२. माधवानल कामकंदला, आलम, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
३३. माधवानल कामकंदला रस विलास, गोविंदचंद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
३४. माधवानल नाटक, कविकेस, वही।
३५. रास पंचाध्यायी, रसानंद, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
३६. रासलीला, हरिदास, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
३७. रासा भगिवंतसिंह, सदानंद, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
३८. रुक्मिणी मंगल, विष्णुदास, वही।
३९. रुक्मिणी मंगल, हीरामणि, वही।
४०. रुक्मिणी मंगल, मेहरचंद, वही।
४१. रुक्मिणी मंगल, रामलला, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
४२. शत अष्टोतरी, भगवतीदास, जैन सिद्धांत भवन, आरा।
४३. शकुन्तला नाटक, नेवाज, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
४४, शिव विवाह, दयाराम, हिन्दी विद्यापीठ, आगरा।
४५. श्री नेमिनाथ चंद्रिका, मनरंगलाल, जैन सिद्धांत भवन, आरा।
४६. सनेह लीला, जनमोहन, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
४७. सनेह लीला, हरिराय, वही।
४८. सुदामाचरित्र आलम, वही।
४९. सुदामाचरित्र, गोपाल, वही।
५०. सुदामाचरित्र, वंशमणि, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
५१. सुदामाचरित्र, हलधरदास, मन्नूलाल पुस्तकालय, गया, बि० रा० भा०, पटना, ना० प्र० सभा, वाराणसी, आदि
५२. हनुमान नाटक, उदय, ना० प्र० सभा, वाराणसी।

(ग) अप्रकाशित शोध-प्रबंध

१. आदिकाल का हिन्दी जैन साहित्य, हरिशंकर शर्मा 'हरीश', प्रयाग विश्वविद्यालय।
२. पंद्रहवी शताब्दी से सत्रहवीं शताब्दी तक हिन्दी साहित्य के काव्यरूपों का अध्ययन, रामबाबू शर्मा, आगरा विश्वविद्यालय, १९५९ ई०।

(घ) खोज विवरण

१. खोज विवरण, नागरी प्रचारिणी सभा।
२. प्रशस्ति संग्रह, दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी, जयपुर।
३. प्राचीन हस्तलिखित पोथियों का विवरण, बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
४. राजस्थानी हस्तलिखित ग्रंथ सूची, राजस्थान प्राच्य विद्या प्रतिष्ठान, जोधपुर।
५. राजस्थान में हिन्दी के हस्तलिखित ग्रंथों की खोज, प्राचीन साहित्य शोध संस्थान, उदयपुर।

६. राजस्थान के जैन शास्त्र भंडारों की पुस्तक सूची, दि० जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीर जी जयपुर।
७. हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों का संक्षिप्त विवरण, पहला भाग, नागरी प्रचारिणी सभा।

(ङ) पत्र-पत्रिकाएँ

१. अवंतिका, पटना।
२. आज।
३. आजकल।
४. इंडियन एंटिक्वेरी (अँगरेजी)।
५. कल्पना।
६. जनभारती (कलकत्ता)।
७. जर्नल आँव बिहार रिसर्च सोसाइटी (अँगरेजी)।
८. जैन सिद्धांत भास्कर, आरा।
९. नागरी प्रचारिणी पत्रिका।
१०. ललिता कला (अँगरेजी), ललित कला एकेडेमी।
११. विशाल भारत।
१२. सम्मेलन पत्रिका।
१३. साहित्य संदेश।
१४. हिन्दुस्तानी।
१५. हिन्दी अनुशीलन।

(च) संग्रहालय

१. बिहार-राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना।
२. पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना।
३. श्री चैतन्य पुस्तकालय, पटना सिटी।
४. मन्नूलाल पुस्तकालय, गया।
५. जैन सिद्धांत भवन, आरा।
६. जैन भवन, कलकत्ता।
७. नेशनल लाइब्रेरी, कलकत्ता।
८. एशियाटिक सोसाइटी आँव बंगाल, कलकत्ता।
९. सेठ सूरजमल जालान पुस्तकालय, कलकत्ता।
१०. बंगाल हिन्दी मंडल, कलकत्ता।
११. हनुमान पुस्तकालय, हावड़ा।
१२. आर्य भाषा पुस्तकालय, ना० प्र० सभा, वाराणसी।
१३. हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।
१४. प्रयाग संग्रहालय, प्रयाग।
१५. स्टेट आर्कीव्ज आफिस, प्रयाग।
१६. हिन्दी विद्यापीठ, आगरा।